Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai

जैनेन्द्र कुमार

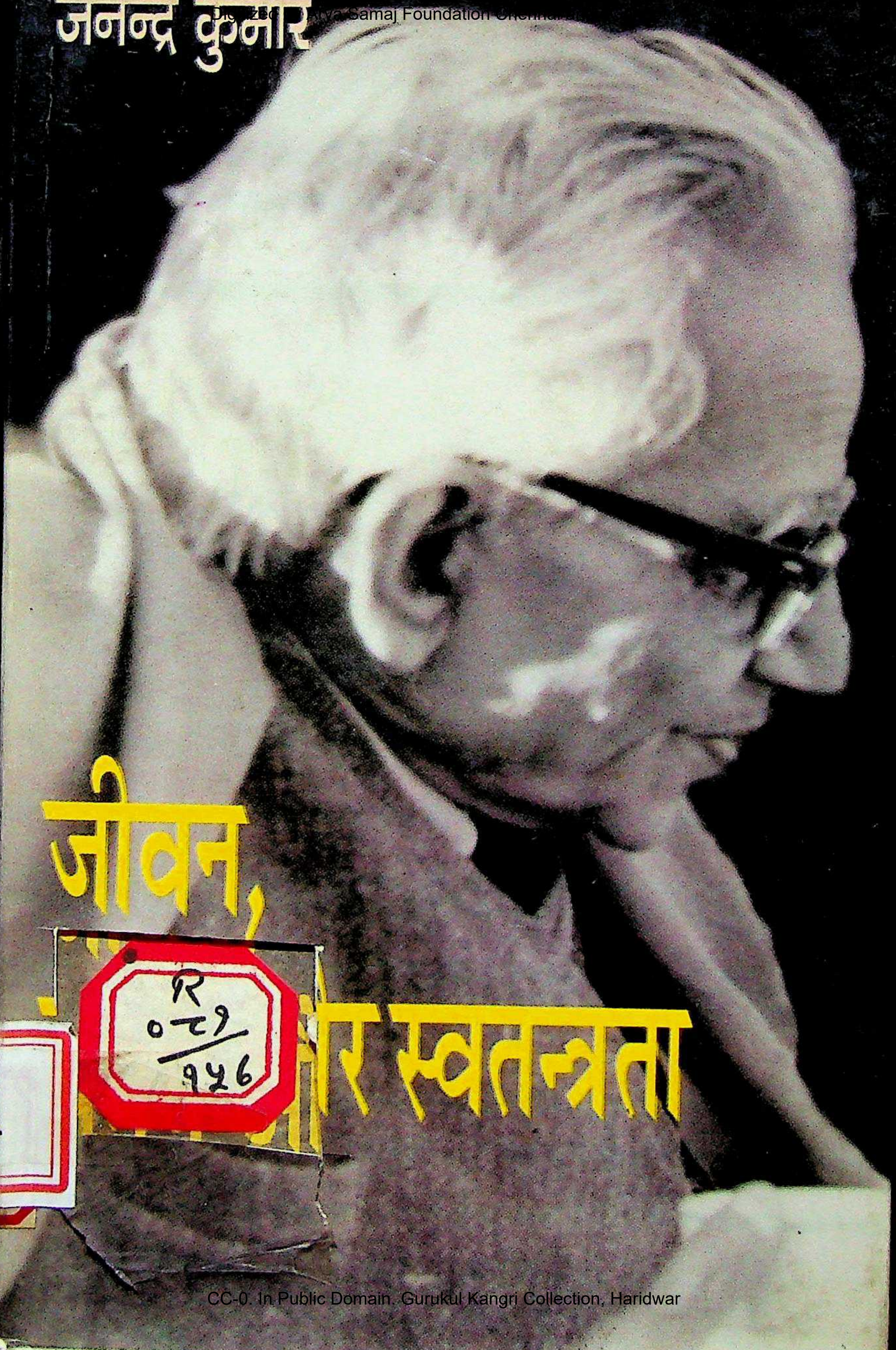

जीवन, [illegible] और स्वतन्त्रता

२
०-८१
१५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

12•519

जैनेन्द्र कुमार कृती लेखक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट चिन्तक और विचारक के रूप में भी प्रख्यात हैं। समय-समय पर उन्होंने जीवन-जगत के गंभीर प्रश्नों और चिन्ताओं पर गंभीरता से विचार किया था और उनके समाधान की दिशा में सार्थक पहल की थी। प्रस्तुत पुस्तक उनकी ऐसी अनेक चिन्ताओं को हमारे सम्मुख रखती है जो मनुष्य होने, नागरिक होने और इस पदार्थ जगत के प्रतिभागी होने के कारण हमसे सहज ही अनुस्यूत हो आती हैं। पुस्तक अनेक प्रश्नों के उत्तर खोजने के क्रम में तैयार हुई है; इसलिए यहाँ चिन्तन और मनन के साथ-साथ अन्वेषण की वह दृष्टि अनायास मिलती है जो कहीं गहरे हमें विचलित और उद्वेलित करती है। पुस्तक सैद्धांतिक तथा अकादमिक बहसों में मुब्तिला नहीं है और न ही जीवन-व्यवहार से परे; इसलिए इसमें व्यवहार-जगत की सामान्य से बड़ी बाधाओं तक पहुँचने की, उन्हें पार करने की विवेकशीलता मिलती है। पुस्तक में जीवन, उसकी सार्थकता, समय, मूल्य, साहित्य और समाज, समाज में कला, कला में अश्लीलता, राजनीति और साहित्य, राज्य का स्वरूप, भाषा और विभाजन, परिस्थितियाँ और मनुष्य का आचरण, अधिकार और राजसत्ता से प्राप्त स्वतन्त्रता, नागरिक जीवन के दायित्व तथा समाज में पुरुष और स्त्री की सहभागिता से जुड़े अनेक प्रश्नों को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझने की सार्थक चेष्टा है। पुस्तक से गुजरना समय के भीतर की हलचलों को महसूस करना है जो प्रत्येक विवेकवान पाठक चाहता है।

Acc. No. 120519
Book No.
Name
Returned on

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
0८१/१५६

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या.........   आगत संख्या 120519

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन, समय और स्वतन्त्रता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R081/157
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
120519

जीवन, समय और स्वतन्त्रता

जैनेन्द्र कुमार

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

120519

प्रश्नकर्त्ता
रामावतार

पूर्वोदय प्रकाशन
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रानिक अथवा मशीनी, किसी भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता।

R
029
126

□ मूल्य : 225.00 □ संस्करण : 2001 □ © प्रदीप कुमार □ कलापक्ष : श्रुति गुप्ता चन्द्रा □ प्रकाशक: पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002 □ अक्षर संयोजक : निधि लेज़र प्वाइंट, दिल्ली-32 □ मुद्रक : त्रिवेणी ऑफ्सैट, दिल्ली-32

JEEWAN, SAMAYA AUR SWATANTRATA
(Life, Time and Freedom—A Metaphysical Discourse)
By JAINENDRA KUMAR

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृति

चिरंजीव रामावतार की वय नई है। किशोरावस्था उसकी क्रान्ति की बातों में बीती। पर युवा होते-होते विवाह हो गया और पिता बनने के साथ उपार्जन और उत्तरदायित्व के झमेले ने उस पर अपना घेरा डाल लिया। अब भावना उड़ना चाहती है, पर पंख परिस्थिति की पकड़ में जकड़े हैं। इस द्वन्द्व-कष्ट में एक सवेरे उसने प्रश्न छेड़ा और फिर प्रश्नोत्तर का नित्य-क्रम ही बन गया। परिणाम ये तीन कृतियां हैं क्रमशः जीवन, समय और स्वतंत्रता, गांधी और हमारा समय एवं संस्कृति, आस्था और तत्वदर्शन।

आभास होने पर कि ये तो पुस्तकें बनी जा रहीं हैं, प्रश्न किंचित् सायास भी होने लगे। उत्तर में भी लगेगा कि जीवन्तता को नीचे करके विचारकता कहीं ऊपर आ गई है। यदि बोध हो कि जीवन-स्पन्दन क्षीण है, और उत्तर में तत्ववाद सा भर गया है तो वैसे स्थल को पाठक छोड़ भी सकते हैं। व्यक्ति के संदर्भ तक ही विचार अव्यर्थ रहता है, उससे च्युत होकर वह थोथा और व्यर्थ हो आता होगा। वैसे प्राणविहीन विचार को महत्त्व देने से बचना चाहिए।

जैनेन्द्र कुमार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

1. समय 13-15

समय की स्थिति 13, चेतना समय को सार्थक करती है 13, समय का मूल्य 14, मरने में जीना समाया है 14, समय चेतन से निरपेक्ष कुछ नहीं 15, युग का बंटवारा निरर्थक 15

2. दल-बदल और जनतंत्र 16-25

दल-बदल की दलदल : जनतंत्र कसौटी पर 16, राजनीतिक जमातें 17, राज्य का स्वरूप कार्मिक से नैतिक बने 17, जनतंत्रता का बाना 17, जनतंत्र और दल-बदलू 18, सैनिक और नागरिक 18, जनतंत्र और अनुशासन 19, पैसा और आदमी 19, शोषण की शुरुआत 20, जनतंत्र के बाद 21, राज पद की मानव-समाज में अंतर्व्याप्ति 21, मध्यावधि चुनाव : मात्र राजनीतिक प्रश्न 22, मुंह और मंच से खर्च की जाने वाली क्रांति थोथी 22, सत्तानिष्ठता के त्याग से ही शासन में स्थिरता 23, वाद-प्रतिवाद और मनुष्य-हित 24

3. बैंक राष्ट्रीकरण और सम्पत्ति का अधिकार 26-32

बैंक राष्ट्रीयकरण की वैधता 26, राष्ट्रीय या राजकीय 26, सम्पत्ति और सत्ता 27, अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप 27, सम्पत्ति का मोह 28, अनुशासित जन-क्रान्ति 29, बलिदानी दर्शन 29, अधिकारों की खींच-तान 30, अधिकार यानी उपयोग करने का अधिकार 30, राज-दंड के ऊपर नीति-दंड हो 32

4. साहित्य और समाज 33-67

साहित्य और समाज : युवा-आक्रोश का सन्दर्भ 33, आक्रोश की जड़ 33, साहित्य का सिद्ध : विघटन, संगठन ? या सृजन ? 34, क्रांतिकारी साहित्य और साहित्यकार की कसौटी ? 35, साहित्य की घेराबन्दी 37, श्रेष्ठ साहित्य कालजयी 38, साहित्य सृष्टि की प्रेरणा 38, अपने प्रति ईमानदारी 39,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वान्तःसुखाय और समाज-हिताय का विरोध नहीं 40, 'स्व' 'पर' का विरोध और साहित्य की दूर-दृष्टि 41, द्रव्यार्जन का आधार संकट का लक्षण 43, जीवन का अर्थ पुरुषार्थ 43, स्वर्ग-राज्य का मार्ग 44, पोलिटिकल इकोनोमी : अंकों की महत्ता 44, प्राचीन साहित्य का मूल्य और संदर्भ 45, लेखन ऋषि का काम 45, अपरिग्रह का विचार 45, गांधी में साधुता का आधुनिक संस्करण 47, लेखक, पाठक और जीविका 48, सिक्के का समाज : अर्जनोपार्जन की भाषा झूठी 48, लेखक का आदर्श और उसका जीवन 49, त्रासदीमूलक साहित्य 50, पाठक का अंतरंग 50, लेखक की अन्तर्व्यथा 50, लेखक की चरित्रहीनता 51, स्थिर-जड़ित नैतिकता : संकीर्णता में स्वरक्षा 52, आत्मीयता का भरोसा 52, लेखक : व्यक्ति चारित्र्य और लेखन 53, साहित्य के नाम पर 54, नवलेखन बस वर्तमान तक 54, सैक्स का उघड़ापन बनाम यथार्थ चित्रण 55, यथार्थ का जवाब 56, एक ध्रुव पहेली 56, साहित्य में बलात्कार 57, सैक्स के प्रति समता 58, थीम की समस्या 59, कहानी नयी-पुरानी 61, शिक्षा का उद्देश्य 62, मूल्य अर्थ-केंद्रित और गुरु किराए के 62, समूची सभ्यता के कायाकल्प का प्रश्न 62, शिक्षण का नेतृत्व जीवन साधकों द्वारा 63, जन सामान्य नेता के व्यवहार से पाठ लेगा 64, भाषण और साहित्य 64, बोले शब्द का प्रभाव 65, धर्माभिमुख शब्द 65, भाषण की कला 65, शिक्षालयों का श्रेणी-भेद 66, पाठ्य ग्रंथ नहीं, विद्यार्थी लक्ष्य हो 67

5. अश्लीलता और कला 68-81

अश्लीलता और कला 68, कला धर्माभिमुख हो 69, नग्नतावाद : अंकुश और खतरा 69, अश्लीलता का बीज नीयत में 69, समाज का आधार : रागात्मक संबंध 70, प्रश्न कानूनी रोकथाम से अधिक समूचे जीवन-संस्कार का 70, कलाकार को बाँधा नहीं जा सकता 71, कौटुम्बिक सुरुचि पर प्रहार : अश्लीलता 71, सृष्टि का मंत्र और विवाह संस्कार 72, अश्लीलता : सत्य की प्रतारणा 72, तथाकथित आधुनिकता : यथार्थ पर चढ़ा मुलम्मा 73, स्वयं काम में उसके अस्त के तत्व गर्भित 73, अश्लीलता का उद्गम स्थल, संदर्भ सदा अपेक्षित 74, सिनेमा का प्रभाव 75, फिसलन का स्वाद 75, उल्टी गंगा 76, फिल्म निर्माता और कलाकार : थैली का लोभ 77, प्रश्न मनोरंजन और मनोव्यथा के योग का 78, साहित्यिक कृति का चित्रांकन—सीमा और संस्कारिता 79, दो परस्पर प्रतिकूलताएं 80, फिल्म के मात्र मनोरंजन का साधन बनने की बाध्यता 81

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. विघटन 82-95

भाषा और विभाजन 82, स्वार्थ से उत्तीर्ण होकर ही राष्ट्रहित 82, धर्म की राजनीति 83, राष्ट्रवाद भी एक प्रकार का सम्प्रदायवाद 83, जन-मानस को सांस्कृतिक तल तक उठाना आवश्यक 84, कष्ट में भी सुख की लब्धि 84, साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुसलमान 85, दरार का कारण राजनीति 85, नये संस्करण की साम्प्रदायिकता 87, वैज्ञानिक हिंसा का दर्शन 88, बौद्धिकता में से हल नहीं 89, शरणार्थी समस्या 90, शरणार्थी भारत से हटेंगे 91, शक्ति-संतुलन का व्यूह 91, एक नया प्रकाश 92, नैतिक सत्ता 93, भारत क्या करें? 94

7. छात्र : परिस्थिति और राजनीति 96-103

छात्र और राजनीति 96, दायित्वशीलता का काम 96, परधर्म भयावह 97, आतंक का उपयोग 97, छात्र और अभिभावक 98, सत्याग्रह का हक 99, अन्याय का समर्थन नहीं 100, युवा वर्ग का आक्रोश 101, अन्त:क्षोभ का प्रक्षेपण सृजनात्मक हो 102, असंतोष व्यक्तित्व की निधि 102

8. समस्या 104-108

समस्या की समस्या 104, हम दु:खी क्यों हैं? 104, समस्या की इति संभव नहीं 105, समस्याओं से जूझना किसलिये? 106, जीवन की सार्थकता का लक्षण 106, युद्ध : भीतर के ही असत् से क्यों? 107, मनुष्य का बल 107, समस्या के लिये हिंसा का सहारा गलत 108

9. परिस्थिति 109-123

परिस्थिति—अर्थ और स्वरूप 109, व्यक्ति मन से निरपेक्ष नहीं 109, विषय और विषयी के भेद से क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र 110, विसर्जन, उत्सर्ग से परिस्थिति की जकड़ शिथिल बनती है 111, भाग्य आत्मसंस्कार का विषय 111, परिस्थिति और समझौता 112, समझौते में रक्षा अहं की नहीं, आत्म की होनी चाहिए 112, भय और आतंक 113, विकास की अहिंसक प्रक्रिया 114, सत्य-आग्रह के साथ अहिंसा का निर्वाह—दृढ़ता की कसौटी 114, व्यावसायिक जीवन-दृष्टि 115, भोग और तप के वाद 116, धर्म किसी हठ का नाम नहीं है 116, धर्माचार का असल लेखा-जोखा 117, भोग निरर्थक नहीं 118, भोग : स्व से बाहर आने की दिशा में प्रयास-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरण 118, भोग और योग 119, बलात् इन्द्रिय दमन : रोग के लिए रोगी का नाश क्यों? 119, भोगानन्द : तुच्छ 120, योग : भोग का प्रकृष्ट परिणत रूप 120, सृष्टि के मूल मंत्र में निहित आशय को पकड़ें 121, भोगवादियों का तर्क : प्रत्यक्ष-परोक्ष का झमेला 121, मानसिक भोग 121, भोग में मानसिकता का योग 122, शरीर की अपेक्षा से काम नाशवान 122

10. स्वतन्त्रता 124-158

स्वतंत्रता और आत्मव्यवस्था की परस्पर साधना 124, स्वतंत्रता और शासन का नियंत्रण 125, दूसरा विकल्प : ब्राह्मण वृत्ति 125, लोकसत्तात्मक नीति 126, स्वतंत्रता, प्रतिबंध और व्यवस्था 127, स्वतंत्रता की प्रेरणा 129, अहं से वासना और आत्म से भावना का उदय 129, अहं का त्याग, आत्म की साधना 129, अहं की स्वतंत्रता परतंत्रता की शर्त पर 130, प्रेम में परतंत्रता का तिरोभाव 131, पारिवारिक प्रेम में अहं सक्रिय 131, मन की निर्णायकता एक भ्रम 132, इच्छा-आकांक्षा में से आत्म-संस्कार 133, स्वेच्छित दमन और आनन्द में अभेद 133, इच्छा-दमन की अनिवार्यता 134, इच्छाओं की समाप्ति नहीं, उदात्तीकरण 134, देह के रहते वासना से मुक्ति नहीं 135, वासना के कारण से मानव-प्रेम आताह्य नहीं 135, वासना का उपचार प्रेम में 136, वासना स्व-केन्द्रित अत: भोग प्रधान 136, प्रेम की अर्पण में तुष्टि अत: वह योग प्रधान 137, स्व के विगलन में वासना का संस्कार 137, स्वकेन्द्रित अपने तर्क के अन्त में विक्षिप्त 138, इच्छाओं की दौड़-भाग में जीवन-क्षमता का क्षय 138, इच्छा की सार्थकता और उपलब्धि 139, वासना या कामना अहं से उत्तीर्णता देने को है 140, अहं से उत्तीर्णता अर्थात व्यक्ति की मुक्तता 141, स्वार्पण भाव में ही कामना या वासना सुफल 141, सचेष्ट नहीं, नैसर्गिक काम-निवृति 142, यौन-संबंधों की स्वतन्त्रता? 143, काम-वासना से संबंधों का विस्तार 143, काम और प्रेम रचनात्मक संभावनायें 144, पारिवारिक से आगे सामाजिक न्याय-चेतना 144, मुक्त संबंध के बाद का आधार अर्थ-विपुलता 144, पति-पत्नी परस्पर सम्पत्ति नहीं व्यक्तित्व हैं 145, काम सम्बन्ध और परिवार का प्राचीर 145, प्रेम पति-पत्नी में सीमित नहीं 146, शिशु, वैध या अवैध, समाज की थाती 147, नैतिक धारणा समाज-भय से मुक्त हो 147, परिवार की बिखरन का दायित्व अर्थ-व्यवस्था पर 148, विवाह परिवार और समाज के निमित्त आवश्यक 149, विवाह की अवधारणा संपत्तिमूलक से यज्ञमूलक बने 149, विवाह का आधार : भोगमूलक नहीं, त्यागमूलक 150, विवाह-प्रेम का द्वंद्व असम्भाव्य 150, पितृत्व की धारणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीरिक से अधिक समाज-धर्माश्रित 150, विवाह से बचाव और दायित्व से पलायन 151, समस्त जीवन-व्यापार वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण की सामग्री 152, विवाह समाज-गठन की केंद्रीय संस्था 152, प्रकृति की अधीनता से मनुष्य ऊंचे उठते जाएगा 153, विवाह क्या बुर्जुआ संस्था 154, बहु पत्नी प्रथा 156

11. घर-बाहर 159-200

दो वृत्त : घर और बाहर 159, शहरी और देहाती स्त्री 159, आर्थिक स्वतंत्रता की मांग 160, मुसीबत की जड़ 160, पश्चिम की नकल : निराशाजनक परिणति 161, ग्रामीण नारी यदि विपन्न तो कारण अर्थव्यवस्था 161, अर्थोपार्जन में सहयोग 161, अंत:पुर की सम्राज्ञी 163, शिक्षा प्राप्त स्त्रियों का उपयोग और शिक्षित वर्ग का भ्रम 163, सार्वजनिकता पुरुषों के हाथ आकर राजनीतिक 164, समाज और परिवार : स्त्री का पुरुषार्थ 166, लोक जीवन में नारी का स्थान नाभि केन्द्रीय 166, नारी किसी हाथ की कठपुतली न हो 167, सिक्का, सभ्यता और नारी का अपना विक्रय मूल्य 168, ऐसा क्यों है? 168, परिवार-संस्था की स्वार्थमूलकता कामाश्रित 169, आकांक्षात्मक और श्रद्धात्मक आदर्शवाद 170, प्रेरक बिन्दु—एक स्वप्न-यात्रा 170, श्रद्धा में महत्वाकांक्षा : हिंसा का प्रश्न-विचार 171, श्रद्धागत महत्वाकांक्षा हिंसा नहीं अहिंसामय 172, हिंसा जीवन की शर्त, पर साध्य अहिंसा 172, पराक्रम का सार 173, प्रेम की चर्या ही ब्रह्म की चर्या 174, काम ओछा और अधूरा प्रेम 175, ब्रह्मचर्य में दमन नहीं 175, काम और प्रेम में विरोध देखना मिथ्या 177, स्त्री-पुरुष के क्षेत्रों में बदाबदी नहीं 177, क्या पुरुष का मातृत्व से वंचित होना अन्याय माना जाए? 178, घर छोटा नहीं है 178, स्त्री-पुरुष पक्ष और विपक्ष नहीं 179, प्रेम में योग और काम में वियोग 180, स्त्री-पुरुष : एक दूसरे से बचने में मुक्ति नहीं 180, ब्रह्मचर्य और रोमांस 180, रोमांस की दिव्यता-भव्यता 181, शरीर-स्पर्श में भय क्यों? 181, अप्रेम और अविश्वास अब्रह्मचर्य के लक्षण 182, स्त्री-स्त्री की मैत्री 182, नर-नारी संबंध 183, एक हठीली भ्रांति 184, प्रेम का स्वभाव और उस पर पहरेदारी 184, शर्त और दावा प्रेम को उड़ा देगा 185, आयु और प्रेम का परिपाक 185, परिवार नियोजन: गणित का जोड़ बाकी 186, संयम का मार्ग 187, अर्थ-मूल्य और पूरे मनुष्य की खोज 189, संयम : सीमा और परिणाम 190, अनावश्यक प्रसाधन 191, श्रम, भूख और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग 191, बाह्य नहीं, आंतरिक संयम 192, जनसंख्या, बेकारी और मनुष्य का संस्कारी भविष्य 193, एक पेट और दो हाथ 193, मण्डी की होड़ और सिक्कों की प्रतिस्पर्धा 194, मजबूरन और इरादतन बेकार 195, फिर कैसे रोका जाएगा? 195, ठालीपन का धंधा और बेहया बेकार 195, सैनिक और देश की सुरक्षा 196, सैनिक से नागरिक प्रमुख 196, तृतीय महायुद्ध : असंभव 197, महायुद्ध की आशंका 198, वस्तु-विज्ञान और चित्-विज्ञान 199, राष्ट्र नहीं विश्व 'सावरेन' 199

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. समय

• स्थिति • सार्थकता • मूल्य • बोध

समय की स्थिति

समय क्या है? यह समय अच्छा था, वह समय खराब था, आदि बातें हम कहते-सुनते हैं। तो क्या समय अपने आप में अच्छा-बुरा होता है?

—समय हमारी सृष्टि है। सत् तो अखण्ड है, किन्तु हमारी चेतना खण्डित है। उस खण्डित चेतना द्वारा जब हम 'अस्ति' को ग्रहण करते हैं तो अस्तित्व पहले तो कालाकाश में विभाजित होता और फिर काल विगत, आगत और अनागत में त्रिविध विभक्त हो आता है। वर्तमान के साथ भूत-भविष्य की भी सृष्टि होती है। जड़ के लिये वर्तमानता से अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु चिद्बोध भूत, भविष्य की दिशाओं में भी जाने को बाध्य है। इस प्रकार सत् अमुक अवस्था की ही द्योतक संज्ञा नहीं रहता प्रत्युत उसके साथ इच्छा, साधना, कामना, पुरुषार्थ आदि का भी योग बन आता है। खण्ड में अखण्ड के प्रति उत्साह और उन्नयन का भाव हो, मानो इसी हेतु से समय के अवकाश को वह अपने सब ओर सृष्ट कर आता है। तभी लग भी सकता है कि उसको गति करनी है। यदि अतीत से वह वर्तमान में आया है तो वर्तमान से उसे भविष्य की ओर उठना और बढ़ना है। इस सब सार्थकता का भाव उसमें समय के द्वारा ही बन पाता है।

तन की गति के लिये यदि आकाश का आयाम चाहिए, तो चेतन मन के लिये आयाम समय का ही काम दे सकता है। चेतना ने अपनी सार्थकता के निमित्त अपने आस-पास इन आयामों की सृष्टि कर ली है और इन्हीं में से उसको प्रगति, प्रयत्न अथवा विकास का एहसास होता है।

चेतना समय को सार्थक करती है

समय वह है जिसमें हम होते हैं और करते हैं। हम अर्थात् वह अहं-चैत्य जो समय के बीच एक दिन उदित होता है और फिर एक दिन क्षरित हो जाता है। अर्थात् समय सम्भव बनाता है कि हम जैसे जीव उपजते और विलीन होते रहें और विकास की हमारे निमित्त से अपनी सिद्धि होती जाय। चिद् बिन्दु चित्सागर में इसी प्रकार यत्नपूर्वक अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लीन और पूर्ण कर सकता है। समय के बिना यह संभावना नष्ट हो जाती है।

अर्थात् समय चेतना के पास अपनी सार्थकता का उपाय है।

समय का मूल्य

समय में मनुष्य होता और समय में ही विलीन हो जाता है। तो, होने और विलीन होने के बीच जो अवकाश बचता है, उसी को तो उस मनुष्य का समय कहना चाहिये। उसी में उसकी सफलता और असफलता निहित है। इसके बाहर उस मनुष्य के जीवन के साथ समय का क्या मूल्य है?

—मरने वाले के लिये अगले क्षण के मूल्य का प्रश्न ही नहीं। पर सच यह है कि एक मरने वाले के साथ दो जीने वाले हो आते हैं। इन जीने वालों की अपेक्षा कोई भी क्षण निरर्थक रह नहीं जाता। समय इस अर्थ में प्रतिक्षण जीवन को सार्थक करता रहता है कि अनावश्यक को मृत्यु में भेजता और आवश्यक को उदय में लाता है। मेरा जीवन ही तो है जो अमुक तिथियों के बीच नियत और नियुक्त है; वैसे जीवन चिरन्तन है, अनादि है और अनन्त है। अर्थात् समय के साथ चेतना संयुक्त है और उन दोनों को विलग किया ही नहीं जा सकता।

मरने में जीना समाया है

इस तरह तो मरकर भी मनुष्य एक दूसरे रूप में जीवित रहता है। उसकी संतान है, संतान की संतान है, यह क्रम आगे बढ़ाइये तो कोई सीमा नहीं। हर मरने वाला अपने को कहीं जीवित कर जाता है। तो क्या समय के गर्भ में सभी पड़े हुए जीवित माने जा सकते हैं?

—इस प्रश्न का कुछ अर्थ नहीं बनता? मृत जीवित माने जाएं तो भाषा ही टूट जाती है। भाषा को अर्थवती रहना है तो मरने और जीने को अलग-अलग रहने देना होगा। मरे को जिलाने की आवश्यकता समय के लिये क्यों होनी चाहिये? समय अगर अपने में किन्हीं को मर जाने देता है तो इस प्रश्न का क्या अर्थ बनता है कि वे समय के गर्भ में अब भी जीवित हैं न? अगर जीवित हैं तो वे मरे हुए किसके गर्भ में हैं? क्या सब प्राणी समय के गर्भ में से ही नहीं आते, वहीं नहीं समाते हैं? इसलिये उस प्रकार का प्रश्न निरर्थक ठहर जाता है, जिज्ञासा अथवा ज्ञान को आगे नहीं बढ़ाता।

पर जो साफ है वह यह कि मरने वाला ही मरता है, मरण जारी रहता है। इसी तरह यह भी देखा जा सकता है कि जीने वालों में जीवन ही जी रहा है। अपने को जीता हुआ मानने वाला मर्त्य है और आगे पीछे उठ जाने वाला है।

तो यों कहिए कि समय के साथ त्रिविध प्रक्रिया संयुक्त है। कुछ सृष्ट हो रहा है, कुछ नष्ट हो रहा है और कुछ नित्य और सतत है। समय का यही त्रिविध रूप-दर्शन है जो चेतना को प्राप्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय चेतन से निरपेक्ष कुछ नहीं

चेतना में नैरन्तर्य की अनुभूति है। इसके विपक्ष में एक बोध है जिसे ज्ञान कहा जा सकता है। उसकी प्रतीति स्थिर और ध्रुव जैसी है और परिणमन वहां अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार विज्ञान का समय क्या है, उसकी चर्चा यहां नहीं है। वह मानवानुभूति से निरपेक्ष कुछ वस्तुगत तत्व है जिसको यदि हम स्थगित भी रखें तो कोई हानि नहीं है। इस प्रकार की समय सम्बन्धी धारणाएं अनेक हो सकती हैं और यथा रुचि उन्हें पाला या टाला जा सकता है। वे समय को सद्वस्तु मानकर मानों परिभाषा में कीलित कर देना चाहती हैं। यह सिद्धान्तियों अथवा विज्ञानियों का समय होगा जो उपयोगिता से बाहर स्वयं सिद्ध भी हो सकेगा। किन्तु मेरे निकट चेतना से अलग समय कुछ है नहीं और अन्ततः त्रिकालाबाधित सत्य में वह समाप्त हो रहता है। उस अखण्ड, अद्वैत, अकाल को चेतना छूती है तो काल की प्रतीति बन आती है। वह अन्त नहीं है, आदि भी नहीं है और चेतना के साथ युगपत् है। अर्थात् समय हमारे होने के साथ है। होना होते रहना और बीतते रहना है। इन परिणतियों की अनुभूति से अलग समय की कोई अपनी सत्ता नहीं है। किसी ज्ञान अथवा परिज्ञान द्वारा जब हम उसे सत्ता और परिभाषा देते हैं तो मानों चैतन्य के धर्म को अपने से उतारकर वहां पहना देने की चेष्टा करते हैं। मार्क्स ने इतिहास को कर्त्तृत्व पहना दिया। भाग्य, प्रारब्ध, विधाता आदि संज्ञाओं से भी उस प्रकार का काम लिया जाता है। कुछ जन काल और यम के हाथों सब कार्यभार ठहरा देते हैं। इन निश्चेतन और निर्वैयक्तिक सत्ताओं को बनाकर उन पर कर्त्तृत्व और दायित्व आदि को सौंप डालना स्वयं अपने से बचने जैसा ही है। चैतन्य अपने से बच नहीं सकता और समय पर इसलिये कोई आक्षेप विक्षेप भी नहीं डाल सकता। समय में यदि अस्तित्व है, गुणत्व है, तो हमसे ही वह वहां पहुँचा हो सकता है। कारण, काल की स्वयं-सिद्ध सत्ता नहीं है। मानना ही हो तो काल को निर्गुण भले मान लीजिये, पर वह होने तक का गुण उसे हमसे ही प्राप्त होता है। कारण, होने की प्रतीति हमसे बाहर कहीं है नहीं।

युग का बंटवारा निरर्थक

प्रचलित है कि तब सतयुग था, अब कलियुग है। पर युग अपने में न धौला सत् हो सकता है, न काला कलि ही हो सकता है। यह तो हमारा अपना प्रक्षेपण है जो पट बनकर काल को धौला-काला कर देता है। इस तरह जो सतयुग में अपनी अभिलाषायें डाल रखते और कलियुग का रोना रोते रहते हैं वे अपने को पुरुषार्थ से हीन रखने का साधन ही काल को बना लेते हैं। अतीत को महिमा से और भावी को स्वप्नाकांक्षा से मंडित करें तो उसमें चेतनता की कोई हानि नहीं है। पर यदि आज के वर्तमान को बिसरने के निमित्त से ऐसा होता है तो वह नितान्त भ्रान्त मिथ्यात्व है।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. दल-बदल और जनतंत्र

- राज-प्रकरण
- सैनिक और नागरिक
- शोषण की शुरुआत
- राजनीतिक जमात
- राज्य का स्वरूप
- जनतंत्र के बाद ?

दल-बदल की दलदल : जनतंत्र कसौटी पर

राजनीतिक दलों के सदस्यों में दल बदलने की जो होड़ लगी हुई है उससे जनता का विश्वास उनमें से हटता जा रहा है। क्या इसे आप जनतंत्र के लिये खतरनाक समझते हैं ?

.—वह तो है ही। जनतंत्र में अगर विधान सभाओं के लोग अपने-अपने लाभ को प्रथम रखते हैं, उसी आधार पर दल-बदल करने में शर्म नहीं खाते हैं, तो वह तंत्र आखिर स्वार्थ का ही तो बना माना जाएगा। मुझे लगता है कि जनतंत्र की पद्धति इस समय कसौटी पर है। राज-प्रकरण में उसके प्रयोग की शुरुआत बहुत पुरानी नहीं है। वह प्रयोग कहीं फलीभूत हुआ दीखता नहीं है। आस-पास कई जनतंत्र गिरे हैं और सैनिक-शासन-तंत्र ने उनका स्थान लिया है। आज की परिस्थिति में जब राष्ट्र-राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा और आत्मरक्षा का प्रश्न कांटेदार बनकर फैला हुआ है तो राजतंत्रों के लिए अपने में मजबूत और सन्नद्ध बनने की आवश्यकता सबसे महत्त्व की और पहली हो आती है। इसमें राज्य-शासन जितना अधिक केन्द्रित और एकीकृत हो उतनी सुविधा होती है। यह यांत्रिकता और व्युत्पन्नता जनतंत्र में उस मात्रा में आ नहीं सकती। इसलिये जनतंत्र की प्रविधि का भविष्य अभी तो मुझे उज्ज्वल नहीं दिखाई देता है।

पर सरकार ऊपर कर्म-एवं-दण्ड-यंत्र का ही रूप लिए रहकर मानव विकास का साथ दे नहीं पायगी। सामंती युग फिर से आ सकता नहीं है। औसत नागरिक की चेतना इतनी जग आई है कि वह मात्र प्रशासित रहने को तैयार नहीं है, शासन में स्वयं अपना भाग भी वह चाहता है। अर्थात् केन्द्रित शासन के क्रमशः विकीर्ण और विकेन्द्रित होते जाने की अपेक्षा भी मानव चित्त में उत्तरोत्तर उद्दीप्त होती जा रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीतिक जमातें

मैं समझता हूं, इस दुविधा से कोई निस्तार नहीं हैं। राष्ट्र-राज्यों की प्रतिस्पर्धा में टिकने के लिए शासन को तत्पर यंत्र की भांति केन्द्रीकृत होते जाना है तो दूसरी ओर मानवाकांक्षा का साथ निबाहने के लिए उसे विकेन्द्रित और जनतांत्रिक भी बनते जाना है। दुविधा के इन दोनों सिरों को कैसे मिलाये रखा जाय? इनका मिलना दु:साध्य ही नहीं, असम्भवप्राय है। परिणाम में हम देखते हैं कि जनतंत्र का ढांचा टूटता है और सैनिक तानाशाह उसकी जगह ले बैठता है; लेकिन कुछ समय बाद उस डिक्टेटर को फिर जनता को एक कांस्टीट्यूशन देना पड़ जाता है। उस भांति फिर राजनीतिक जमातें पैदा होती हैं और स्वार्थ की धांधली मच उठती है। अनुभव होता है कि फिर ऊपर किसी कड़े शासन के होने की आवश्यकता है, इत्यादि। यह चक्कर खतम होने वाला नहीं है।

राज्य का स्वरूप कार्मिक से नैतिक बने

उपाय मुझे तो एक ही दीखता है। वह यह कि राज्य उत्तरोत्तर कार्मिक से नैतिक स्वरूप लेता जाए। केन्द्रीकरण हो, पर वह आत्मिक और नैतिक हो। केन्द्रीकरण जब एक्जेक्यूटिव (कार्मिक) होता है तो राज्य को धन-जन सत्ता-शस्त्र आदि के सब साधन अपनी मुट्ठी में लेने हो जाते हैं। इसमें नागरिक अंक और बिन्दु के मानिन्द हो आता है। उसका प्रयोग और उपयोग होता है, सहयोग जरूरी नहीं रहता। अर्थात् इस व्यवस्था में नीचे से असन्तोष बनता और ऊपर से प्रशासन और दमन होता है। किन्तु राज्य-सत्ता यदि नैतिक हो जाती है तो उसकी शक्ति यन्त्रीकृत नहीं हो सकती और तब उसके पास प्रतिरक्षा के लिए पर्याप्त डिफेन्स मशीनरी (फौजी उपकरण) नहीं रह जाती। आज के राज के पास का अन्तिम बल और आधार सैन्य है। दूसरे प्रकार के किसी राज्य की कल्पना ही आज तो अयथार्थ जान पड़ेगी। इसलिए शस्त्र--सन्नद्धता के बल-बूते टिकने वाले वर्तमान राष्ट्र-राज्यों को, चाहे तो सोशलिज्म और चाहे वेलफेयरिज्म के नाम पर, केन्द्रीकृत और यंत्रीकृत होते जाना पड़ता है।

जनतंत्रता का बाना

सारांश, जनतंत्र का भविष्य यदि है तो अहिंसा के मूल्य की स्वीकृति के साथ ही है। हिंसक शस्त्रास्त्र के सहारे जीने वाला राष्ट्र जनतंत्रता का बाना ही अपना सकता है, सच्चे अर्थ में जनतंत्र वह बन नहीं सकता। पार्लियामेन्ट होने मात्र से जनतंत्र की सिद्धि नहीं हो जाती। पार्लियामेन्ट को शक्तिशाली दल के हाथ का औज़ार बनकर जीना होता है। सत्ता में बैठे दल के लिये अपनी सत्ता को बनाए रखना प्रमुख काम रह जाता है। यदि विरोधी दल हुए, या हुआ, तो उसके लिये भी सत्ता ही एक उपलब्धि बनी रहती है। इसमें दल-बदल जैसी बातें हों तो विस्मय नहीं है।

शस्त्र-बल के आधार पर बने और खड़े राज्य के लिए जनतंत्र का उपयोग मात्र करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सिवा दूसरा मार्ग नहीं। वह बाना और लबादा प्रत्यक्ष ही झूठा दीखने लग जाय तो उसको उतार कर फेंकना पड़ जाता है। लेकिन स्पष्ट ही केन्द्रित सत्ता का और जनतंत्रता का सिद्धान्ततः विरोध है। समन्वय केवल वहीं हो सकता है जहां शासन का संबल और पृष्ठबल (सेंक्शस) अन्ततः सैनिक से अधिक नैतिक हो।

क्या दल बदलुओं को जनतंत्र-विरोधी कहना उचित होगा ?

—विरोधी कहकर भी जनतंत्र शब्द से उन्हें जोड़ना क्यों आवश्यक है ? क्या आप उन्हें सीधे स्वार्थी नहीं कह सकते हैं ?

जनतंत्र और दल-बदलू

मैं इन्हें जनतंत्र विरोधी इसलिये कहता हूँ कि यह दल-बदल जनतंत्र के खिलाफ है। अगर दल-बदलू जनतंत्र विरोधी हैं तो वे सभी राजनीतिक दल जनतंत्र विरोधी हुए जो ऐसे खतरनाक लोगों को अपन दल में शामिल करते हैं।

—दलीय पद्धति के सहारे ही हमें जनतंत्र चलता मालूम होता है। पार्लियामेन्ट्री डिमोक्रेसी के अलावा डिमोक्रेसी के किसी रूप की कल्पना इस समय वर्तमान में नहीं है। लेकिन यह कल्पना अपर्याप्त और अधूरी है। मुझसे पूछिये तो जनतंत्र सच्चा वह होगा जहां शासक को शासन के काम के लिये एक पैसा भी वेतन नहीं मिलेगा। वह औरों की तरह पसीना बहाकर कमाये खायेगा। इंग्लैंड में बड़ा खर्च करने राजा और ताज की संस्था को कायम रखा जाता है। उससे वहां की व्यवस्था को स्थिरता मिलती आयी है और एक धारा बनी रही है। राजा है और पार्लियामेन्ट भी है, इसलिए चाहे राजतंत्र उसे कहिये या जनतंत्र कहिये। शुद्ध और वास्तव जनतंत्र कहीं आपको मिलेगा नहीं। जन का अपना तंत्र बताइये कैसे हो और चल सकेगा, जब तक करोड़ों-करोड़ लोगों के भाग में अमुक दण्ड-तंत्र के नीचे प्रशासित रहना आवश्यक ही बना रहेगा। दण्ड-तंत्र और जनतंत्र परस्पर अनमिल हैं। जो काम दण्ड-तंत्र में प्रशासन के जरिये चलता है, वह जनतंत्र में अनुशासन से चलेगा। प्रशासन ऊपर से और बाहर से आता है, अनुशासन भीतर का होगा और स्वेच्छया पालन किया जायगा।

सैनिक और नागरिक

बात फिर वही आ जाती है। सैनिक सत्ता के नीचे ही यदि नागरिक सुरक्षित बनता है तो सैनिक और नागरिक ये दो श्रेणियां बन आती हैं। अर्थात् हर नागरिक के समय पर स्वयं सैनिक बन आने की संभावना वहां नहीं रह जाती, न सैनिक पर नागरिक मर्यादाएं आयद हो पाती हैं। सच्चे जनतंत्र में यह श्रेणीभेद लगभग अनावश्यक हो जाएगा। देश का हर नागरिक उस देश की आन की रक्षा में समय पर उद्यत सैनिक बना हुआ दीखेगा। कुछ लाख वेतन भोगी सैनिकों को रखने की आवश्यकता तभी तक है जब तक शेष करोड़ों-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करोड़ की जनता की सैनिक संभावनायें सुलाए रखी जाती हैं। मैं मानता हूँ कि अपनी जगह पर मेहनत का काम करते हुए भी हर नागरिक में देश की आत्मरक्षा के लिये जान देने की तैयारी रह सकती है। इतनी तैयारी कि पैसा लेकर उसके एवज में जान देने वाले भाड़े के सैनिकों की जरूरत ही न रह जाए। पर यह उस सच्चे जनतंत्र में ही हो सकता है जिसका अधिष्ठान सैनिक के बजाय नैतिक सत्ता पर हो।

जनतंत्र और अनुशासन

लेकिन जनतंत्र के लिये जिस अनुशासन को आप आवश्यक बता रहे हैं वह तो हमारे देश में रहा नहीं। आज देश के जो गण्य-मान्य नेता हैं, वे स्वयं 'अन्तरात्मा की आवाज' कहकर अनुशासन भंग कर रहे हैं। तब इस देश में जनतंत्र तो रहा ही नहीं। फिर इस वर्तमान तंत्र को क्या कहेंगे? क्या हमारे नेता तानाशाही की ओर नहीं अग्रसर हो रहे हैं?

—चुनाव बीच में है इसलिये बताइये कि उसे जनतंत्र किस बहाने न कहा जाए? यही तो मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि चुनाव प्रणाली के बीच में ले लेने से जनतंत्र का आशय पूरा हो जाता है, इस भ्रम में कोई न रहे। न नेता के लिये यह भ्रम देना सम्भव होना चाहिए, न जनता को यह भ्रम अधिक पोसना चाहिये।

लेकिन एक बात याद रखिये। दोष किसी को देने से नहीं चलेगा। यह आदत आम है कि अपने से सरका कर दोष को दूसरे की ओर ढरका दिया जाता है। इस आदत से हम कहीं भी पहुंचते नहीं हैं और बात वहीं की वहीं रहती है। जनता साथ न दे तो नेता कर ही क्या सकता है। नेता अगर नेता बन सका है तो क्या इसलिये नहीं कि जनता ने ही उसे वैसा बनने दिया है। नेता जनता के बिना नहीं हो सकता। इसलिए जो जनता में विश्वास करते हैं उन्हें नेता की निन्दा की बिल्कुल आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। उनके काम का क्षेत्र राजक्षेत्र नहीं है, वह क्षेत्र है जहां से वोट की अनुमति मांगी जाती है, अर्थात् जहां से इसलिये नेता का निर्माण होता है। वहां इस दर्शन का साक्षात्कार हो जाना चाहिए कि भाग्य उनका वह होगा जो वे बनायेंगे। अर्थात् प्रतिनिधि जिसे चुनते हों उसे अपना भाग्य विधाता मत मान लो। डोर उसकी तुम्हारे हाथ है। ऐसा न होने दो कि तुम्हारे भाग्य की डोर उसके हाथ थम जाय। जनतंत्र वह है जहां नेता के पास जनता का भाग्य नहीं है, बल्कि जनता के हाथ में नेता के भाग्य का निर्णय है। पाँच-एक साल तक जनता के भाग्य के साथ अगर खेल खेला जा सकता है तो फिर चुनाव के नाम पर उस व्यवस्था को जनतंत्र कह देना शब्द का अपलाप ही तो माना जायगा।

पैसा और आदमी

पर बात उतनी इकहरी नहीं है। उसमें पेंच पर पेंच है। हम आजाद नहीं हैं। मुल्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजाद हो, लेकिन आदमी पैसे से बंधा है। इस पैसे से आपस के रिश्ते बनते और बिगड़ते हैं। पैसा वह है जिस पर सरकार का ठप्पा होता है। आदमी के पास प्रकृति या भगवान की ओर से मिली हुई श्रम की क्षमता तो है, पर श्रम और सिक्के का रिश्ता सीधा जो नहीं है सो बात जटिल बन जाती है। सरकार के आस-पास घूमने वाला सिक्के की इफ़रात पा जाता है, दूर-दराज का मेहनती पूरी मेहनत करके भी उसकी सूरत के लिये तरसता रह जाता है।

यह है स्थिति जिसमें हम जनतंत्र की बात चला रहे हैं। क्या जनतंत्र वह है जिसमें हर जन का भाग और योग है? वह भाग और योग कैसे होगा अगर हाथ की मेहनत से जीना मुहाल बना रहेगा और सिक्के पर बिकना उसके लिए जरूरी हो आएगा? मैं कहता हूँ कि जनतंत्र झूठा रहेगा, जब तक हाथ की मेहनत पूंजी नहीं बनेगी और कागजी-सिक्का ही अपने को धन मानता रह सकेगा। आज के जनतंत्र की विडम्बना यही है कि राजनीति का बोलबाला है और श्रमनीति की किसी को याद और चिंता नहीं है। ऐसे में साम्य के और समाज के ही नहीं भगवान के वाद को भी ले आइये, कुछ नहीं होगा, एकदम कुछ नहीं होगा। जीवन के केन्द्र में उस आदमी को लाना होगा जो बनाता और उगाता है। उस आदमी को परिधि पर रहना सीखना होगा जो पैसा देकर सिर्फ खरीदना जानता है और उसी बलबूते सब कुछ पा जाने का दम भरता है। राजनीतिक मतवादों को लेकर जन-जन का उद्धार करने चलने वाले लोगों को सोचना होगा कि वे श्रम के कितने पास हैं, अथवा मुद्रा पर कितने निर्भर हैं। जब तक कागजी मुद्रा के भरोसे अरबों-खरबों की योजनाओं में उनका भरोसा बंधा रहेगा और आदमी के मन को समझने और जीतने की तबियत न होगी, उसकी क्रियात्मक और सृजनात्मक संभावनाओं में पूरा भरोसा न होगा, तब तक जनतंत्र से या किसी भी तंत्र से कोई खरी आशा नहीं रखी जा सकती।

आप देख सकेंगे कि बात तंत्र-मंत्र के वश से ज्यादा उलझी है। दुःख यही है कि राजनीतिक शब्दावलि से उलझन को अधिक ही उलझाया जा रहा है। सीधी-सादी चीजों को शब्दों के जाल में से खुलकर बाहर साफ आने नहीं दिया जाता है।

शोषण की शुरुआत

और एक है जीवन के स्तर और मान उठते जाने का वहम! बटोरिये और इतना बटोरिये कि आप चीजों से घिर जाएं! तो ऐसे होकर आप क्या बनते हैं? सभ्यता बताती है कि आप उतने ही सफल और महान बनते हैं! लेकिन एक वह भी दर्शन है जो बता सकता है कि आप ऐसे सिर्फ भारी, बोझिल, पीड़क और परिग्रही बनते हैं। इस तरह कई दिमागी फेर पैदा कर दिये गये हैं और उनके बीच में इस जनतंत्र शब्द को जड़ा जा रहा है। राजनीतिक और आर्थिक सभ्यता की अनेकानेक व्यर्थ लपेटों से हम मानस को जब तक मुक्ति नहीं देते हैं तब तक मालूम होता है कि प्रश्न अन्त तक 'तंत्र' का ही बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
०-२।१२६
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेगा, स्वयं जन का बन ही नहीं पायगा। हम प्रबुद्ध जन कहीं जनसामान्य की भाषा से इसीलिये तो नहीं बचते हैं कि तंत्र-वाद का गौरख-धंधा फैला ही रहे और उसी में आदमी की बुद्धि उलझती सुलझती रह जाए। आवश्यक है कि उन व्यर्थताओं के पार मनुष्य को और उसके पूरे प्रश्न को देखा जाय और उसकी अपेक्षा में ही तांत्रिक और राजकीय प्रश्नों के उत्तर को खोजा जाये। हमारी जीवन दृष्टि के केन्द्र में मनुष्य नहीं रहता, कुछ स्वयं-सिद्ध निरपेक्ष वाद या विचार उस जगह को भर लेता है, तो यथेष्ट परिणाम कभी नहीं आ सकता। मुझे भय है कि राजनीतिक मानस उसी मानव-निरपेक्ष विचार के चक्रव्यूह में फंसा है और गहरे उसमें धंसता जा रहा है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय

जनतंत्र के बाद

जनतंत्र टूटने के बाद फिर क्या होगा?

—जो होगा होगा। शब्द से आसक्ति क्यों? जीवन का तर्क अमोघ है। शब्दों की बाड़ में वह नहीं घिर जायेगा। असल में राजा और प्रजा के भेद को अन्त तक कम होकर शून्य बन जाना है। अर्थात् शासन-श्रेणी-मुक्त समाज को उपलब्ध होना है। जनतंत्र यदि राह में बनेगा और टूटेगा तो इसीलिये कि वह अन्तिम उपलब्धि में साधक होता और या तो बाधक हो आता है। पद्धति में चुनाव चाहे शामिल हो, फिर भी सम्भव हो सकता है कि निर्वाचित प्रशासन अनुत्तरदायी हो। यह स्थिति जनतंत्र का उपहास बन जाती है और उसको टूटना पड़ता है।

राज पद की मानव-समाज में अंतर्व्याप्ति 130519

आप देखेंगे कि जिस लक्ष्य की ओर मानव विकास को बढ़ना है वह उतना तंत्र-परक नहीं है, काफी मात्रा में वह भावात्मक भी है। अंतिम गणितीय समता तो आपस में हो नहीं सकती, वह अप्राकृतिक और निर्जीव होगी। माता और शिशु के बीच क्या हिसाबी समता को बिठाना और वात्सल्य को उठा देना होगा? इसी तरह प्रेम, औदार्य, दाक्षिण्य आदि वृत्तियों के लिए समाज में अवकाश रहने ही वाला है। ये गुण समाज को और शोभायमान करेंगे। निरोग और रोगी के बीच अन्तर है, विषमता है, इसीलिये करुणा और सेवा को अवसर प्राप्त होता है। अर्थात् समाज में व्यवस्था-दृष्टि से राज्य नाम का कुछ तंत्र रहा भी तो वह चुभने वाला न होगा, न उसका बोझ किसी पर अनुभव होगा। शायद पहले भी कहा गया है कि वैसे राज्य का स्वरूप कार्मिक से उत्तरोत्तर नैतिक होता जायेगा। राज पद तब ऐश्वर्य और वैभव के प्रदर्शन का आभारी न होगा। न फौज-फर्रे की उसे जरूरत होगी। उसकी सत्ता-शक्ति मानव-समाज में अन्तर्व्याप्त जैसी होगी।

अभी तो यह यूटोपिया के चित्र-सा लग सकता है। संप्रति जीवन सूत्र विघटित होते दीखते हैं और यह विघटन केन्द्रित शासन को अधिकाधिक आवश्यक बनाता जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति की यह विवशता अधिक पुलिस और फौज मांगती है। फलत: राज्य में सत्ता इतनी केन्द्रित हो आती है कि मनुष्य एक और एकाकी होकर अपने को असहाय और असत्य अनुभव करने लगता है। यह स्थिति नैसर्गिक नहीं है, इसको कृत्रिम ही मानना होगा। कृत्रिम उपायों से ही उसे टिका पाना संभव है। अर्थात् उस अवस्था में मनुष्य के स्वभाव-सहज गुणों पर दबाव आता है और मानव चरित्र की हानि होती है। इसीलिए देखने में आता है कि जिस सभ्यता में औद्योगिक जटिलता का चमत्कार शीर्ष पर पहुंचा है, वहां मानव चरित्र तदनुकूल प्रशस्त नहीं हुआ है, बल्कि उसमें बेहद ह्रास और गिराव आया है। सम्पन्न समाजों की हालत देखिये—अपराध की ओर अभिमुखता वहां क्यों है। समाज के स्वास्थ्य को आखिर उसके व्यक्ति में से पहचाना जाएगा। राजैश्वर्य की जगमगाहट से हम उस समाज को स्वस्थ और सुखी मान लेंगे तो भूल करेंगे। आशय, समाज का सामर्थ्य राजा और प्रजा कहे जाने वाले दो पक्षों की एकात्मता के मान से ही नापा जाएगा। एकात्मता कहीं भी तंत्र-सिद्ध नहीं बन सकती, उसे तो प्रगटत: जीवन-सिद्ध होना होगा। मात्र चुनाव को बीच में ले लेने से यह अर्थ सिद्धि जिस जनतंत्र से नहीं होगी, उसके लिए मार्ग में टूटने के सिवा दूसरी गति नहीं रह जाएगी।

मध्यावधि चुनाव : मात्र राजनीतिक प्रश्न

वर्तमान परिस्थिति में क्या आप पश्चिमी बंगाल में मध्यावधि चुनाव कराने का सुझाव देंगे?

—नहीं, नहीं दूंगा। इसलिए नहीं कि वह संविधान के अधिक अनुकूल नहीं है, बल्कि इसलिए कि उसमें कोई जनहित नहीं है। मैं राजनीति को अपने आप में महत्त्व की वस्तु नहीं समझता हूँ। मध्यावधि चुनाव का प्रश्न केवल राजनीतिक है। उसका निर्णय भी अन्त में उसी दृष्टि से होगा। ज्योति बसु की धमकी में बल निकला तो शायद है कि केन्द्र को झुकना पड़ जाए। इस सब शक्ति-परीक्षण के खेल से बिचारे सामान्य मनुज को क्या लेना-देना है। खेल राजनीतिकों का चलता है, बीतती बेचारे आम लोगों के भाग्य पर है। मान लीजिये कि हो जाता है इन्हीं परिस्थितियों में चुनाव, तो क्या चुनाव में हो-हल्ले की ही न बन आएगी, जीतने में इस हुड़दंग का क्या कम भाग होगा। इससे आम जनता का क्या भला हो जाने वाला है। लोकप्रिय (डिमोक्रेटिक) शासन के नाम पर सरकारें बनें और टूटें, वे फिर उठें और फिर गिरें, तो क्या इस अनिश्चितता में कुछ भी रचनात्मक सफल हो सकेगा? हालत डगमगाई और डांवाडोल ही न रहेगी? और इस हालत में क्या अनुत्तरदायी तत्त्वों का ही बोलबाला न होता जायेगा?

मुंह और मंच से खर्च की जाने वाली क्रांति थोथी

मैं उस सब प्रश्न पर नैतिक दृष्टि से विचार करने को ही उद्यत हो सकता हूँ। यानि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि सबको अपनी ओर से भरपूर काम करने की स्थिरता और परिस्थिति मिले। क्रांति जो मुंह से और मंच से रचा ली जाती है, थोथी है। सही क्रांति तो हर एक के अपने हाथ में आ जाती है, अगर उन हाथों को भरपूर काम में लगाया जाता और मन में ठगी की जगह निस्वार्थता रखी जाती है। राजनीतिक दलों के द्वारा जोर-शोर से की जाने वाली मुहिम अधिकांश ऊपरी होती है और जनहित का विचार दलहित में पहुँचकर सर्वथा गायब हो जाता है। मध्यावधि या कोई चुनाव तब तक होना ही क्यों चाहिए, जब तक उस चुनाव के 'स्वच्छ और स्वतन्त्र' होने की परिस्थिति न हो? राष्ट्रपति शासन जो पश्चिम बंगाल में लागू हुआ है—क्या उससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह दलोन्माद का शमन कर देगा? अपेक्षा यह यों होनी तो चाहिए ही, पर केन्द्र में ही क्या दलीय विचार की प्रभुता देखने में नहीं आती है? दलीय के अतिरिक्त किसी राष्ट्रीय या गुणीजनों की, सरकार के रूप का निर्माण हम नहीं कर सके हैं। इसलिए उस आशा का पूरा होना कठिन है। पर कुल मिलाकर परिस्थिति में मांग है कि दलीय की जगह राष्ट्रीय भाव की केन्द्र में प्रतिष्ठा हो और मतोन्माद अथवा दलोन्माद की प्रभुता समाप्तप्राय हो जाय। सत्ता की जगह सेवा की इस राजनीति का प्रवेश हमारे सार्वजनिक जीवन में कब होता है, इसकी प्रतीक्षा है। विनोबा का सर्वसेवा-संघ गांधी जी की कल्पना के लोक-सेवक-संघ का स्थान रंचमात्र भी ले सका है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर आशा किधर से? क्या ध्वंसात्मक क्रांतिवाद से?

सत्तानिष्ठता के त्याग से ही शासन में स्थिरता

कई राज्यों में कांग्रेस की इजारेदारी खत्म हो जाने के बाद केन्द्र और राज्य के आपसी सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे हैं। केन्द्र का गैर कांग्रेसी राज्यों के साथ सौतेलेपन का यह व्यवहार कहां तक ठीक है?

—प्रश्न में गर्भित मान लिया गया है कि व्यवहार सौतेलेपन का ही है। सच यह कि केन्द्र अपने में इतना मजबूत नहीं है कि अमुक प्रदेश के राज्य के रुख की तरफ से वह अपने में सर्वथा तटस्थ और निश्चिन्त रह आए। एकच्छत्र शासन उसके वश का नहीं है, इसलिए वह आरोप उस पर नहीं आ सकता। लेकिन धीरे-धीरे परिस्थितियां बदल रही हैं। पिछले चुनाव ने कांग्रेस-शासन की परम्परा को उधेड़ कर रख दिया था। तब से कई संविद सरकारों के प्रयोग और परीक्षण हुए हैं। अब अनुभव होता जा रहा है कि पचरंगी मेल से काम बनना कुछ कठिन ही है। संविद शासन गिरे हैं, या गिरने जैसे हो रहे हैं। जिस कांग्रेस को हरा कर ये संविद प्रयोग सम्भव हो सके थे, वे ही अब अपने-अपने क्षेत्र में कांग्रेस का सहारा लेने में कुशलता देखते हैं। परिस्थितियों का यह बदलाव और विकास एक तरह शुभ का सूचक है। शायद इस तरह आगे एक ठहराव आये और राजनीति कुछ स्थिरता पकड़े। आज की स्थिति में श्रीमती इंदिरा गांधी को जो अप्रतिद्वन्द्वी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेता का स्थान शनैः शनैः मिलता जा रहा है वह इस स्थिरता के बिन्दु तक पहुँचने में सहायक हो सकता है। बहुत ही अच्छा हो कि ऐसे समय महात्मा गांधी की तत्व-दृष्टि को लेकर दोनों कांग्रेसों में संधि हो जाये और देश की गति को एक स्थिर दिशा प्राप्त हो। मुझे आशा नहीं थी कि सत्तानिष्ठ कांग्रेस दल श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में सब ओर की चुनौतियों को झेलता हुआ उनके पार आ जायेगा। पर यहां तक आने के बाद मुझे यह लगता है कि यदि उस प्रक्रिया को और सहारा मिले, सोशलिज्म की जगह किसी अधिक स्पष्ट और इष्ट दृष्टि का पृष्ठबल उपलब्ध हो, तो त्राण का एक मार्ग बन सकता है। सोशलिज्म शब्द को धार देकर कांग्रेस के बड़े पक्ष ने अपने को काटकर अलग किया है। वह तीव्रता, जैसा कि सिद्ध है, शब्द तक की ही थी। यानी कि प्रश्न व्यक्तिगत आपसी बन-बनाव के ही अंत में शेष रह जाते हैं। मुझे लगता है उनका निबटारा सम्भव होना चाहिए। यदि ऐसा हो सका तो '72 के अगले चुनाव देश को एक आवश्यक स्थिरता दे आयेगा। यदि नहीं—तो विधाता जाने।

वाद-प्रतिवाद और मनुष्य-हित

नक्सलवादियों का आन्दोलन क्या भूमि सुधार का आन्दोलन है? बहुत वर्षों से विनोबा भी भूमि सुधार का आन्दोलन चला रहे हैं। क्या विनोबा की असफलता में से ही यह आंदोलन नहीं फूटा है?

—भूमि-सुधार राजनीतिक प्रश्न के रूप में मुझे उतने महत्त्व का नहीं मालूम होता। ग्रामदान की विफलता, अथवा नक्सलवाद की दीखने वाली सफलता, उसी कारण मेरे निकट बहुत विचारणीय नहीं रह जाती है। दोनों जगह विचार के केन्द्र में स्वत्व के प्रश्न को इतना कस कर जमा दिया जाता है कि सारा प्रश्न गुणात्मक की जगह जैसे गणनात्मक बन उठता है। गणना में ग्रामदान इतना सफल हुआ, और हो रहा है, कि विस्मय हो। लेकिन गुणता के तल पर वह किसी को तनिक सांत्वना नहीं दे पाता। मैं मानता हूँ कि नक्सलवाद भी, अन्त में देखा जाएगा, राजनीतिक धूल-धक्कड़ जितना उपजाता है उतना जनहित सिद्ध नहीं कर पाता। अभीष्ट परिणाम भूमि-सुधार का यह आना चाहिए कि भूमि में अधिक श्रम पड़े और वहां से अधिक उत्पादन हो। साथ ही यह भी कि उस अधिक फल के संग्रहण और वितरण का प्रश्न जटिल न बने। ये तीनों आयाम जिससे एक साथ सिद्ध होते हों वही भूमि-सुधार सच्चा होगा। विनोबा की ग्रामदान की स्थापनायें यों सही हों, पर उस आन्दोलन के गणनात्मक बन रहने के कारण परिणाम हुआ कि संकल्प और यथार्थ के बीच व्यवधान रह गया। यानी कि कागजी कार्यवाई मानवी आवश्यकता के ऊपर आती चली गई। दान और वितरण, प्राप्ति और पुष्टि, कागजी और कानूनी, इनमें महीनों नहीं वर्षों तक का भेद पड़ने दिया गया। जमीन मिली है, पर खाली पड़ी रह गई है। यह सब सम्भव इसलिए बनता है कि तात्कालिक जनहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमसे छूट जाता है, कोई अप्रत्यक्ष मतवादी विचार मन पर छा जाता है। नक्सलवाद में हिंसा हो, विनोबा-वाद में अहिंसा हो, पर दोनों के मूल में वादिता मानवता के ऊपर हो आती है। गांधी की याद इसी जगह कसक दे उठती है। प्रश्न को मानवीय से मात्र राजनीतिक वह कभी न बनने देते थे। उनके सब सत्याग्रह-आन्दोलन किसी न किसी तात्कालिक मानवीय उद्देश्य से संयुक्त रहे, वे मात्र (क्रांति, समाज या साम्य आदि के) वादी बनकर फुलझड़ी की भांति नहीं खिरे। हम बौद्धिक प्राणी अधिकांश मतवादिता से ग्रस्त रहते हैं। चेतना हमारी जाने-अनजाने राजनीति का रंग ले रहती है। परिणाम होता है कि मनुष्य और उसका प्रश्न हमारे लिए साध्य नहीं होता, साधन भर रह जाता है। साध्य जाने-अनजाने हम स्वयं या हमारी आकांक्षाएं बन जाती हैं। यही मनोदशा है जहां से राजनीति पनपती है और मानव अवसर और आखेट बन रहता है।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3. बैंक राष्ट्रीकरण और सम्पत्ति का अधिकार

- राष्ट्रीय या राजकीय
- सम्पत्ति और सत्ता
- अधिकारों की खींचतान

बैंक राष्ट्रीयकरण की वैधता

सुप्रीम कोर्ट द्वारा बैंक राष्ट्रीयकरण अवैध घोषित हो जाने के बाद यह मांग जोर पकड़ती जा रही है कि सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के लिए कानून बनाना चाहिए। क्या आप भी इस मांग का समर्थन करेंगे?

—मान लीजिये ऐसा कानून बन गया, तो सम्पत्ति का होगा क्या? सम्पत्ति रहेगी तो वहीं की वहीं। कानून उसके अधिकार को ही कुछ इधर से उधर कर-धर सकता है। अधिकार व्यक्तिगत हाथों से छीन लिया गया तो प्रश्न उठता है कि वह अधिकार गया कहां? दिया किन हाथों में गया?

राष्ट्रीय या राजकीय

मैं मानता हूँ कि सम्पत्ति का निजी अधिकार समाप्त करके उस पर माना गया राष्ट्रीय या सार्वजनिक अधिकार मात्र लागू कर देने से प्रश्न हल नहीं हो जाएगा। साम्यवाद में वह सब अधिकार राज्य को हो जाता है। समाजवाद का भी अन्ततः कुछ-कुछ वही आशय है। कुछ-कुछ इसलिए कहना पड़ता है कि समाजवाद राष्ट्रीय शब्द से अलग अधिकार के वितरण और नियन्त्रण की राह में 'सामाजिक' शब्द बीच में डाल दिया करता है। राष्ट्रीय का जबकि सीधा अर्थ राजकीय हो जाता है, तब सामाजिक को एकदम सरकारी नहीं भी कहा जा सकता। पर वह भावात्मक स्थिति है और साम्यवाद के आशय से समाजवाद कुछ बहुत दूर नहीं ठहरता।

अधिकार को सरकारी बना देने से निजी सम्पत्ति से पैदा होने वाले दोष एकाएक दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते लगते हों, लेकिन उस पद्धति से सम्पत्ति-स्वत्व की लालसा की व्याधि समाज शरीर में और गहरे ही पैठती है। सत्ता और सम्पत्ति का मान फिर हर अर्थ में और बढ़-चढ़ जाता है। उसी का एकाधिकार हो जाने पर फिर उसके नीचे क्या दोष पनप नहीं सकते? पूंजीवाद में स्वत्वाधिकार तो भी कुछ बिखरा हुआ हो सकता है, राजकीय पूंजीवाद (स्टेट कैपीटलिज्म) तो उसका और भी घनीभूत और जड़ीभूत रूप हो जाएगा। उसके पाश और उसकी अधीनता को फिर ऊपर से टालना अशक्यप्राय हो सकता है। तब मनुष्य की आत्मस्फूर्ति और आत्मचेतना नियंत्रित व्यवस्था के शिकंजे में कसी रह जाएगी और मानव की सृजनात्मक संभावनाओं के लाभ से समाज अन्ततः वंचित बनेगा। यह प्रयोग अभी भी विश्व के एक बड़े भू-भाग में हुआ और हो रहा है। वहां अभीष्ट की सिद्धि हुई है, क्या यह कहा सकता है?

सम्पत्ति और सत्ता

असल में भौतिक सम्पत्ति और सत्ता को अपनी जीवन-दृष्टि और जीवन-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बना लेने में ही भूल है। फिर तरह-तरह के कानूनों से उसी बन्दोबस्त को चौकस और मजबूत बनाने की चेष्टा से वांछित परिणाम कैसे आ जाएगा? कारण, तब सम्पत्ति और सत्ता का महत्त्व अपने आप में ऊंचा जाएगा और जनमानस की आसक्ति उनके प्रति तीव्रतर होगी। इसमें से राग-द्वेष और तनाव-संघर्ष गुणानुगुणित होंगे। खींचतान का वह विग्रह ऊपरी शासन-दंड से कुछ बचाया भी जा सका, तो भी भीतर ही भीतर उसके कीटाणु बढ़ते और पकते ही जायेंगे।

जो आवश्यक है वह यह कि भौतिक व्यवस्था की यथावश्यकता के नीचे आध्यात्मिक मूल्यों और मनोभावों को अपनाया और पनपाया जाय। तब सत्ता और सम्पत्ति का स्वयं में अवमूल्यन होगा, आपसी प्रतिस्पर्द्धा और आपाधापी की वृत्ति अनावश्यक होकर झरेगी और परस्परता और सौहार्द की वृत्ति बढ़ेगी। तब मूल्य बाह्य पदार्थ से हटकर भीतरी चरित्र में निष्ठित होगा और दीख सकेगा कि जो समता साम्यवाद से, और सामाजिकता समाजवाद से, लानी अशक्य-प्राय थी वह अनायास भीतर से उगती आ रही है।

अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

गान्धी जी ने दो शब्द दिये : (1) अपरिग्रह (नान-पज़ेशन) (2) ट्रस्टीशिप (न्यासी भाव)। यदि अपरिग्रह हमारे समाज-दर्शन का मानमूल्य हो जाता है और ट्रस्टीशिप आचरण में आता है तो फिर अधिकार का प्रश्न उतना झमेला खड़ा नहीं करेगा। पर अपरिग्रह यदि जीवन-मूल्य स्वीकृत नहीं होता, ट्रस्टीशिप चलन में नहीं आता, तो कानून के ज़ोर से सम्पत्ति पर से निजी अधिकार उठा देने और सार्वजनिक अधिकार बना देने से मात्र एक जड़ नौकरशाही का कसा शिकंजा खड़ा हो जाएगा। इस स्थिति में मानव सम्भावनायें खिलने के बजाय और मुर्झायेंगी और मानव-विकास कुल मिलाकर घाटे में रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिये मेरा ध्यान उतना अधिकारों के और स्वत्व-सम्पत्ति के कानूनन इधर से उधर करने की ओर उतना नहीं है, जितना इस पर है कि समाज का भार-केन्द्र और मानमूल्य कितना मुद्रा से मनुष्य की ओर स्थानान्तरित होता है। अगर शक्ति का केन्द्र सिक्का ही बना रहता है तो शोषण घटने की जगह बढ़ता ही जायेगा, कानूनी या राजकीय व्यवस्था भले फिर कितनी भी सोशलिस्टिक क्यों न हो। समाज-मूल्य सिक्के से श्रम की ओर, चातुर्य से चारित्र्य की ओर जितने स्थान्तरित होंगे उतना ही शुभ है। हमारे राजनीतिक और सार्वजनिक लेखे-जोखे की इकाई मुद्रा है, मनुष्य नहीं है। हिसाब पैसे को गिनती में लेता है, आदमी को किनारे छोड़ देता है। इसलिये दीखने में आता है कि इंसान की तरफ व्यवस्था की पीठ है, पैसे की तरफ सारी निगाह है।

यह मूल्य-परिवर्तन कानून के वश का नहीं है। इसलिये हमारा ध्यान जहां से कानून बनता है उन राजसदनों पर नहीं अटका रहना चाहिये, बल्कि उसे उस लोकसत्ता पर केन्द्रित होना चाहिए जो राजसत्ता का आधार है। राजनीति कुछ मुट्ठी भर चलाते हैं। वह निर्भर है लोकनीति के सामर्थ्य पर। उसी दिशा में अब सही और समीचीन चिन्तन का ध्यान एकाग्र होना चाहिए।

सम्पत्ति का मोह

यह सही है कि सम्पत्ति का मोह सबको बांधे हुए है चाहे वह सरकार हो या पूंजीपति। सम्पत्ति के मोह में पड़कर राज्य चलाने वाले लोग अपना ही भला करते हैं। यही काम पूंजीपति भी करता है। यही कारण है कि गरीब और गरीब और धनी और धनी बनता जा रहा है। मुझे लगता है कि न तो राज चलाने वाले लोग अपरिग्रही बन सकते हैं और न तो पूंजीपति। ऐसी स्थिति में देश की आम जनता कैसे सुखी और समृद्धिशाली बन सकती है। क्या, ऐसा कोई मार्ग बतायेंगे जिससे आम जनता का भला हो और उसे विकास करने का समान अवसर मिल सके?

—जनता अपने हित को अपने हाथों में ले। पर यह सूत्र बता दिया जा सकता है, उसे चरितार्थ करना कठिन है। जनता का बड़ा भाग अपढ़ या अधपढ़ है। वह अस्तित्व के चक्कर से ही फुर्सत नहीं निकाल पाता। अब राजनीतिक नेता के अतिरिक्त जैसे जनता को पूछने वाला कोई नहीं है। गान्धी जी के जमाने के रचनात्मक कार्यों में लगे अथवा दूसरे जनसेवक यदि हैं भी तो वे जनता के सुख-दु:ख की समस्या के निबटारे में उतने कारगर नहीं हो पाते हैं। इसलिए जनता के पास राजकीय दलों के नेताओं के सहारे ही अटके रहने का एक उपाय रह जाता है। उसका राजनीतिक शिक्षण आम चुनावों के समय जो होता वही होता है। नेताओं का भरोसा उसके मन में से कितना भी हिल गया हो, फिर भी दूसरी भरोसे की जगह कहां है? गान्धी जी के बाद कौन वह आदमी है जो खतरा उठाकर उनके दु:ख-सुख की समस्याओं में पड़े और राहत पहुँचाए? जो प्रजाजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर से राज-सत्ता को चुनौती तक दे और अड़ जाए? जिसकी बात को इधर-उधर करके टालना सरकारों के लिए सम्भव न रहे, बल्कि जिसको सुनना और मानना लाज़मी हो जाए? गांधी के बाद विनोबा प्रगटे और तेलंगाना की विषम परिस्थिति में भूदान चमका तो कुछ आशा भी बंधी थी। फिर तो वह भूदान-ग्रामदान अपने आप में ही कुछ ऐसा साध्य बन गया जो लोगों को अपने रहन-सहन की और सुख-दुःख की तात्कालिक समस्याओं से हटा और उत्तीर्ण जान पड़ा। कितना भी वह मूलगामी रहा हो, जनता में आत्म-प्रत्यय नहीं जगा पाया। विनोबा इतने सन्त रहे कि नेता का विकल्प उनसे न भर सका। जयप्रकाश आदि जनसेवक भी मानो उस रिक्त की पूर्ति नहीं कर सके। कोई ललकार वहां से ऐसी न आयी जो दीन-हीनों में विश्वास जगा देती।

अनुशासित जन-क्रान्ति

इस तरह जनता में यद्यपि अमित शक्ति पड़ी है पर अपनी चिनगारी के स्पर्श से उसे जगा उठाने वाला वर्ग या व्यक्ति नहीं है। ऐसी हालत में राज नेताओं के चुनाव के खेल में गोटों की भांति उसका उपयोग हो तो क्या आश्चर्य है। धड़ाधड़ वक्तव्यों और मन्तव्यों और प्रस्तावों और शब्दों की सृष्टि जो होती रहती है सो इन सबसे जनता का मानस प्रक्षुब्ध होकर चहक तो आता है, पर किसी रचनात्मक मुहिम पर गठित नहीं हो पाता। यही मानस कुछ अतिवादियों के हाथ आखेट बनता है और उत्पात-उपद्रव के मार्ग पर सहज चल पड़ता है। इन छिट-पुट हिंसा की दुर्घटनाओं से, या नारेबाज़ियों से खुली, संयत और अनुशासित जन-क्रान्ति का मार्ग उलटे अवरुद्ध ही होता है। बंगाल और केरल में हिंसा-पंथ बल पकड़ता दीख रहा है। वहां दल हैं जो भारतीय संविधान को मानते और उसका उपयोग करते हैं, और उसी सांस उसे तोड़ने का भी दम भरते हैं। इस सबके ऊपर वह संस्था कांग्रेस जिसने स्वराज्य से पूर्व राष्ट्रीय आकांक्षाओं का, और स्वराज्य के पश्चात् राष्ट्रीय नीतियों का वहन किया था दो टूक हुई पड़ी है। देश जिन पर भरोसा बांधे बैठा था, वे आपसी कलह में ही उलझे हैं। ऐसी स्थिति में आस्था सबकी टूट गयी है और अपने-अपने स्वार्थ की ही सबको लग आई है। स्वार्थ के इन बोल-बाले में शब्दों का मूल्य टूट गया है और सब कुछ जायज बन गया है।

बलिदानी दर्शन

मुझे लगता है कि इस हालत में जब सब शब्द मानों अपना अर्थ खो बैठे हैं और उन्हें आसानी से अपने स्वार्थों के आयुध के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, आवश्यक है वह कि जिसका जीवन बोले और स्वार्थ की जगह उसके व्यक्तित्व से बलिदान की प्रेरणा प्रस्फुटित हो। बलिदान प्रसन्न और विनम्र, उद्धत और उद्दंड नहीं। उद्धत और उन्मत्त बलिदान में से सही लोक-शिक्षण नहीं प्राप्त होता, न लोकतंत्रता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुनियाद बनती है। गान्धी जिस असहयोग और सत्याग्रह के शस्त्र को धार देकर चमका गये, रचनात्मक उत्क्रान्ति के काम में उसको आज भी जगाया जा सकता है। किन्तु उसके लिये आध्यात्मिक सन्त अथवा नैतिक जनसेवक मात्र पर्याप्त नहीं हैं, दीन-दलित जन के साथ एकात्मता अनुभव करने वाले बलिदानी पुरुष की आवश्यकता है। वह पुरुष जो राज से आगे और ऊपर देखे और जो अपने उदाहरण से शहादत की भावना जगा दे, जो स्वार्थ की आज की बाढ़ के बीच बलिदानी दर्शन को प्रज्वलित कर सके। प्रेम का वह पुरुष जो सिद्ध कर दिखाए कि पाता वही है जो अपने को खोता है, अपने को गला देकर ही बीज उगता और फलता है। जो आस्था जगा आए कि स्वार्थ पुरुषार्थ नहीं है और आत्म-यज्ञ के मार्ग से ही मर्त्य अमर होता है।

अधिकारों की खींच-तान

हम अभी से यह क्यों मान लें कि सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के पश्चात् जब वह सम्पत्ति राष्ट्रीय बन जायेगी तो उसका इस्तेमाल जनहित में नहीं हो सकेगा। चूंकि जनहित में नहीं होगा इसलिये उसे बरकरार रखें? यह तो कुछ इसी तरह की बात हुई कि किसान इस डर से खेती ही न करे कि उसका फसल को पशु चर लेंगे अथवा चोर काट ले जायेंगे। हम यह क्यों मान लेते हैं कि वर्तमान सरकार ही स्थायी सरकार है और अगर दूसरी सरकार बनी भी तो उसमें भी यही खामियां होंगी। वास्तव में जैसे-जैसे हमारे अन्दर राजनीतिक चेतना जगेगी वैसे-वैसे राज व्यवस्था भी अच्छी बनती जायेगी। हम गलती करेंगे और फिर सीखेंगे, इसी नीति से एक आदर्श सरकार की स्थापना होगी। मैं सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने पर इसलिये जोर दे रहा हूं कि जब वह सम्पत्ति राष्ट्रीय हो जायेगी तो उस पर पूरे देश का हक होगा और उसके सदुपयोग और दुरुपयोग की हर एक को चिन्ता होगी।

—शंका आपकी ठीक है। पर अधिकार समाप्त आदर्श में होता है, व्यवहार में बल्कि उसको निरूपित करना होता है। यों क्या जीवन नश्वर नहीं है, मनुष्य मर्त्य नहीं है? अत: अधिकार मात्र की बात झूठ है। हां, मैं लोक-जीवन में इसी सत्य की प्रतिष्ठा चाहता हूँ कि अधिकार मात्र असत्य है। इस सच्चे सिद्धान्त की प्रतिष्ठा लोक मानस में जम जानी चाहिये। फिर ऊंपर जो भी व्यवस्था होगी वह अभीष्ट फल दे सकेगी।

अभी तो वस्तुओं को लेकर लालसा है और रगड़-झगड़ है। अधिकारों की खींचतान विषम है और कानूनों की सृष्टि करनी पड़ती है। उस प्रशासन-तंत्र का निर्माण करना पड़ता है जो उन कानूनों को पलवाये और उल्लंघन को दंडित करे।

अधिकार यानी उपयोग करने का अधिकार

अधिकार बाहर से और भीतर से सर्वथा समाप्त हो जाता है तब तो आदिम या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्णिम अवस्था आ जाती है। वहां फिर व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं रह जाता। अर्थात् व्यवस्था का मतलब ही यह है कि हम अधिकारों की रेखाओं का निर्धारण करें और सामाजिक न्याय और सामंजस्य को सुरक्षित बनाएँ। उस न्याय भावना के उत्कर्ष के साथ वर्गों और व्यक्तियों के बीच अधिकार-विभाजन और निरूपण के स्वरूप में भी अन्तर आता जाएगा। अधिकार का अर्थ अन्त में तो उपयोग का अधिकार ही है। वह अन्तिम विश्लेषण में भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक संज्ञा है। इसका अर्थ होता है कि अधिकार अन्ततः उसका होगा, जो अधिकार स्वयं एकदम नहीं चाहेगा और नहीं मानेगा, केवल कर्त्तव्य के नाते उसे स्वीकार करे और निभायेगा।

समाज जाने अनजाने उसी दिशा में उठता जा रहा है। राष्ट्रीयकरण की बात उसी दिशा की सूचक हो तो वह इष्ट और उचित है। इसका मतलब यह कि राज्य, जो राष्ट्र को मूर्त करता है, स्वयं में कोई स्थापित स्वार्थ न हो, वहां सर्वथा अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो। तब माना जायेगा कि हमने केन्द्र में चूंकि अधिकार भावना को ही शून्य कर दिया है, इसलिये अधिकार के प्रश्न की विषमता का भी वहां परिहरण हो गया है।

पर स्थिति यह नहीं है। सत्ता दलों अथवा गुटों के हाथ होती है और राष्ट्रों में, यानी राष्ट्र-राज्यों में, अपने-अपने स्वार्थों का निर्माण भी होने लगता है। इस स्थिति में राज्यीकरण का कदम सत्ता-सम्पत्ति के एकाधिकरण का रूप लेकर समस्या को और घनीभूत बना देता है।

आखिर उपयोग के नाते यथार्थ में अधिकार पर कोई व्यक्ति ही तो होगा कि जिसके विवेक पर निर्भर करना पड़े। आज यदि अपनी सूझ-बूझ और प्रयत्न-पुरुषार्थ से धनाढ्य बना व्यक्ति अमुक उद्यम-उद्योग के मुहाने पर है, तो हम उसको हटाकर वहां कानून से सरकार द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी को बिठा सकते हैं। इस प्रकार के कानून में यह गर्भित मान लिया गया होगा कि धनपति में जो लाभासक्ति थी, वह सरकारी अधिकारी में नहीं है। पर यह कहां प्रमाणित है कि प्रशासक में पद-प्रतिष्ठा की अथवा भोगोपभोग की लालसा कम होती है? न यही सिद्ध है कि उसका विवेक अधिक उन्नत होता है। यदि अधिकार के आसन पर बैठे हुए व्यक्तियों के अन्तर्विवेक में कोई अन्तर नहीं है, तो कानून से अधिकारों का कृष्ण दत्त से राम दत्त के पक्ष में हस्तांतरण करने से यथार्थ में क्या फर्क पड़ जाने वाला है?

कुल मिलाकर प्रश्न यहां पर आ टिकता है कि समाज का अन्तःकरण कितना जाग्रत है, कितना वह सशक्त है? कानून तो बने पड़े हैं और किताब में मौजूद हैं, लेकिन पालन उनका नहीं होता है। कारण, आचरण लोक-प्रथा और लोक-विवेक पर आधृत हुआ करता है।

एक धनपति शोषण और अन्याय करता है तो अधिकारी के हाथों वह दंडित हो सकता है। अधिकारी अनाचार करता है, तो उस पर ऊंचा अधिकारी है और वहां से उपचार की आशा हो सकती है। किन्तु यदि राजनीति और राजसत्ता के केन्द्र में ही निस्वार्थता से अधिक स्वत्व-लिप्सा हो तो उपचार कहां से और क्या होगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने इसी का संकेत किया है कि सारे समाज को एक नैतिक अधिष्ठान मिलने की आवश्यकता पहली और मौलिक है। उसके अभाव में किया गया कानूनी और राजनीतिक प्रयत्न ऊपरी फेर-बदल में रह जायेगा, स्थिति में कोई बुनियादी अन्तर न ला सकेगा।

राज-दंड के ऊपर नीति-दंड हो

शासनाधिपति, जो सत्ता और अधिकार का स्रोत केन्द्र है, अगर स्वयं न्यायहीन होता है तो कौन वह शक्ति है जो उस पर अंकुश ला सके। क्या उसे लोक-शक्ति ही न कहेंगे? लोक-तंत्र कह कर हम मान बैठते हैं कि पार्लियामेन्ट वह यंत्र है जो निर्वाचन से निर्मित होने के कारण सरकार पर लोकसत्ता का नियंत्रण बनाये रखता है। सिद्धान्त में वह ठीक हो, यथार्थ में उलटा है। पार्लियामेन्ट वास्तव में तो लोकबल को राजसत्ता के अधीन रखने में ही अधिक सहायक होती है। राजदंड के ऊपर नीतिदण्ड की कोई व्यवस्था आज के जनतंत्रों में नहीं है। मानव समाज में जो संकट और विघटन आज दिखाई दे रहा है उसका मूल कारण ही यह है कि शक्ति सर्वोपरि है, उसका मद संघर्ष और युद्ध उपस्थित कर आए तो उसके उपचार का कोई उपाय मानव व्यवस्था के पास आज नहीं है। 'यूनाइटेड नेशन्स' शक्तिमान राज्यों के स्वार्थ-व्यूह से परिचालित होती है, उनसे ऊपर उसका वर्चस्व नहीं है।

मेरे कहने का आशय यह नहीं था कि स्वत्व और सम्पत्ति के अधिक न्याय और समीचीन विनियोजन की दिशा में कानून को नहीं बढ़ना चाहिए। आशय यह था, और है, कि राज्य के यंत्र से पृथक और स्वतन्त्र जाग्रत मानवान्त:करण की अभिव्यक्ति का वह अधिष्ठान भी हो जहां मानव मूल्य मूर्त और प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित देखे जा सकें। ऐश्वर्यशाली राज पुरुष के समक्ष लोक-श्रद्धा से अभिषिक्त वह पुरुष प्रतिष्ठित हो जो सम्पत्ति से शून्य हो और जिसका प्रभुत्व करोड़ों-करोड़ मानव जनों की आत्मचेतना के प्रतीक-प्रतिनिधि के रूप में अनिवार्य और अमोघ हो।

मैं फिर कहता हूँ कि सत्ता में अधिकारों को केन्द्रित करने जाकर हम स्वत्व-सम्पत्ति आदि के प्रश्न को हल तो कर सकेंगे ही नहीं, बल्कि और जटिल बना डालेंगे।

क्या आँखों के सामने हम नहीं देख रहे हैं कि धनपति को क्षीण और विपन्न को सम्पन्न करने के नाम पर दल और दलपति स्वयं तो पुष्ट और पीन होते जा रहे हैं, जबकि दीन और दरिद्र असहाय बना जा रहा है। पार्लियामेन्ट के सदस्य क्या अपने लिये नहीं चाहते हैं, और क्या अपने लिये उन्होंने नहीं जुटा लिया है? कितने उनमें हैं जिन्हें ध्यान है कि देश के मनुष्य की औसत आय क्या है और वह कैसे रहता सहता है! क्या अपने को सामान्य जन के समकक्ष मानने और रखने का भाव राजन्य वर्ग के किसी जन में आज है? फिर सोचिये, यहां से बनने और चलने वाले कानून से क्या कुछ हो सकेगा?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. साहित्य और समाज

- युवा आक्रोश का सन्दर्भ
- स्वान्त : सुखाय और समाज हित
- लेखक : व्यक्ति और लेखन
- वर्तमान के अभाव
- साहित्य की कसौटी
- लेखन और जीविका
- शिक्षा का उद्देश्य

साहित्य और समाज : युवा-आक्रोश का सन्दर्भ

क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि साहित्य समाज का मार्ग प्रदर्शन करता है ? यदि हां, तो क्या वह युवा-आक्रोश का सही माने में पथ-निर्देश कर सका है ? यदि नहीं तो क्यों ?

—साहित्य पथ-निर्देश यदि करता है तो इरादे से नहीं। कहना चाहिए पथ प्रकाशित ही करता है। सूरज होने से हमें सब साफ दीखने लगता है, उसके अभाव में अंधेरा हो जाता है। साहित्य उस स्रोत का उद्घाटन है जिसे प्रकाश का मूल कहना चाहिए। अगर उससे जीवन के सत्य को स्पष्टता प्राप्त होती है और वस्तु-जगत की पहेली भी कुछ खुलती सी लगती है, तो ये परिणाम वहां से अनायास प्राप्त होते हैं, साहित्य का अपना अभिप्रेत नहीं है। वह अभिप्राय तो मात्र सत्यशोधन या आत्मावगाहन है।

युवा-आक्रोश शब्द के सन्दर्भ से लगता है कि वह अपने आप में उचित वस्तु है। आक्रोश को साहित्य उचित कैसे ठहरा दे? ज्यादे से ज्यादे यही साहित्य कर सकता है कि उसे अनुचित या निन्दनीय कहने वालों को प्रेरित करे कि वे उसके निदान में जाएं और उन कारणों को ढूंढें जिससे युवकों की प्राण-शक्ति ने रचनात्मकता को छोड़कर आवेशात्मक रूप धारण किया है।

आक्रोश की जड़

मैं मानता हूं कि प्राण-शक्ति मूलतः सृजनात्मक और रचनात्मक होती है, किंतु अवरोध से ही वही ध्वंसात्मक हो सकती है। अवरोध जो बाहर दीखता है उसका कारण अन्दर भी है। हर दूसरा आदमी हमारे लिए बाधा और विघ्न बन सकता है, अगर हम अपने को ही मानते और देखते हैं और दूसरे का समावेश न करके मात्र उसे अपना औजार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आखेट बना लेना चाहते हैं। इस प्रकार 'स्व' के लिए हर 'पर' अवरोध हो जाता है। 'स्व' को संस्कार प्राप्त हो तो स्व-परता में परस्परता का भाव उत्पन्न होता है और इसमें से दोनों को विस्तार मिलने लगता है।

युवा-आक्रोश के मूल में ही युवक ने अपने को अलग मान लिया होता है। यहां से उस प्राण चेतना को, जो बाहर आकर अपने को सार्थक करना चाहती थी, अवरोध अनुभव होने लगता है। तब उनमें संबंध परस्परता का नहीं बनकर स्व-पर का या मैं-तुम का बन जाता है। साहित्य युवा-आक्रोश के समक्ष अपने चित्रण-विश्लेषण से यही दिखला सकता है कि युवकों की यह वर्गीय अहंता मूल में सत्य नहीं है और इसी से वह उनके लिए रह-रहकर समस्या बन आती है। किंतु साहित्य की यह दृष्टि आज मद्धिम पड़ गयी है, बोलबाला राजनीति का हो आया है। कुछ वह सभ्यता जीवन पर छा गयी है, जिससे हर एक को अपने संबंध में चौकन्ना रहना पड़ता है और वह सरल चित्त से नहीं चल सकता। विज्ञान ने विश्लेषक बुद्धि पैनी कर दी है और उस बुद्धि ने यंत्रोत्पादन के माध्यम से पैसे को गुणानुगुणित कर डाला है। मानव-संबंध मुद्राश्रित हो गए हैं। साहित्य अपनी धुरी से इस दबाव में हट सा चला है। शब्द-प्रचार के जो लोक-माध्यम (मास-मीडिया) बन खड़े हुए हैं, वे तात्कालिकता का सहारा लेते और नैतिकता को अपने लिए उतना अनिवार्य नहीं देखते हैं। समाचार-पत्र, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि का अभीष्ट नैतिक से अधिक व्यावसायिक और उससे भी आगे राजनीतिक हो जाता है। थोक उत्पादन के चक्र में पड़कर किताबें भी अधिक लोकप्रिय होने के लिए लोक-रंजन पर आ उतरती हैं और लेखक अपनी सफलता कमाई की अधिकता में देखने लगता है। यह सब साधन युवा-आक्रोश को समर्थन ही नहीं देते बल्कि महिमा-गरिमा पहना आते हैं। इस दृष्टि से यहां तक कहना गलत न होगा कि युवा-आक्रोश पैदा ही साहित्य द्वारा होता है। अर्थात् प्रचलित साहित्य समस्या उठाता है, समाधान की दिशा नहीं दिखाता।

साहित्य का सिद्ध : विघटन, संगठन? या सृजन?

साहित्य में समय छटाव भी करता है। उस छलनी में छनकर अधिक तो उच्छिष्ट रह जाता और भूल जाता है, शिष्ट उस छलनी में से कुछ ही बचता है। यह कि वह काल को जीतकर अवशिष्ट बच रहने वाला ही साहित्य है, कैसे कहा जाए? जिल्द में बंधकर जो पोथी आ गयी और बिक रही है, क्यों वह भी साहित्य नहीं है? उपयोग उसमें भी शब्द के माध्यम का ही है। वही सामग्री पत्र-पत्रिका में स्थान पाती, रेडियो पर चलती और फिल्म-टेलीविजन पर रूप ग्रहण करती है। साहित्य से उसका बहिष्कार तो नहीं हो सकता। छंटाव और चुनाव काल ही करे तो करे, दूसरी व्यवस्थाएं किस प्रकार वह काम कर सकती हैं? इसलिए इस घपले में युवा-आक्रोश को मार्ग-दर्शन नहीं मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता। नक्सलवाद को मार्ग-दर्शन माओ-साहित्य से मिलता है, कम्युनिस्ट को मार्क्स-लेनिन वाले से। बीटल और हिप्पी पंथ का भी अपना साहित्य हो चला है। इस तरह आप यहां तक भी मान सकते हैं कि सारा का सारा मार्ग-दर्शन जाने-अनजाने साहित्य से आ रहा है। आखिर साहित्य ही है न जो हमारी अतृप्त कामनाओं-कल्पनाओं को धारण और मूर्त करता है। शायद अपेक्षा हो कि अंतस्थ आस्था और संवेदना के स्पर्श से वह सब कुछ स्निग्ध और अभिषिक्त होकर प्रकट होगा। किंतु यदि साधना की चिंता न करके वह अधपका और अनपचा सीधा भी कुछ शब्दों में प्रक्षिप्त हो आता है तो उसे कौन रोक सकता है? प्रभूत उत्पादन के हो-हल्ले में यह सब कुछ अनिवार्य ही है। तब जीवन का नया उत्साह लेकर जो नवयुवक मैदान में आया है, वह क्यों न सब कुछ अपने लिए पा लेना चाहे? अगर जमाना आपाधापी का हो तो युवा-शक्ति क्यों न अपने को सबसे बढ़चढ़ कर माने? ऐसे में संस्कारिता का मूल्य घटकर शून्य तक जा पहुंच सकता और मठमर्दी और गुण्डई की कीमत खूब बढ़ जा सकती है। साहित्य पैदा हो सकता है जो अपराध को महिमान्वित कर दे और सद्‌गुण को अवगुण दिखला दे। वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति ने बुद्धि को इतनी धार दे दी है कि उसने सारे मूल्यों को काट कूटकर अलग फेंक दिया है। मूल्य का स्थान सफलता ने लिया है और सच वही हो गया है जो चल सकता है। आज की हालत कुछ वैसी ही गड्डमगड्ड सी है और इसके यश-अपयश से साहित्य को बरी नहीं माना जा सकता।

साहित्य है जो युवा-आक्रोश को जगाकर ही अपने को कृतकार्य मान लेता है, आगे उसकी जिम्मेदारी रह नहीं जाती है। क्रांतिकारी कहा जाने वाला साहित्य बस वहीं तक रह जाता है। व्यवस्था को उलट-पुलट कर देने तक उसका अभीष्ट पहुंचता है। उस उलट-पुलट और विप्लव-क्रांति में से फिर नई व्यवस्था कैसे और क्या निकलेगी, इसकी जिम्मेदारी उठाना नहीं चाहता है। उसके लिए युवा-आक्रोश अपने आप में स्वयं-सिद्ध और स्वयं-समर्थित मूल्य हैं। उस साहित्य से फिर प्रश्न करने को रह क्या जाता है?

क्रांतिकारी साहित्य और साहित्यकार की कसौटी?

अभी आपने क्रांतिकारी साहित्य की चर्चा की। यह क्रांतिकारी साहित्य राजनीति प्रेरक ही तो है? मार्क्स, लेनिन, माओ आदि के साहित्य इसी प्रकार के हैं। इस साहित्य को दिशा निर्देशक साहित्य कहा जाता है। लेकिन फिर भी उनकी गणना राजनेताओं में होती है, साहित्यकारों में नहीं? तो क्या इस तरह का लेखक साहित्य के अंतर्गत नहीं आता?

—अधिकांशतः, हां, नहीं आता। लेकिन माओ ने कविताएं भी लिखी हैं। लेनिन-मार्क्स की ऐसी रचनाएं भी कई हो सकती हैं, जिसमें अभिव्यक्ति ही हो, अभिप्रेत विशेष न हो। सामान्यतया राजनेता पुरुषों की रचनाएं प्रभावकारी और प्रवर्तक हो जाती हैं। उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर संगठन खड़े होते और उनका विधिवत प्रचार और व्याख्यान होता है। समाज-स्वास्थ्य और समाज-व्यवस्था में इस प्रकार के वाङ्मय का ऊंचा स्थान और मान होता है। फिर भी मानव-जाति की निधि रूप जो चिरस्थायी रह जाए, ऐसा अंश उस वाङ्मय में परिमित ही होता है। ये लोग मानव-जाति के सुधारक और उद्धारक हुआ करते हैं। साहित्य के लिए अधिक द्रवणशील व्यक्तित्व चाहिए। द्रवणशील व्यक्ति समाज के शीर्ष पर पहुंचे इसकी कम संभावना है। अधिक उपयुक्त यही है कि वह समाज के चरणों में जीए और रहे। उसके मानस की द्रवणशीलता उसमें मानव पर आधिपत्य करने की क्षमता ही नहीं जगने देती। उद्धारक पुरुष अधिपतितत्व तक उठ सकता है। साहित्यिक पुरुष में उस प्रकार का बल विरल और अनपेक्षित है। उसका सम-सामान्य होना ही उचित है। उसमें प्रतिभा की गर्वशीलता नहीं हो सकती, गर्व की चमक द्वंद्वज है। वैसी प्रतिभा अधिकांश अहंजन्य होती है। साहित्यकार अहं से शून्य तो हो नहीं सकता, पर अहं का विश्वासी भी वह नहीं हो सकता। उसके इस अंतस्थ विश्वास और व्यवहार के यथार्थ के बीच वाले व्यवधान में से ही उसकी साहित्य-रचना होती और वहीं उसका पुरुषार्थ सार्थक होता है। पुरुषार्थ सार्थक होता है—अहं की विजय में नहीं, अहं पर की विज़य में। पुरुषार्थ की ये दो दिशाएं साफ अलग-अलग देखी जा सकती हैं। वह वाङ्गमय, जो अहं की चरितार्थता में सिद्ध और प्रसिद्ध होता है जिसकी रचना उस प्रकार के पुरुषार्थियों द्वारा होती है, वह राजनीतिक प्रेरणा उत्पन्न करता और दलों-पंथों के लिए मत-ध्वज का काम देता है। पर मत-पंथ द्वारा जितना उसका प्रचार-प्रवर्तन होता है, उतना ही वह अन्य मत-पंथ के लिए अमान्य होता जाता है। अपने युग और सम्प्रदाय में वह प्रबलता पाता है, किंतु मानव-जाति की थाती इसलिए नहीं बन पाता कि उसमें संवेदन का स्वर धीमा और प्रतिपादन का मुखर हो आया करता है।

ऐसे मत-पुष्ट वाङ्गमय से प्रेरणा सीधे कर्म की मिलती है और उसके बल पर संगठन को चुस्त-दुरुस्त रखा जा सकता है। उसको उत्तरोत्तर बलिष्ठ भी बनाते जाया जा सकता है। किंतु अंत:स्फूर्ति और अंतश्चैतन्य का जागरण, अहं का द्रवण और संवेदनशीलता का प्रसरण दूसरी ही चीज़ है। यह प्रभाव बौद्धिक और वादीय प्रभाव से भिन्न है और दलीय अथवा राजनीतिक के विपक्ष में इसको सांस्कृतिक और मानवीय कह सकते हैं। धर्म-ग्रंथ के रूप में जो रचनाएं प्रतिष्ठित हुईं, इसी प्रकार की हैं। वह उपासना की वृत्ति जगाती और शांति देती है। उनके द्वारा मनुष्य नम्र होता और माथा पृथ्वी पर टिका आता है। मनुष्य अपने गहरे में मानो अपने को अकिंचित्कर अनुभव करता है। वह पिघलता और आर्द्र होता है। उसकी परुषता गल आती है। लोकनेता अथवा राजनेता पुरुषों की रचनाएं आदमी के माथे को ऊंचा उठातीं और उसमें कर्म-प्रवृत्ति चेताती हैं। अपने निज के विवेक पर आ टिके और अपने ही अंत:करण से युक्त हो जाए, इसके बजाय इन रचनाओं से व्यक्ति उठता और समान मत वाले दल में जा मिलता है। अहंता से मुक्त होने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बजाय वह सम्मिलित अहंता में जा शामिल होता है।

अंततः संवेदनशील साहित्य द्रवणता, आर्द्रता और सहानुभूति की क्षमता देकर जब कि मानवता को पुष्ट करता है तब प्रतिपादन और उत्थापन करने वाला साहित्य सिद्धांतवादिता और मतवादिता के लिए आधार देकर गठित दलों या वर्गों की सृष्टि रच चलता है। यह व्यवस्था के अथवा राजनीति के काम में सुविधा उपस्थित करता और संघर्ष को दिशा प्रदान करने वाला होता है।

साहित्य की घेराबन्दी

साहित्य आप किसको कहते हैं? कहानी, उपन्यास, गद्य-पद्य, नाटक आदि तो साहित्यिक कृति की संज्ञा में आ जाते हैं, लेकिन इतिहास, अर्थ-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, भूगोल आदि से संबंधित कृतियां साहित्यिक कृति नहीं कहलातीं। अगर उसी इतिहास पर नाटक या उपन्यास लिख गया तो वह साहित्यिक कृति बन गई। यह क्या बात है?

—परिभाषा देने में मुझे रुचि नहीं है। साहित्य की घेराबंदी ठीक है भी नहीं। वाङ्मय में लिखित और छपित सब कुछ आ जाता है। साहित्य की भी उतनी व्याप्ति हो तो मुझे पता नहीं, न उसमें कुछ आपत्ति हो सकती है। लेकिन कुछ है जो एक को दूसरे से अलग या विपरीत रखता और करता है। साथ ही कुछ वह भी है जो एक में दूसरे के लिए संवेदन और सहानुभूति सृष्ट करता है। साहित्य में इस दूसरे तत्व की ही अभिव्यक्ति अभीष्ट है।

स्पष्ट है कि यह तत्व जानकारी के वृत्त में नहीं आ पाता। इतिहास, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र इत्यादि जानकारी बढ़ाते हैं और विद्याओं की गणना में समा जाते हैं। पर उस प्रकार की बहुतेरी जानकारी के बावजूद नहीं, बल्कि उसकी सहायता से, आदमी परस्पर सहानुभूति की जगह आपसी वैमनस्य की दिशा में भी बढ़ावा पा सकता है। इसलिए उस प्रकार के सब शास्त्रों से साहित्य कुछ भिन्न और विशिष्ट ही रहता है। इतिहास को आधार में लेकर यदि साहित्य बनता है तो तब जब उन ऐतिहासिक सूचनाओं और जानकारियों के माध्यम से मानवात्मा और मानव-चेतना के अभ्युदय में कुछ पोषण जुट पाता है। जानकारियां मस्तिष्क में ठहर जाने भर को होती हैं, उनके पार होता है वह जो मानो रक्त में समा जाता है। साहित्य का वही सार है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि गद्य-पद्य या नाटक-उपन्यास की रूपाकृति होने से ही साहित्य नहीं हो जाता होगा। साहित्य की संज्ञा मेरी दृष्टि में उसे तभी प्राप्त होगी, जब संवेदना को जाग्रत और सघन करने वाला तत्व भी उसमें समाया और पिरोया हुआ हो।

यहां मस्तिष्क और बुद्धि के विरोध में शायद हृदय और चित्त को माना गया माना जा सकता है। पर ऐसा नहीं है, केवल भाव की विमुग्धता अथवा विभोरता ही साहित्य का इष्ट नहीं हो सकतीं। अन्वेषण और विश्लेषण-परायण बुद्धि की क्षमता को सुला देने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म उसका नहीं है। मूल चैतन्य यदि जागेगा तो बुद्धि बीच में मंद-मूर्छित कैसे रह जाएगी। हां, भाव-विलास ऐसा अवश्य हो सकता है जो बुद्धि की प्रखरता को कुण्ठित करने वाला हो। आत्म-व्यसनी या रोमांचरसिक ऐसी कृतियां हो सकती हैं जो मस्तिष्क की प्रक्रिया को किंचित् जड़ीभूत करती हों। साहित्य के नाम पर ऐसा कृतित्व टिक नहीं पाएगा।

श्रेष्ठ साहित्य कालजयी

यह तो लगता है कि काफी दूर तक दिल और दिमाग, हृदय और मस्तिष्क की क्षमताएं समानान्तर काम करती हैं। किंतु श्रेष्ठ साहित्य वही हो सकता है जो इन दोनों की समानान्तरता के मध्य को भर दे और वहां की रिक्तता को स्निग्धता दे आए। आखिर तो दिल-दिमाग दोनों मूल प्राण-चैतन्य के उत्स से ही अपनी कर्म-क्षमता प्राप्त करते हैं। और साहित्य वही जो उस मूल स्रोत से स्फुरित होता और फिर अन्यान्य में उसी स्रोत को प्रमुदित और अभिषिक्त करता है। ऐसा ही साहित्य है जो काल को जीतता हुआ टिका रह जाता है। वह मृत्यु के अधीन नहीं होता, मर्त्य में से प्राप्त होकर भी वह अमृत के रूप में अमर होता है। मृत्यु एक-एक को मारती और खाती है, साहित्य में वह एक का एकत्व विलीन होकर सर्वत्व में समा चलता है, प्रत्येक का साधारणीकरण होता और अलगपन उसका खो जाता है। अलगपन को ही मृत्यु अपना ग्रास बना पाती है। इसीलिए साहित्य जिसमें एक का सर्व में निमज्जन अथवा समर्पण है मृत्यु के वश का नहीं हो पाता। आदमी का 'मैं' मिटता और मरता है, जो मरण अपने 'मैं' के लिए स्वेच्छा से प्राप्त और सिद्ध किया जाता है वह यज्ञ रूप हो कर उस चिदात्म को प्रकाशित कर जाता है जो देश काल के आयामों से उत्तीर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप है।

साहित्य सृष्टि की प्रेरणा

साहित्य सृष्टि की प्रेरणा कहां से आती है? क्या अपने में से, या कि बाह्य जगत से? जो प्रेरणा अपने में से आती है उसमें क्या लेखक अपने को ही देता है, कि अपने को देते-देते समग्र को देने लगता है?

—अपना क्या बिना दूसरे के हो सकता है? स्वत्व परत्व की तो जोड़ी है। दोनों वे अविनाभावी हैं। इस तरह अंतर और बाह्य के अस्तित्व को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के रूप में ही ग्राह्य मानना चाहिए। दोनों सर्वथा दो नहीं हैं। दोनों के बीच यदि असम्बद्धता ही होती तो परस्पर की प्रतीति तक भी संभव न हो पाती। स्व-पर भेद की वह प्रतीति तो चैतन्य व्यापार को संभव और सक्षम करने के लिए है। अन्यथा चेतना को चरितार्थता ही न मिल पाती।

अर्थात् प्रत्येक प्रेरणा और घटना में 'स्व' और 'पर' दोनों का योग है। मनःस्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और परिस्थिति के बीच निरन्तर संचरण प्रवर्तमान रहता है। क्रिया-प्रतिक्रिया एक क्षण के लिए भी उनके मध्य रुकती नहीं है। सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव, आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ आदि शब्द सापेक्ष ही हैं। चैतन्य के व्यापार को समझने के लिए ये संज्ञाएं सहारा देती हैं। जैसे कि ओर और छोर के दो सिरे न हों तो गति की कल्पना ही संभव नहीं रहती। गति को किसी बिंदु-विशेष से अथवा इधर-या-उधर के ध्रुव-विशेष में जड़ित या स्थित नहीं देखा जा सकता। इस दृष्टि से आपका प्रश्न स्वयं में किंचित् असंगत हो आता है। मन या चित्त की प्रक्रिया क्या वस्तु-जगत के अभाव में कल्पनीय हो सकती है? अथवा कि चित के अभाव में वस्तु की प्रतीति सम्भव हो सकती है? संक्षेप में अस्मित्व और अस्तित्व परस्पराश्रित बोध-संज्ञाएं हैं। जीवन के हर व्यापार में दोनों का योगोपयोग समाविष्ट है।

अपने प्रति ईमानदारी

किंतु साहित्य सृष्टि होता है, उसे अभिव्यक्ति में आना होता है। उसमें किसी को व्यंजक और सर्जक होना पड़ता है। साहित्य का स्रष्टा माना जाने वाला व्यक्ति यदि किसी प्रक्रिया से नियोजित या परिचालित है तो उसको अंत:प्रक्रिया ही कह सकते हैं। वह अन्तर्भूत यंत्र स्वयं किस तरह काम करता है, यह प्रश्न पीछे और परोक्ष का रह जाता है। प्रथमत: यही मानना होगा कि लेखक अपने आत्म के प्रति दायी है। आत्म वस्तुनिरपेक्ष नहीं है, यह मानकर भी वस्तु जगत के किसी तर्क को सीधे उस पर आरोपित नहीं किया जा सकता। आत्मिक और सामाजिक इन दो के परस्पर द्वि-भाव के लिए साहित्य-सृष्टि में कहीं अवकाश नहीं है। इसलिए सामाजिक की कोई अतिरिक्त चेतना उस दृष्टि की सत्यता अथवा भव्यता में सहायक नहीं हो सकती। लोकहित, जनकल्याण, युगीन यथार्थ, या सोशलिस्ट रियलिज्म जैसे निर्मित आदर्श साहित्य-सृष्टि और साहित्य-स्रष्टा के बीच कहीं स्थान नहीं पाते। उन दोनों में इतना अभिन्नता का संबंध है कि किसी अतिरिक्तता को बीच में आने का अधिकार या अवकाश नहीं बचता।

अपने गोचर जीवन-जगत में क्या दीखता है? जीव-सृष्टि माता के द्वारा होती है। किंतु मातृत्व क्या पितृत्व से निरपेक्ष होकर संभव है? पर सृष्टि में पितृत्व इतना अदृश्य है कि संगत तक नहीं दीखता, यद्यपि गर्भित तो वह होता ही है। साहित्य-सृष्टि में बाह्य जगत का योग उसी प्रकार का माना जा सकता है। वह काल-जगत यदि सृष्टि में प्रति-बिंबित है तो उतनी ही मात्रा और विधा में कि जितनी माता की प्रकृति में समाहित हो आता है। स्वतंत्र उस वस्तु-जगत की स्वीकारता साहित्य सृष्टि में लाख जतन करने पर भी संभव नहीं होगी। सृष्टि प्रक्रिया की यह विवशता है!

इसलिए साहित्यकार से सबसे पहली मांग यह होगी कि वह अपने प्रति सच्चा और ईमानदार हो। अपने प्रति की ईमानदारी के द्वारा ही वह देश-काल-स्थिति के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईमानदारी अर्जित कर सकता है। दूसरी और कोई पद्धति संभव नहीं है। अनेकानेक प्रतिस्थापित मतवादी आदर्श-सूत्र या सिद्धांत-वाक्य साहित्यकार की अंतश्चेतना से निरपेक्ष होकर साहित्य सृष्टि के काम में सर्वथा अनुपयुक्त और असंगत रह जाते हैं।

स्वान्तःसुखाय और समाज-हिताय का विरोध नहीं

साहित्यकार साहित्य-सृष्टि अपने लिए तो करता नहीं, दूसरों के लिए करता है। तो क्या साहित्य-सृजन में वह उनका ध्यान रखता है? यदि नहीं रखता तो क्या रखना चाहिए? अगर नहीं तो क्या साहित्य सृजन स्वान्तःसुखाय होना चाहिए।

—अभी जो इतना कहा उसका आशय था कि 'स्वयं' और 'अन्य' ये दो सिरे हैं जिनके बीच ही समस्त चैतन्य व्यापार संभव हो पाता है। अन्यथा परस्परता या संबद्धता की अनुभूति ही नहीं हो सकती। इस तरह परहित और अन्तःसुख इन दोनों में द्वैत या विरोध देखने की आवश्यकता नहीं है। पर के कष्ट में स्वयं को भीतर कुछ छू आता है तो क्यों? इसी भांति अपने सुख से ही दूसरे को सुख दिया जा सकता है। इसलिए साहित्य-सृष्टि के संबंध में स्व और पर के दो तटों को दो बने रहने की सुविधा नहीं रह जाती। असल में जहां दूसरे की या समाज की मंगल-कामना सचेत भाव से मस्तिष्क में बटोर कर रखी जाती है वहां आत्माभिव्यक्ति सहज नहीं रहती।

फल परिपक्व होने पर यदि शाखा से चू पड़ता है तो क्या इस विचार के साथ कि वह अब अमुक की भूख के काम आ सकेगा? इसी तरह यदि साहित्य की कृति किसी की रुचि और रस के निमित्त आस्वाद्य होती है तो यह बिल्कुल संगत नहीं है कि उसका कोई अतिरिक्त विचार उस अभिव्यक्ति में हेतु बनकर रहा हो। इसीलिए देखते हैं कि रामचरितमानस तुलसी की ओर से स्वान्तःसुखाय रचा गया हो पर शताब्दियों से उसका लाभ, और वाणिज्य-व्यापार, लोकहिताय होता आ रहा है। साहित्य-सृष्टि में स्रष्टा की ओर से जो स्त्रोतस्विनी फूटती है सो भीतर की भरपूरता या वेग के कारण। फिर वही धारा यदि नदी बनकर प्रदेश-प्रान्तर को सींचती और धरती को हरियाली से लहलहाती हुई अन्त में सागर में जा मिलती है, तो इस सब अभिक्रम या उपयोगिता की चिन्ता जलस्रोत में रही हो इसकी क्या आवश्यकता है। अभिव्यक्ति की उमंग है, भीतर स्फूर्ति और स्पन्दन है, स्नेह और प्रीति का आवेग है, तो उसमें स्वतः ही दिशा गर्भित हो आती है। स्व से निःसृत होकर उसका संचरण है ही अन्यान्य के प्रति, दूसरा कुछ संभव नहीं है। किन्तु इस संभवता में अन्यान्य का ध्यान तनिक आवश्यक नहीं है। आवश्यक इसी कारण नहीं कि अन्यान्य की सत्ता, स्वयं से मूल में विलग नहीं होती। अन्तर्व्याप्त कुछ तत्व है जहां ऐक्य है और 'स्व' 'पर' का द्वैत जहां सहज समाहित है। साहित्य की सृष्टि जाने-अनजाने उस ऐक्य के तल का न्यूनाधिक स्पर्श पाकर हो पाती होगी। अर्थात् वह साहित्य-सृष्टि जो कि काल को जीतती जीती रह जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-स्रष्टा की चेतना में उस सृष्टि के समय स्वत्व और अन्यत्व का जैसा कोई बोध ही नहीं रह जाता है। उन क्षणों में मानो उसे लीनता और लयता में आत्मविस्मरण की उपलब्धि हो आती है। उस आत्मविस्मरण को आप चाहें तो आत्मस्मरण और आत्म-स्तरण की भाषा में कह और समझ सकते हैं। इस तरह स्वान्तःसुख और समाज-हित इन दो तटों को परस्पर विछिन्न देखने का साहित्य के सन्दर्भ में कोई अवकाश नहीं रह जाना चाहिए।

'स्व' 'पर' का विरोध और साहित्य की दूर-दृष्टि

जब हमारा दुश्मन विपत्ति में होता है तो हम हर्षित होते हैं और उसके विपरीत अगर वह सुख में रहता और उन्नति की ओर बढ़ता है तो हमें दुख और जलन होती है, ऐसा क्यों? क्या यह स्वान्तःसुख और 'पर' सुख का विरोध ही नहीं है? इसी तरह 'स्व' और 'पर' में कुछ ऐक्य होते हुए भी भारी विरोध है। और आप 'स्व' 'पर' के द्वैत को एक करके देखते हैं, सो क्यों?

—बात यदि साहित्य की हो तो उसकी उत्पत्ति 'स्व' और 'पर' के अद्वैत की आस्था अथवा अभ्यास से होती है। इसी से साहित्य विरल है। जो सरल और बहुल मालूम होता है वह आपस के मेरे-तेरे का कलह-विग्रह है। बोलबाला सब काल और सब देश में उस राज्य प्रकरण का रहा करता है जो स्व-पर-द्वन्द से बनता है। सामान्यतया स्व और पर विपरीत और विरोधी सत्ताओं की प्रतीति देते हैं और उनके बीच वही संबंध देखा जाता है जिसकी ओर आप का प्रश्न संकेत करता है। मैं जीतता हूं तो मुझे खुशी होती है उसी मात्रा में कि जितना दूसरा हारता या मुझको लेकर स्वयं हीन अनुभव करता है! तथ्य के रूप में इसका इन्कार साहित्य भी नहीं करता। महान साहित्य अक्सर युद्ध की गाथा को लेकर निर्माण पा सका है। भारत के ध्रुव धर्मग्रन्थ रामायण और महाभारत युद्ध को केन्द्र में लेकर रचे गए हैं। राम-रावण, पाण्डव-कौरव लड़े और रावण का और कौरवों का वध हुआ। यह सब युद्ध घटना के रूप में उस पुराण साहित्य में वर्णित और चित्रित है। लेकिन जिस मर्म-तत्व के कारण वे उन युद्धों का इतिहास मात्र न रह कर धर्मशास्त्र और अमर साहित्य का स्थान पा सके हैं, वह गूढ़ आध्यात्मिक है। मैं कहना चाहूंगा कि गूढ़ होकर भी वह तत्व वध और हत्या के प्रकरण और विवरण में खो नहीं जाता है। प्रत्युत वही है जो उन आप्त ग्रन्थों में से नवनीत के समान मथित होकर धर्मनीति का स्वरूप पाता और उन पर तिर आता है, उसे गहन प्रेम तत्व कहें। राम द्वारा यद्यपि रावण का हनन हुआ फिर भी राम में रावण के प्रति अद्वेष ही न था, बल्कि उससे आगे अनुराग और प्रेम तक था। इतना ही नहीं वरन् अपने बहुत भीतर स्वयं रावण को इसकी प्रतीति थी और राम के हाथों मर कर रावण ने एक प्रकार की कृतार्थता अनुभव की। यही प्रेयाधिष्ठान और साहित्य द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका आविष्करण है जिससे हन्ता, विजेता और सेनानायक होकर भी राम अवतारी पुरुष बन आते हैं और भारत की तमाम संस्कृति सहस्र-सहस्र वर्षों से उनके सहारे आज तक स्पन्दित और जीवित चली आ सकी है। जीवन के और जगत के तमाम द्वन्द्वात्मक व्यापार के भीतर से इस प्रीति-भाव और अद्वैत-भाव का जागरण भारतीय साहित्य का अभीष्ट रहा है। मैं कहने का साहस कर सकता हूं कि इतर देशों के तमाम वरेण्य साहित्य का भी यही अभीष्ट रहा है। राम से घटकर नहीं बल्कि किंचित् बढ़कर महाभारत के कृष्ण की गाथा में भी हम क्या पाते हैं? कौरव भी कृष्ण के अपने हैं और उन श्रीकृष्ण की सेना कौरवों के पक्ष की ओर से लड़ती है। पर इधर कौरव पक्ष के सेनानी भी एक-एक कर कृष्ण की नीति द्वारा समाप्त होते और मृत्यु पाते हैं। किन्तु कृष्ण के चित्त में मलिनता नहीं है, न हाथ में शस्त्र है। न्याय पक्ष के मात्र वह सारथी हैं। अर्जुन युद्ध-धर्म से विरत होता है, जगत द्वन्द्व की रोमहर्षता से घबड़ाकर पराङ्मुख होना चाहता है, तब श्रीकृष्ण बताते हैं उसे कि इस कुरुक्षेत्र और युद्धक्षेत्र से अलग कहीं दूसरा धर्मक्षेत्र नहीं है। यहां के द्वन्द्व में से निबटते हुए ही निर्द्वन्द्वता प्राप्त करनी है। निर्बैरता का भी अध्यास इससे बाहर कहीं दूसरी जगह होना संभव नहीं है। इससे पलायन नहीं पराक्रम की ओर बढ़ो। ऊपर की लहरों से बचकर अतलांत अगाध को पाना न होगा। यदि उस अगम और अपार में चित्त है तो उसकी निष्ठा में अडिग रहो और प्राप्त कर्म को निबाहते जाओ। जीवन-समर में से निष्कलुष, निर्वेद योद्धा के समान जूझते हुए बढ़ोगे तो ही अमरता पाओगे। महाभारत के इस ऐतिहासिक युद्ध को आध्यात्मिक रूप दिया महर्षि व्यास आदि किन-किन ऋषियों ने कि परिणाम-रूप श्रीकृष्ण साक्षात् परमावतार बने भारतीय चित्त में अवस्थित हैं। प्रगट में और वर्णन में युद्ध है, पर साहित्य की क्षमता है, उसी की यह आविष्कृति है, कि युद्ध परायणता के मार्ग का मन्तव्य-लक्ष्य परम शांति और परम ऐक्य में प्रतिष्ठित हो आता है। मानव इतिहास सब युद्धों को अपने में समाहित करता जाता है, जैसे कि बूंद-बूंद उड़कर और फिर बूंद-बूंद बरस कर सब पानी सागर में ही समाता जाता है। अवशिष्ट कुछ उन घटाटोपों का नहीं बचता है, साहित्य उन द्वन्द्वज घटनाओं को मथकर, ऊपर मानो अमृत को ले आता और इतिहास को सार्थक कर देता है। युद्ध में हिंसा भी है और साहित्यिक से इतर दृष्टि उसी को यथार्थ मानकर वहीं अटक सकती है। राज-प्रकरण में उस नाश-विनाश की संकल्प-लीला सतत दीखती ही है। अपने युग और समय में वही राजकारण प्रमुखता और प्रभुता पाये रहता है। पर वह सब काल का ग्रास बनता और इतिहास के हाथों सामग्री भर रह जाता है। साहित्य उस सामग्री के हविष्य में से पुनः यही संदेश ध्वनित करता है कि द्वन्दों के मूल में जो सत्य है वह द्वंद्व से अतीत है, वह अद्वैत है, अद्वितीय है। उस निर्द्वन्द्व की आस्था में एकाग्र और एकनिष्ठ रह कर उन द्वन्द्वों को लेते, जूझते, निपटाते चले चलो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रव्यार्जन का आधार संकट का लक्षण

आप आवश्यकता से अधिक अर्जनोपार्जन को झूठा कहते हैं। पर व्यवहार में वह उतना ही सत्य है जितना दो और दो चार। आज के युग में द्रव्यार्जन सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक चीज है। वह एक ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति पर सभी आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं। फिर भला वह झूठा कैसे हो सकता है? आज तो जब कि मानव-संबंध भी द्रव्य के माध्यम से जोड़े और तोड़े जाते हैं, मनुष्य का मान-सम्मान भी द्रव्याधारित होता जा रहा है, इसकी महिमा और अधिक बढ़ गयी है।

—दुनिया को जो माया और प्रपंच कहते हैं, उनका आशय यह नहीं होता कि जो है वह है ही नहीं। आशय मात्र इतना ही होता है कि सत्य को वहां पा लेना दुरूह है और अधिकांश वह वहां घिरा है भी नहीं। वह है वहां तो गूढ़ है, ऊपर स्वर्ण से ढका हुआ है।

बिल्कुल सही कहते हैं आप कि अगर भूख है और जेब में पैसा नहीं है, तो अधिक संभव है कि वह भूख ही आपको खाए और आप कुछ न कर सकें। पैसा खाया नहीं जाता। लेकिन खाने-पीने का उपाय पैसे से अन्यत्र दूसरा नहीं दीखता। इसलिए इस क्रय-विक्रय की दुनिया में वह पैसा ही आधारों का आधार बन गया है। इस स्थिति को आज के संकट का लक्षण कहा जाए तो यह उससे भी बड़ा सच गिना जाएगा। पहला यदि तथ्य है तो सत्य दूसरे को ही कह सकते हैं।

जीवन का अर्थ पुरुषार्थ

पैसे के चलन की यदि हम यथास्थिति ही रहने देते हैं तो संकट का बोध दूर नहीं होता। अर्थाश्रित संबंधों में परिवर्तन आना आवश्यक मालूम होता है। किस दिशा में यह परिवर्तन लाया जाएगा? स्पष्ट है कि उस अभीष्ट परिवर्तन की दिशा एक ही हो सकती है, यह कि श्रम का अपना मूल्य बने और बढ़े और वह मुद्रा के हाथ बिकने भर के लिए न रह जाए। अर्थ संस्थान के विश्लेषण में जाएंगे तो अर्थपति के साथ एक सत्तापति भी नज़र आएगा। प्रश्न के समीकरण में वह कम महत्त्व का अंग नहीं है। उसका बल लाठी का या सैन्य का बल ही है। राजकीय स्थिति का विभु लगभग यह वर्ग ही है, जिसको यदि मालिक कह लें तो दूसरे और तीसरे वर्ग को हम वणिक और श्रमिक कह सकते हैं। समाज के अर्थ संबंधों में हम यदि इस विषमता की प्रतिष्ठा को मान रहें, तो पुरुषार्थ की संभावना समाप्त हो जाती है और जीवन का अर्थ लुप्त हो जाता है। इसलिए आज के यथार्थ के समक्ष आदमी चुप होकर नहीं बैठ पाता। उसमें आदर्श का स्वप्न अवतरित होता है, उस स्वप्न को लेकर वह आज के यथार्थ को मात्र झेलता नहीं है, बल्कि साथ ही साथ उससे जूझता जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर्ग-राज्य का मार्ग

पैसे के आधार पर निभती और चलती हुई व्यवस्था और तज्जन्य त्रास को यद्यपि हम सभी झेल रहे हैं, पर सार्थक वे बनते हैं जो उससे लड़ते और जूझते भी हैं। भारतवर्ष के ही नहीं, और देशों के महापुरुषों ने भी अपने जीवन के चरित से प्रत्यक्ष किया कि सच्चा जीवन पैसे की अधीनता में नहीं आता। यहां के संतों, ऋषियों की आखण्ड परम्परा को तो क्या कहिए, पर क्या उन्नत माने जाने वाले पाश्चात्य देश के मसीह प्रभु ईसा ने धनिक पुत्र को नहीं कहा था कि वह लौट जाए, पहले अपना सब धन लुटा आए और फिर स्वर्ग-राज्य के मार्ग की बात सोचे!

दुनिया में मैं-तुम और मेरा-तुम्हारा है। मैं अधिक इसी शर्त पर पा सकता हूं कि तुम्हारे लिए थोड़ा छोड़ूं। तो इस तरह के खींच-तान वाला जगत सचमुच पैसे के हिसाब के भरोसे ही चल और निभ सकता है, दूसरी कोई पद्धति उस स्वार्थ के जंगल में कैसे यत्किंचित भी व्यवस्था और सामाजिकता रख पाएगी? पैसे के हिसाब-किताब के बल पर हम क्रमशः अपनी सभ्यता और संस्कृति को आगे ठेलते जा रहे हैं। लेकिन इस सामाजिकता और सभ्यता को उत्कर्ष उनके द्वारा प्राप्त होता रहा और आगे भी उन्हीं के द्वारा प्राप्त होता रहेगा, जो पैसे की उपयोगिता और आवश्यकता पहचानते हुए भी वहां रुक नहीं जाते, बल्कि उसके असंग्रह और अपरिग्रह में सभ्यता की सच्ची सार्थकता देख पाते हैं। फिर वे उस दर्शन को अपने जीवन और चलन में उतारते और स्वयं मुक्तात्म मुक्तचेता बनने के साथ मानो शेष सब में भी स्वाधीनता का भाव जगा आते हैं।

पोलिटिकल इकोनोमी : अंकों की महत्ता

मैं मानता हूं कि बाजार को संस्कार उस व्यक्ति या दर्शन द्वारा नहीं प्राप्त होगा जो स्वयं बाजार में लुब्ध है। बल्कि प्राप्त होगा तो उस नीति-निष्ठ नीति-द्रष्टा में से जो उस प्रकार के सतृष्ण लोभ से उत्तीर्ण है। एक शब्द है पोलिटिकल एकोनोमी, वर्तमान व्यवस्था उसी शब्द की धुरी पर चलाई जा रही है। लेकिन पोलिटिकल को ह्यूमन एकोनोमी के स्तर तक उठते जाना है। यह एकोनोमी ह्यूमन बनकर अंकों के पीछे मतवाली नहीं होगी बल्कि एक-एक मनुष्य को वह ध्यान में लेगी और उसे मशीन का भोज्य नहीं बनने देगी। आंकिक, तांत्रिक और यांत्रिक सभ्यता का रूप हार्दिक होगा और प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा सहकार की भावना में परिणत हो सकेगी। तब बाजार का आजकल वाला घिनौना रूप नहीं रह जाएगा और परस्पर की आदान-प्रदान, क्रय-विक्रय की हत्याकारी अमानुषिकता से काफी मात्रा तक मुक्त हो जाएगा।

इसलिए यद्यपि पैसा और उसका उपयोग व्यवहार का रूप थामता है, पर आगे आस्था-मूल्य का महत्त्व उसे नहीं मिलने देना होगा। मूल्य का स्थान तो प्रेम का ही रहेगा, जिसमें से त्याग और उत्सर्ग आता है, स्वेच्छित श्रम स्फूर्त होता और वहां से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना-निर्माण का अभिक्रम उत्पन्न करता है।

प्राचीन साहित्य का मूल्य और संदर्भ

आज के लेखन में व्यावसायिकता साफ झलकती है, जो लेखक ही मजबूरी है। किंतु प्राचीन काल में साहित्यकार को साहित्य से जीविका कमाने का मोह नहीं था, इसलिए बाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, तुलसी और सूर आदि साहित्यकारों ने समाज को वह दिया, जो आज भी लोगों को प्रेरित करता रहता है। क्या आज के संदर्भ में ऐसा नहीं संभव है?

—संभव कम ही दीखता है। जिस प्राचीन काल का आप उल्लेख करते हैं, तब आबादी कितनी रही होगी। साधन ज्यादे थे, आदमी कम था और आवश्यकताएं सीमित थीं। आर्थिक तनाव उतने न थे और लोगों में जीविका के निमित्त छीन-झपट आवश्यक न थी। अब समाज जटिल हो रहा है और वन्यता पहले के समान व्यक्ति को सहज उपलब्ध नहीं हो सकती। कंद-मूल-फल पर ऋषि जन तब रह पाते होंगे। एक बार कंद-मूल-फल पर रहने की तैयारी मेरे मन की भी हुई थी। लेकिन कश्मीर के निर्जन लगने वाले वन में अखरोट के पेड़ पर हाथ डाला तो मालूम हुआ कि यह चोरी हो रही है। नहीं, आज उस प्रकार की जीविका संभव नहीं है, वह अपराध की गिनती में आ जाती है।

लेखन ऋषि का काम

किंतु उसका विकल्प व्यावसायिक लेखन का ही हो, यह मैं अनिवार्य नहीं देखता हूं। हमको ध्यान रखना चाहिए कि लेखक कोई अशरीरी प्राणी नहीं है। उसको वही अन्न लगता है जो किसी अन्य को। इसलिए लेखक पर ऋषिपन का दावा डालना अति करना होगा, उसमें अविवेक आ जाएगा। पर यह सच है कि लेखक का कार्य है ऋषि का ही। जीविकोपार्जन के निमित्त उत्पादक शरीर-श्रम पर्याप्त बन सके तो यह स्थिति सबसे उत्तम और उपयोगी होगी। पर रोना तो यही है कि हमारी अर्थ-रचना इतनी औंधी और उलटी बन गयी है कि श्रम का मूल्य शून्य है। जब कि अन्यान्य चतुराइयों के बल सब कुछ पा और बना लिया जाता है। मैं मानता हूं कि जिसको बाजारी सफलता चाहिए वह सृजनात्मक श्रम-साधना पर नहीं टिका रह सकेगी, अवश्य उन चतुराइयों की नसैनियों का लाभ लेना चाहेगा। पर यह सवाल व्यक्ति का अपना-अपना है, यह तो क्रास है जो सबको अपने लिए ढोना है। अत: इस विषय में कोई सामान्य सूत्र बनाकर नहीं दिया जा सकता।

अपरिग्रह का विचार

आपके मन में जो कंदमूल, फल पर रहने की बात उभरी, वह क्यों? और फिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विचार को आपने त्याग क्यों दिया?

—कंदमूल फल की बात का जिक्र अपने विश्वास और अपनी भावना की सूचना के तौर पर ही मैंने कर दिया था। अर्थ था कि अपरिग्रह को यदि परस्परता के संदर्भ से हटाकर निपट निजता से जोड़कर व्यवहार्य बनाना चाहे, तो वह आज के दिन संभव नहीं हो सकता है। अर्थात् पहले के ऋषि-मुनि का रूप आज कुछ परिवर्तित दीखेगा। वह परिवर्तन सहसा वर्तमान में अनुपस्थित भी नहीं कहा जा सकता। सेवा और सामाजिकता आज के साधु की चर्या के मानो अविभाज्य अंग बन आए हैं। रामकृष्ण मिशन के बंधु सिर्फ त्यागी-विरागी नहीं है, वे नाना सेवा-कार्यों में संलग्न हैं। समाज में जीवन-यापन और भरण-पोषण के साधनों के उत्पादन-विनियोग का प्रश्न जटिल होता जा रहा है। धर्म और नैतिकता का सवाल भी इस तरह कुछ कठिन और उलझा हो गया है। नीति-मान हमारे जल्दी-जल्दी अपर्याप्त बनते जा रहे हैं। अब तो कुछ वह हालत आ बनी है कि जैसे नीति-मूल्य कुछ हैं ही नहीं, सुविधावाद ही सही जीवन-नीति हो सकती है। फिर भी मूल्य-लोप का यह आभास भय का कारण नहीं होना चाहिए। क्या प्रकाश के उदय के पूर्व का ही अंधेरा सबसे घना नहीं होता? आदमी की तलाश उत्कट हो गयी है और बुद्धि की धार भी उतनी ही पैनी बन आई है। उससे राह की सब विघ्न बाधाओं को वह काटता चल रहा है और इसी में उसे लगता है कि पूर्व-ग्रहीत मत-मान्यताएं गति में अवरोध भर हैं। इसलिए वह उन सबको ध्वस्त करने में झिझक अनुभव नहीं करता। उसकी यह गति कुछ समय के लिए दिग्भ्रमित सी मालूम हो सकती है, पर अंतत: अधर में कूदने पर पाएगा कि वह नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि हठात तैरना सीख आया है। अभी तक की श्रद्धा और आस्था अधिकांश लोगों को एक जड़ता और कट्टरता दे जाती थी। इससे उसकी निजत्व और व्यक्तित्व तनिक नुकीला बनता और परस्परता के विकास में बाधक हो आता था। अब मत-मान्यता को उतनी अंतिमता नहीं मिल सकेगी कि वह किसी को सामंजस्य और सहअस्तित्व के अयोग्य बना दे। हम एक दूसरे के बिना शर्त समझने और सहने के ऐसे शायद निकट आ रहे हैं। अब यह प्रश्न नहीं रह जाएगा कि तुम मेरे पंथ या विचार या मत-सिद्धांत के हो या नहीं? हर कोई इस नाते ही स्वीकार्य होगा कि वह है और अपने में निज है, भिन्न है। हर एक की विशेषता अक्षुण्ण रहेगी और एक दूसरे को काटने में नहीं बल्कि उसको पूरा करने के काम आएगी।

आज का मत-सांकर्य और मूल्य-सांकर्य इस दृष्टि से अनपेक्ष्य और अनभीष्ट नहीं रह जाता। मैं यही कहना चाहता था कि ऋषि और संत का एक नव संस्करण ही प्रस्तुत समाज के लिए उपयुक्त होगा। वह बने बनाए किसी सांचे का न होगा। वह अधिक समीचीन और समग्र होगा। वह समाज के प्रति अधिक उन्मुख और अर्पित होगा। अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, अस्तेय, इनकी परिभाषाएं व्यापक होंगी और व्यष्टि के बजाय समष्टि के संदर्भ से युक्त होती जाएंगी। अभी तक व्यष्टि की भाषा में ही इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों और तत्वों को देखा-समझा जाता था। पर प्रगट होता जा रहा है कि व्यष्टि और समष्टि अंततः संयुक्त हैं, और व्यष्टि में रुककर गुण ही, समाज और समष्टि की दृष्टि से, अवगुण बन आ सकते हैं।

गांधी में साधुता का आधुनिक संस्करण

गांधी से यह उदाहरित हो जाता है। दुनिया विवश हुई कि उन्हें महात्मा कहे, पर कपड़ा उनका सफेद ही रहा, गेरुआ नहीं हो पाया। पत्नी साथ रहीं, यद्यपि बीच में उनके ब्रह्मचर्य हो आया था। परिवार रहा, संस्था-संगठन भी हो सका, और अनगिन रुपया उनके हाथों इधर से उधर गुजरा। राजनीति के द्वंद्व-फंद उनसे अछूते नहीं रहे। अपने हाथों पाखाने की सफाई उन्होंने की, चमड़े के चूते गांठे। कताई की और कताई, बुनाई सीखी और सिखाई। दुनिया का कौन काम था जिससे उन्होंने किनारा लिया? लेकिन लोगों के मनों में उनका स्थान वह बना जो संतों के संत का भी कठिनाई से बन पाता है। साधुता का यह आधुनिक संस्करण संप्रति के संदर्भ में अधिक संगत और सतर्क हो सकेगा। तब जान पड़ेगा कि अपरिग्रह चीजों से बचने में ही सिद्ध और संपन्न नहीं हो जाता, प्रत्युत उस अपरिग्रह के भीतर एकानामिक्स कहा जाने वाला संपूर्ण विचार भी गर्भित हो सकता है। जैनेन्द्र कुमार-जीवन, समय और स्वतंत्रता

आज के राजनीतिक मतवाद उस छोर को नहीं छूते हैं जो चेतना के गहरे में निभृत हुआ रहता है। ऊपर के बुद्धिवाद में से वे बना लिए जाते हैं, उनके लिए समाज का अंकगणित मानो पर्याप्त रहता है और उत्पादन-वितरण के आंकड़ों के योगायोग से मानो उसका काम चल जाता है। मानव-चित्त के भीतर की प्रेरणाएं उस विचार के लिए उतनी प्रेरक नहीं रह जातीं और इस तरह भावनात्मक-व्यवस्थात्मक इन दो पक्षों में तान बन आती है। साहित्य भाव को लेकर या तो भीतर अवगाहन करता है, या ऊपर उड़ान भर निकलता है। और इधर राजनीति धरती के समतल पर अपना आधिपत्य जमाकर मानो आकाश-पाताल की बातों और शोधों को व्यर्थ के लोगों को सौंपकर स्वयं निश्चिन्त हो रहती है। जीवन का यह बंटाव और फटाव मुक्ति नहीं दिला पाता और संकट का बोध बढ़ता ही है।

आवश्यकता है कि समाज-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान अंकगणित पर ही स्थगित और स्थापित न रहें, प्रत्युत गुणात्मक चिद्-विज्ञान से अपना योग साध कर वहां से अपना साध्य और स्वरूप प्राप्त करें। तब हमारी योजनाएं आंकिक के बजाय मानवीय होने लगेंगी और यह विडम्बना असंभव हो जाएगी कि दौलत बढ़ रही है और लोगों का दुःख-दैन्य भी साथ ही बढ़ता जा रहा है। संख्या और गुण के स्तरों और क्षेत्रों को अलग बिठा देने से लोक-व्यवस्था एक ओर जहां विकसित और विकलांग हुई है, वहां दूसरी ओर आत्मसाधना भी एकांगी और अपंग बन आई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर यदि कंदफल-मूल का संकेत आया था तो उसका यही आशय था।

लेखक, पाठक और जीविका

लेखक का संबंध जीविका से जुड़ जाने पर क्या उसका व्यवसायिक लेखन नहीं बन जाता? जब लेखक अपनी रचनाएं व्यवसायिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजते हैं तो उन्हें पारिश्रमिक मिलने का लोभ रहता ही है। पारिश्रमिक देने वाला भी अपने कुछ नियम-विधान रखता है, उसके अनुकूल ही रचनाएं वह प्रकाशित करता है। इसलिए लेखक भी इस बात का प्रयास करता है कि उसकी रचना तदनुकूल हो। यही बात अन्यत्र भी देखने में आती है।

—लेखक क्या पाठक के बिना हो सकता या जी सकता है? वह लेखन होगा तो सूख जाएगा जो पाठक के साथ अपना तादात्म्य बनाने में विफल रहेगा। अर्थात् जीवन-व्यापार सब परस्परता के आधार पर संभव है। केवल स्व में होकर जीवन धारण तक नहीं होता। साहित्य वह योगसूत्र है जो एक की अनन्यता को सामान्य और साधारण की सर्वता से युक्त कर देता है।

प्रश्न अब जीविका का रहता है। जीविका आज के समय में उस अर्जन-प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती है, जिसमें कुछ दिया जाता और एवज में मुद्रा-द्रव्य को प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया को सामान्यतया क्रय-विक्रय कहा जाता है। बाजार में क्या चीज अच्छी बिकती है, यदि उस दृष्टि से लेखन होता है। तो उसमें निश्चय ही व्यवसायिकता का ऐसा पुट आ जाएगा जो लेखन के सत्व को नीचे लाए बिना न रहेगा। लेकिन यदि उस द्रव्य के प्रवाह में लेखक की ओर से क्रय-विक्रय की दृष्टि नहीं है तो कोई आवश्यक नहीं कि लेखन का स्तर लेखक के मनोनुकूल अडिग न रह सके।

सिक्के का समाज : अर्जनोपार्जन की भाषा झूठी

किंतु मेरे मन में द्रव्यार्जन शब्द को लेकर संशय बना ही रहता है। जीविकोपार्जन शब्द मुझे उपयोगिता के तल तक ही संगत मालूम होता है। उससे गहरे कोई यथार्थता उसमें संगत नहीं रह जाती। मैं आस्तिक हूं और मानता हूं कि यहां कुछ किसी का नहीं है, ईश्वर-दर्शन की प्राप्ति के निमित्त जीवन धारण करने के लिए जो यथावश्यक हो सकता है, उससे अधिक का उसे लोभ या संग्रह नहीं करना चाहिए। इस श्रद्धाभिमत के कारण अर्जनोपार्जन या क्रय-विक्रय की भाषा मुझे सच्ची नहीं लगती बल्कि कुछ झूठी सी मालूम होती है। भगवान की ओर से श्रम की क्षमता और स्नेह वृत्ति व्यक्ति को मिली है। उसे बुद्धि भी प्राप्त हुई है। यहीं से प्रकृति के सहयोग से वह अपनी आवश्यकताओं के साधन जुटाता उपजाता है। उन क्षमताओं के उपयोग से जो वह प्राप्त करता है उसे भगवान की ओर से मिला भी माना जा सकता है। ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानने में ही उसका सत्य है और स्वास्थ्य है। बीच में हमारे समाज ने और सभ्यता ने अपने सुभीते के नाते सिक्का पैदा किया। पर होते-होते सिक्के की यह संस्था इतनी पेचीदी बनती गयी कि उसके नाम और निमित्त से नाना प्रकार का शोषण और वैषम्य सहाय और ढाया जाने लगा। बेच-खरीद बीच में पनपी और उस विधि संपन्न-विपन्न, मालिक-मजदूर आदि श्रेणियां बन आईं।

लेखक का आदर्श और उसका जीवन

लेखक जिस आदर्श और सिद्धांत का प्रतिपादन अपने साहित्य में करता है, उसके अनुसार वह जी नहीं पाता, ऐसा क्यों? वह तो एक विचारशील और प्रबुद्ध प्राणी है। उसे तो उसी के अनुसार जीना चाहिए जो उसने लिखा और कहा है। अगर ऐसा नहीं है तो क्या उसने जो कुछ लिखा है वह झूठा है? लोगों को भ्रम में डालने के लिए है?

—जीना चाहिए लेखक को अपने लेखन में प्रगट हुए विश्वासों के अनुसार। यह तो स्वयं लेखक भी जानता और चाहता है। पर सच यह है कि अगर जीवन उन आस्थायों और अभिलाषाओं से तद्‌गत हो जाए तो लिखने की प्रेरणा भी निःशेष हो जाए। आदमी लिखने के द्वारा अपनी सीमाओं से आगे और पार जाना चाहता है। इसलिए उसके जीने के स्तर और लेखन (संभावना) के स्तर में अंतर और व्यवधान रहना आवश्यक ही होता है।

तो क्या लेखन में प्रगट हुई भावना झूठ है, उसमें कपट है? नहीं वैसा नहीं है। झूठ हो तो लेखन का प्रभाव दूसरे पर कैसे पड़ सकता है। प्रभाव यदि पड़ता है तो सिद्ध है कि लेखक की ओर से उन्हें सचाई भी मिल सकी है। आदमी अगर रहने से आगे कुछ भी चाहता है, तो क्या उस चाह को इसलिए झूठ कह दिया जाएगा कि वहां वह पहुंच क्यों नहीं गया है? ऐसा हो तो जीने का क्रम ही समाप्त हो जाता है। कुछ प्रेरणा है जो उसे आगे से आगे ले जा रही है। उस आगे से आगे के अंत में जो है, उसे सपना कह सकते हैं। किंतु अपने ही स्वप्न से वह स्वयं कहीं-कहीं दूर है, सो क्या इसीलिए वह व्यर्थ हो जाता है? जी नहीं, स्वप्न उसे आकृष्ट एवं उत्कृष्ट कर रहा है, उसके यथार्थ को क्षण-क्षण उठाकर अपने वर्ण में वर्णित एवं परिणत कर रहा है। स्वप्न को सत्य सिद्ध करने का पुरुषार्थ मनुष्य में सतत जाग्रत और सचेष्ट है, तो यहीं उस आदर्श-स्वप्न का मूल्य स्वयं प्रतिष्ठित हो आता है। यथार्थ से अंतर और व्यवधान तो उसमें रहने ही वाला है। वही है जो जीवन को ऊर्ध्व-रेतस् बनाए रखने के काम आता है? झूठ वहां तब पड़ता है जब यथार्थ पर उसके आदर्श का खिंचाव या तनाव लुप्त हो रहता है। यदि वह कर्षण लेखक के मनोभावों पर है और उसके बिना तो लेखन हो भी नहीं सकता है—तो फिर उस व्यवधान के कारण लेखन के मिथ्या होने के बजाए प्रेरक ही होने की संभावना बढ़ती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रासदीमूलक साहित्य

स्वप्न के प्रति लेखक का दो प्रकार का संबंध हो सकता है। स्पृहा और आशा का, जिसमें से साहित्य में रोमांस का स्पर्श आता है। दूसरा अपने वर्तमान यथार्थ की ओर देखकर किंचित् निराशा और अनास्था का। इसमें से अधिकांश विश्लेषणपरक और त्रासद-मूलक साहित्य की रचना होती है।

ये दोनों ही रूप अन्त में जीवन की सम्पन्नता और समृद्धि के निमित्त बनते हैं। केवल स्वीकृति स्थितिपोषक है, उसमें से गति-प्रगति की हानि होने लगती है। निषेध का स्वर जीवन की अग्रगामिता के लिये सहायक और आवश्यक हुआ करता है। घुटन, कुण्ठा, अकेलापन, संत्रास आदि-आदि के स्वर जीवन की समग्रता के आकलन आदि में बड़ी सहायता करते हैं। केवल रोमांस एक बचकानी उद्दामता ला सकता है; आवश्यक है कि उसमें भार और भराव आए। तब शोक और विषाद का सारांश उसमें आ मिलेगा।

आदमी का स्वत्व ही तो सत्य नहीं है। सत्य में सर्वत्व आ समाता है। स्वत्व की अहंता सत्य की सर्वता में कैसे लीन हो? यह शोक-विषाद और संत्रास के भाव की ही कीमिया है जिसमें स्वत्व विगलित हो पाता और व्यक्ति शून्यत्व की लीनता में उठ जाता है।

पाठक का अंतरंग

देखा जाता है कि शोकान्तक साहित्य पाठक के अतरंग को गहराई पर मथित करता है। विलास-उल्लास की रचनायें उतनी मान्य और श्रेष्ठ नहीं हो पातीं। कारण यही कि पाठक अपने से उत्तीर्णता और स्वयं के प्रति समग्र विस्मरण उपलब्ध कर पाता है तो ऐसी ही कृतियों द्वारा जो उसके निजत्व को मानो गला डालें। दुःख मनुष्य में जैसे इसी परम अभीष्ट को सम्पन्न करता है। कहते भी हैं कि सुखभोग में आदमी यदि अपने में भूखा रहता है, तो यह दुःख ताप है जिसमें वह भगवान को याद कर आता है। आखिर जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक भाव घट-घट में व्याप्त है, वही तो भगवान है। वही है अखिल और अखण्ड। हम जब अपने को अपने में शून्य हुआ पाते हैं तो जाने-अनजाने, क्षण के लिये भी सही, उस एक में, अखण्ड में अपना आश्रय बना आते हैं।

लेखक की अन्तर्व्यथा

हम वह नहीं हैं जो होना चाहते हैं। इस कष्ट को लेकर हर आदमी को जीना पड़ता है। यह कष्ट लेखक में तीव्र, सघन और उत्कट होता है। इसमें विस्मय भी नहीं, कारण यह अन्तर्व्यथा-मर्मव्यथा ही उसकी पूंजी है। साहित्य में रूप पाती है, तो यह स्वकीय वेदना सहानुभूतिपरक और विधायक बन कर हर पाठक की संवेदनशीलता को जगा आती है। वह पढ़ने वाले पाठक के उस स्रोत को छू आती है जहां से दर्द और अपनत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जन्म होता है। तब व्यक्ति अपनेपन को लेकर उसे दूसरे में खो देने के लिये आतुर और उत्कंठित हो आता है। मानव-समाज की तमाम उत्कृष्टता और उपलब्धि इसी में से अपना निर्माण पा सकी है।

लेखक के जीवन-चरित में और उसके लेखन के भावचित्र में अन्तर देखकर यदि आप उसे छल कहना चाहें, तो लेखक आसानी से इसमें आपसे सहमत हो आयेगा। लेकिन यह सहमति ही जतलायेगी कि उसके शब्दों में इसकी व्यथा उतर सकी है। व्यथा छद्म को भी सत्य बना आती है। तथ्य यह कि लेखक उसी तरह पंचभूतात्मक है जैसे अन्य प्राणी। अत: उसमें वह भी सब क्यों न होगा जो भौतिक का गुण और लक्षण है। अब यदि वह उस चैतन्य की अभिव्यंजना में भी निमित्त बन आता है जो किसी की स्वकीय नहीं है, बल्कि जो आध्यात्मिक और अभिव्याप्त है, तो साधन-रूप उस निमित्त की अपूर्णता को दोष देते रहने से क्या लाभ? साहित्य लेखक द्वारा सृष्ट भले होता हो, लेखक यथार्थ में उसका कर्ता से अधिक वाहक-माध्यम ही होता है। अक्सर आप पायेंगे कि साहित्य के सृजन काल में जो मग्न और दीप्त दीख पड़ता था, सृजन के अनन्तर जैसे वही मन्द और फीका हो आया है। कारण यही कि सृजन में जो उसमें से चला गया वह उसका अपना न था, सबका था। इसी से सबका अपना-अपना होने के लिए बस उसके द्वारा वह सार्वभौम तत्व रूपमात्र पा गया है। व्यक्ति अकेला है, सिर्फ अपने जितना है। साहित्य की व्याप्ति असीम है। इसलिए उस असीम और सीमित में परिपूर्ण एकात्माकता कभी दीख ही नहीं सकती। इस पर रुष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि इस व्यवधान के कारण और भी इस शोध और संधान की आवश्यकता बन आती है कि हम समझें कि चैतन्य की कैसी क्या जटिल अंत:प्रक्रिया है।

लेखक की चरित्रहीनता

आप अक्सर देखेंगे कि लेखक शराबी और जुआरी रहा है, फिर भी ऐसी आध्यात्मिक रचना दे गया है कि पीढ़ी दर पीढ़ी उससे आप्यायित हो सकी हैं। मैं अपनी बात कहूं। दास्तोवस्की को उठाता हूं तो प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। उससे मुझमें भागवत्-आस्था सदा उदित और सिंचित हुई है। लेकिन उसके बारे में जानने को मिलता है कि जुए का चस्का उससे कभी नहीं छूट सका। दूसरे भी चाहे कितने ऐब उसमें से ढूंढ निकाले जाएं, पर उसकी रचनायें जो भावोन्मेष मुझमें जगा आती हैं, उसकी कृतज्ञता से मैं कैसे इंकार कर सकता हूं। शराब और जुए की आदत आध्यात्मिक नहीं है, जिरह से मेरे निकट यह सब सिद्ध करने का भला क्या लाभ हो सकता है? बल्कि उल्टे मुझे चुनौती प्राप्त होती है कि समझूं, आध्यात्मिक सत्यता यदि मानव व्यक्ति और यष्टि में व्याप्त है तो उसके मूल सूत्रों का व्यूह वहां इतना चकरीला और जटिल क्यों है? इस चुनौती का लाभ यह है कि आदमी अन्यथा दूसरों के बारे में झट फैसला करने के दोष से बच ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं जाता है, इस चुनौती के उत्तर में उसमें से मानो कट्टरता कटती है, अनुकम्पा जागती है और प्रेम का संवेदन गहरा होता है।

इसलिए आप लेखन की श्रेष्ठता और लेखक की भ्रष्टता-धृष्टता का अंतर देखकर भ्रांति में न पड़ें, न निर्णय का भार अपने ऊपर लें। बल्कि समझने की चेष्टा करें कि इन दोनों विमुखताओं की संगति हुई तो कैसे हो पाई?

स्थिर-जड़ित नैतिकता : संकीर्णता में स्वरक्षा

किंतु यह क्या कि लेखन की प्रेरणा और क्षमता उस व्यक्ति को भी प्राप्त हो जाती है जो चरित्र को खो देता है और सदाचार से भ्रष्ट हो जाता है। अभी आपने इसकी चर्चा करते हुए स्वीकार भी किया कि लेखन और आचरण में अन्तर होता है। तो सवाल यह है कि क्या लेखक का दिल और दिमाग प्रकृति प्रदत्त होता है और उसको आचरण तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता? यदि ऐसा है तो क्या प्रकृति-नियम आपको त्रुटिपूर्ण नहीं लगता?

—निसर्ग-नियम को हमारी समझ अगर घेर नहीं पाती है तो इससे हम व्यग्र क्यों होते हैं? हममें से हर कोई सोच सकता है कि अगर उसे परमेश्वर बनने का अवसर आए तो वह दुनिया को जरा में आदर्श बना डाले। पर यह बुद्धि का प्रसाद है जो त्रुटियों को प्रकृति और परमेश्वर पर डालकर स्वयं छुट्टी पा लेने की सोचता है। उसी बुद्धि के प्रमाद में हम लोग चारित्र्य की और नैतिकता की जड़ी-बंधी धारणायें बना लिया करते हैं। क्या लगता है यह कहने में कि अमुक दुश्चरित्र है। कौन जानता है कि ऐसा अपने बचाव में ही नहीं कहा जाता होगा। अगर और नहीं तो इसीलिए लेखक और लेखन का व्यवधान हितकर है कि हम सोचने को विवश हों कि श्रेष्ठ और निकृष्ट में यह संगम होने में कैसे आया? हमारी स्थिर और जड़ित नैतिकता की धारणायें अगर हिलती हैं, उनकी कट्टरता डिगती है, तो यह अशुभ नहीं है। इस प्रकार की कट्टर बनी हुई मतवादिता ही आपस की सहानुभूति और संवादिता के प्रवाह को रोक देती और विग्रह-वैमनस्य उपजा आती है। हम अपनी संकीर्णता में अपनी सुरक्षा बनाए रखने के लिए दूसरों को लांछित करके मान लेते हैं कि ऐसे सदाचारिता की हमारे द्वारा चिंता और रक्षा हो रही है। पर वह अनधिकृत दर्प है, उससे उन सबको बचना चाहिए जो सचाई तक पहुंचना चाहते हैं और बुराई को अपने भीतर भी देखने को तैयार हैं।

आत्मीयता का भरोसा

व्यक्ति को आचरण बना बनाया नहीं मिलता। उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह परिणाम है उन असंख्य सूत्रों की समवेत प्रक्रिया का जो उसके भीतर और बाहर सब ओर व्याप्त है। उनमें किसी एक-दो को पकड़ कर निर्णय पर पहुंच जाना खतरनाक हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है। इसलिए सच्ची समझदारी की सुरक्षा इसी में है कि हम दुष्ट को दोष से, पापी को पाप से विश्लिष्ट और विलग देख सकें। आखिर रोगी को रोग से भिन्न समझ कर हम उसे लांछित के बजाय निरोग-स्वस्थ करने की चेष्टा में प्रवृत्त होते हैं कि नहीं?

अभियुक्त बना कर दंड देने की प्रथा कानून के पास है। इसलिए शासन और शासक को वह प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती है जो साहित्य और साहित्यकार के भाग्य में अक्सर आ जाया करती है। कारण यही कि साहित्य ऊपरी समझ से गहरी सहानुभूति को अधिक महत्त्व देता है और दण्ड एवम् लांछन का आश्रय नहीं लेता है। वह रास्ता राजनीति का है जो अपने लिए सुविधा की स्थिति बनाने और दूसरे को अभियुक्त के कटघरे में खड़े करने की नीति में गर्व तक मान आती है। आप यदि साहित्य में रस लेना चाहते हों तो मैं कहूंगा कि किसी को पहले से बहिष्कृत कर चलने की आदत से छुटकारा पा लें और सब में आत्मीयता पाने के अभ्यास का अधिक भरोसा रखें।

लेखक : व्यक्ति चारित्र्य और लेखन

क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि आज का लेखक सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण नहीं बल्कि व्यक्तिगत कारणों से अलग-अलग खेमे बनाता जा रहा है और इससे साहित्य-सृजन सहज न होकर बनावटी होता जा रहा है?

—लेखक व्यक्तिगत अस्मित्व की सुरक्षा और प्रतिष्ठा के लिए सामाजिक स्तर पर क्या करने को विवश होता है, उस पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। सामाजिक व्यक्तित्व के नीचे हर आदमी में उसकी आंतरिकता भी रहा करती है। साहित्य के गुण का संबंध उस आंतरिकता के प्रति एकात्मता और सघनता से होता है। ऊपर से असंयत और उच्छृंखल मालूम होता हुआ व्यक्ति भी भीतर अपने प्रति ईमानदार रहकर साहित्य-सर्जना का काम बखूबी कर सकता है। इसलिए मैं स्वयं लेखक के व्यक्तिगत जीवन के प्रति देखी-अनदेखी कर जाने का विश्वासी हूं।

जिसको चरित्र कहा जाता है, साधारणतया उसका संकेत दीखने वाले धरातल से गहरा नहीं जाता, पर जिस चरित्र का प्रतिबिम्ब साहित्य में होता है, उसकी जड़ें पेचीली गहरायों में होती हैं। इसलिए ऊपर कहा कि लोगों के संबंध में अपने पास फैसला रखने की आदत सहायक नहीं होती। हम किसी को पूरी तरह और सही समझ नहीं सकते। सच यह कि प्रत्येक के अभ्यंतरादभ्यंतर में उसका वास है जिसे आत्मा कहते हैं। अर्थात् हम सबके मर्मस्थल में दिव्यता और पारदर्शिता रहती है। किंतु उस चित्केन्द्र में, और चित्परिधि पर, विकास की प्रक्रिया के अंतर्गत अस्मित्व-भाव की सृष्टि हो आती है। यहीं से व्यक्ति में द्विधा और द्विविधा उपजती है। वह अपने को बचाना चाहता है, खो देने भी चाहता है। इसी द्वंद्व में से चित्तविस्तार की परिणति स्वरूप पाती और उसके तथा जगत के बीच समस्या बनती जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यकार नाम का व्यक्ति इस द्वंद्व से उत्तीर्ण नहीं हुआ करता। स्वार्थ और स्वत्व उसमें होता है और उस निमित्त वह जो कुछ भी करता है, उस पर से हमें अपनी समझ को विभ्रम में नहीं डाल लेना चाहिए। वह उस खेमे में जा सकता है जो सज्जनोचित नहीं समझा जाता। लेकिन वह सब करते हुए अंतरात्मा उसमें जाग्रत है तो साहित्य सृष्टि में बाधा आने की कोई अनिवार्यता नहीं है। प्रत्युत कदर्य और कुलिश समझा जाने वाला उसका वह सब जीवन-अनुभव साहित्य सृजन में कच्चे माल का काम दे सकता है। हम जानते हैं कि अन्न, फल, फूल का गुण उतना ही बढ़ता है, जितना उसके मूल में खाद पड़ता है। खाद गंद को ही तो कहते हैं। किंतु वही अन्न और फल को हमारे लिए सुस्वाद्य और रुचिवर्धक भला कैसे बना आता है? इसी तरह जिसको विकार माना जाता है, मूल आस्था के हाथों पड़कर जाने किस प्रक्रिया से वही संस्कारिता प्राप्त कर लेता और साहित्य को उज्ज्वलता दे आता है। आखिर चित्र में जो है काले-धौले के मिश्रण से ही न वहां अंकित और प्रस्फुटित हो पाया है, किन्तु चित्र के भीतर कालिमा धवलता में घुल-मिलकर ऐसी खो जाती है कि वहां रहती ही नहीं, उल्टे चित्र के आशय को वह और चमका आती है।

साहित्य के नाम पर

अभी कठिनाई है तो यह कि हर छपा शब्द साहित्य के नाम पर बाजार में चल और बिक सकता है। अखबार पर अखबार निकलते हैं और अधिकांश ये विज्ञापनों पर पलते हैं। उस सबको साहित्य के क्षेत्र में से बाहर कर देने का कोई उपाय कानून के पास नहीं रह जाता है। यह तो समय की छलनी है जो सामग्री को छानती और अनावश्यक को समय के साथ झड़ जाने देती है। जो उस छलनी में से छनता-छनता कालांतर के लिए शेष रह जाता है, अगर साहित्य की संज्ञा उसी को दी जाए तो आपका तात्कालिकता का यह प्रश्न व्यग्र करने के लिए बाकी नहीं बचता। दलबंदियां होती हैं और उनके प्रभाव में विवादी और विषयवादी साहित्य भी प्रस्तुत होता रहता है। पर यदि हम आस्था और विश्वास रख सकें तो यह सब विषयवादिता हमको हैरान नहीं करेगी। यह तो किनारे की लहरें हैं, सागर की प्रशांत अगाधता का परिचय उनमें समा तो नहीं रहता। अत: आपको तत्संबंधी चिंता से व्याकुल नहीं बनना चाहिए। न प्रवाह में जो ऊपर भंवर और तलछट दिखाई दे आया करता है उस पर से निष्कर्ष लेकर मूल्य की आस्था को डिगने देना चाहिए।

नवलेखन बस वर्तमान तक

तो आज जो कुछ नवलेखन के नाम पर हो रहा है लिखा जा रहा है, क्या आप उससे संतुष्ट हैं? और क्या वह नवलेखन, नवलेखन है भी?

—जो भी आज प्रकाश और प्रकाशन में आता है, क्या उस सभी का शुमार नवलेखन में नहीं हो आना चाहिए? उसमें से काफी शायद सामयिकता के साथ बह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाए, पर कुछ हो सकता है जो बचा रह जाए। क्या बच जाएगा और उसमें से विस्मृत कितना रह जाएगा, यह मैं या कोई कैसे कहें? अनुमान से कोई कुछ कह भी पाता हो तो क्या पता कि कालदेवता का निर्णय वही होगा? अर्थात् होते हुए लेखन में क्या नव्यता तक ही रहेगा, कहना मुश्किल है। जिसमें उस शब्द का मोह व्यक्त हुआ, उस लेखन के लिए कारण नहीं बचता कि वह आज को पार कर कल के लिए भी जीता रह जाए। कल भी जिसके भाग्य में जीना बदा हो, वह सही-सही तौर पर आज के नए के सांचे में फिट हो सकेगा, इसमें मुझे बहुत संदेह है। जिसमें चिरंतनता का तत्व हो वह किसी भी काल में शायद ही फैशनेबल माना जा सके! फैशन ही है जिसका न भूत होता है न भविष्य और जो केवल वर्तमान की फुनगी पर ही जीता है। इस किस्म का माल आज ही आज का मजा देकर चुक जाए, तो मैं समझता हूं कि वह अपना कर्त्तव्य पूरा कर जाएगा! नवलेखन में नव्यता की चमक सविशेष है तो उसकी आयु शायद उतनी ही माननी चाहिए। वह जो आगे के लिए भी उपयुक्त बना रह जाएगा, नव्य के रूप में स्यात् ही आज चमक में आ सके। बल्कि संभव है कि अपनी सौम्यता में वह अनचीह्ना ही रह जाए। पर पारखी जानते होंगे, मुझे इस विषय का विशेष परिचय या अधिकार नहीं है।

सैक्स का उघड़ापन बनाम यथार्थ चित्रण

आज क्या बात है कि नवलेखन के नाम पर सैक्स को खूब उछाला और उभारा जा रहा है। सैक्स का नंगापन ही यथार्थ चित्रण है क्या? धर्म, संस्कृति आदि शब्द अछूते से बनते जा रहे हैं। आज की कहानियों और उपन्यासों में अधिकांश सैक्स ही भरा होता है और शेष जो है उसमें निराशा, कुण्ठा, हत्या और आत्महत्या जैसी चीजें देखने को मिलती हैं।

—सैक्स को अगर अभी बहुत ढका और दबा रखना जरूरी माना गया था तो क्या उसकी प्रतिक्रिया होना अनिवार्य नहीं है? तो प्रतिक्रिया में, लीजिए, वह अब मानो प्रतिशोध के भाव से उछला और उभरा आ रहा है। पर सैक्स-अपराध-हत्या आदि यदि जीवन में हैं, तो क्या दर गुजर कर जाने के लिए ही हैं? क्या उन पर ध्यान जाने की आवश्यकता नहीं है? क्या यही नहीं हैं जो भीतर के रोग और मर्म को उभार कर ऊपर दिखा आते हैं। मैं मानता हूं कि कुल मिलाकर यह तर्क-विरुद्ध नहीं हैं कि वर्तमान के गात पर बेहद फुंसी-फोड़े फले और फूटे आ रहे हैं। पर यह भी साथ हिसाब में रखना चाहिए कि विज्ञान बढ़ गया है और तरह-तरह की सुविधा की वस्तुओं की अतिशयता से वह हमें पाटे दे रहा है। इस उन्नति और प्रगति में मनुष्य की बुद्धि रुकना नहीं चाहती और जिसको मानो गठरी में बांधकर मानव-विचार और व्यवहार से अलग बाहर फेंक दिया गया था, उस गठरी की गांठ को खोलकर भीतर के माल की भी वह बुद्धि पूरी पड़ताल कर लेना चाहती है। चाहती है, तो उससे घबराने की आवश्यकता क्या है? सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ धूप में आना चाहिए। धूप नहीं लगने नहीं दी जाती, इसी से सड़ांध पैदा होती है। सीलन है, दुर्गंध है, तो उसका इलाज है कि वह खुले। खुलने पर देखा जाएगा कि वाताकाश में भरी धूप और वहां के दूसरे तत्व सब अनिष्ट सोख जाते हैं और क्रमशः स्वस्थता और स्वच्छता उपलब्ध हो आती है।

यथार्थ का जवाब

मैं स्वयं सैक्स की समस्या और संकेत को चिरंतन और मूलभूत मानता हूं। हमने आत्मा-परमात्मा के प्रश्न में अध्यात्म को उलझाया है। वह अध्यात्म होते-होते अधर में रह गया और वायव्य हो गया। व्यवहार से उसे उठाकर मानो वेदी पर पधरा दिया गया। जैसे वह नागरिक क्षेत्र का न हो, अगेह और अनगारी, अनागरिक के लिए ही वह संगत हो। मुझे लगता है कि यदि धर्म-विचार से हम अर्थ और काम के प्रश्नों का संधान करें तो वह विचार अधिक सार्थक और सत्वशील होगा। आत्म-परमात्म आदि की दिशा में जाकर मानो हम पलायन कर जाते और अपने ही त्रास और ताप के निदान से बच जाते हैं। दुःख और पाप, तृष्णा, कामना, कुण्ठा, निराशा, घात और अपघात ये यथार्थतायें हैं जो अपना जवाब मांगती हैं। जीवन को उन्होंने झिंझोड़ा और जकड़ा है। वे हैं जिनको समझना और सुलझाना है, गांठें हैं तो उन्हें खोलना है। इसलिए अगर ये बातें आज के साहित्य में उभर आती दीखती हैं तो उसमें कोई बुराई की बात नहीं है। बुराई अंधेरे में पलती है और शायद प्रकाश से वह इसी कारण घबराती है।

लेकिन हां, निदान और संधान नहीं, स्वाद और चस्के के नाते उन विवरणों को सजाया और परसा जाता है, तो उसके पीछे दुकानदारी है और वह मनोवृत्ति हर काल में हर लहर से अपना अर्थ-लाभ उठाने की युक्ति करती रही है। उस संबंध में कुछ कहने या अटकने की आवश्यकता नहीं है। वह चीज अपनी मौत आप मरती है। पर कठिनाई यह है कि सब उलझ गया है। कला और साहित्य अनुरंजन के निमित्त आ बने हैं। वे चैतन्य-स्फूर्ति और सत्यान्वेषण के माध्यम मानो रही नहीं गये हैं। संतों-ऋषियों के हाथ संगीत और साहित्य मानो ब्रह्मोपलब्धि के साधन थे। वे ही मजलिसी रौनक के लटके बन गए हैं।

एक ध्रुव पहेली

पाप और अपराध की जड़ में आप अधिकांश सैक्स को पाएंगे। अर्थ काम का ही मानो बाह्य उपादान है। इस तरह काम का प्रश्न धर्म-विचार के लिए प्राथमिक हो आता है। सब काल सब देश के साहित्य में उसको ध्रुव केन्द्र के रूप में खोजा और पाया जा सकता है। मुझे प्रतीत होता है कि बाहर के आयाम में प्रगट दीखने वाला सामाजिक यथार्थ, या सोशलिस्टिक रियलिज्म, उतना साहित्य के लिए विचारणीय तत्व चाहे न भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। कारण, उससे समाज-विचार या राज्य-विचार जूझ सकता है। साहित्य का विज्ञान वहां रुककर नहीं रह सकता। व्यवहार को ही स्थूल की और परिणाम की मांग रहती है, विज्ञान का काम सूक्ष्म और स्वल्प से चल जाता है। इसी प्रकार देशकाल का ऐतिहासिक अथवा इति-वृत्तात्मक परिचय देने वाला भी वाङ्मय हो सकता है, और अपेक्षाकृत वही चलता भी है। किंतु लोक-विवरण के माध्यम से जहां नीति-तत्व और धर्मतत्व का अवगाहन और आख्यान है, वहां शायद साहित्यिकता अधिक सार्थक होती है। पौराणिक धर्मग्रंथ वे हैं जहां इन दोनों का समन्वय और समीकरण हो आता है। किन्तु साहित्य के लिए जागतिक से आत्मिक ही अधिक अपेक्षित होगा। बाहर वास्तविक होकर जो कर्म-जगत व्यापा है, उसका निदान उस आत्म-लोक में उपलब्ध होगा जिसको चाहे तो आभ्यंतर कारण-जगत कह सकते हैं। हेतु और प्रेरणा का क्षेत्र वह है, परिणाम और फल ही है जो बाहर दीखता है। बाहर के परिणाम की फसल को लेकर क्रय-विक्रय का बाजार चलता है। किन्तु सृष्टि की प्रक्रिया उससे दूर एकांत और निभृत में ही निष्पन्न और सम्पन्न होती रहती है। साहित्य भूत-विज्ञान की जगह एक प्रकार से चित्-विज्ञान का रूप है। वहां की प्रक्रिया किंचित् भिन्न होगी ही। उस आंतरिक यात्रा के पग शायद उतने बुद्धि-तर्क के न हो पाएं, शायद बुद्धि से अधिक वहां संवेदन की क्षमता काम करे। बुद्धि विलगता में चलती है, साहित्य संवेदना में से संलग्नता स्थापित करता है।

सैक्स में से सृजन है। सृष्टि मैथुनी है। किन्तु यही समस्या भी है। समस्याएं एक में से नहीं, मिथुन में से प्राप्त होती हैं। मैथुन द्वारा भगवद्-स्वरूप शिशु प्राप्त होता है, और मैथुन में से ही पाप का दबाव भी उपजता है!

और मैं मानता हूं कि साहित्य के समक्ष यही ध्रुव पहेली है। यही चुनौती है जिसके उत्तर में साहित्य की रचना हो पाती है।

साहित्य में बलात्कार

तो आप भी आज के सैक्स-चित्रण से सहमत हैं और उसे आवश्यक और सहज मानते हैं। लेकिन साहित्य को सत्य-शिव-सुन्दर कहा गया है। कौन नहीं जानता कि पर्दे की ओट में क्या है? लेकिन उसे उधेड़कर नंगा करना और वासना जगाना क्या शिव और सुन्दर है? यह तो एक साहित्यिक बलात्कार है, जिसे साहित्यकार एकान्त में बैठकर अपने पात्रों के माध्यम से कराता और मजा लेता है।

—आपको अपने प्रश्न में गर्भित आक्रोश में रस आया मालूम होता है। उस रस के चस्के से प्रश्न को मुक्त रखना चाहिए।

शरीर पर हम वस्त्र धारण करते हैं। लेकिन एक्सरे उन वस्त्रों के ही पार नहीं देखता, चमड़ी के पार भी हड्डी के विकार को देख लेता है। क्या उस गूढ़ को प्रत्यक्ष कर सकने वाले यन्त्र और आविष्कार को आप बहिष्करणीय मानेंगे? कपड़ों से ढके-ढके क्या आप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्नान कर लेंगे? क्या वस्त्रों के मोह में शरीर को आप धूप और हवा तक न लगने देंगे।

यह नहीं कि आवरणों का उपयोग नहीं है। वे हमारी रक्षा के काम आते हैं। लेकिन नहीं भूलना चाहिए कि हैं वे आवरण ही; सहायक हो सकते हैं, लेकिन मूलत: वे हमें ढंकते और छिपाते हैं।

याद रखना चाहिए कि विलास के उन्माद में तो नग्न होने में विचिकित्सा को जीतना होता है। वहां प्रयास अपेक्षित होता है। लकिन जैनों के महावीर तीर्थंकर अर्हत् बनने की राह पर अनायास दिगम्बर हो आए थे। इस दिगम्बरता को क्या कोई विलास और व्यसन से जोड़ सकता है? बल्कि यह तो निष्पापता की चरमावस्था है। साहित्य में सैक्स को निषिद्ध कीजिए तो तमाम साहित्य का ही निषेध हो जाता है। अगर जीवन में से सैक्स को निकाल बाहर करना संभव नहीं होता तो साहित्य, जो जीवन-मर्म की शोध में सृष्टि पाता है, जो जीवन को प्रतिफल में सुन्दर, सुभग और समृद्ध करता है, वही उसको बहीष्करणीय कैसे मान सकता है। आप सैक्स के साथ क्या केवल विगर्हणीय की ही कल्पना कर पाते हैं। क्या उसके साथ वह सब महनीय और वरणीय भी सम्मिलित नहीं है, जिसको साहित्य का श्रेष्ठ रस माना जाता है। क्या प्रेम को ही ईश्वर नहीं माना गया है? क्या वह प्रेम सैक्स के साथ अनिवार्यतया ओत-प्रोत नहीं है? क्या आप सृष्टि की, संसार की, कल्पना कर भी सकते हैं बिना मिथुन के? एकमेवता परमेश्वर के सिवा क्या कहीं संभव है? अनेकता के क्षेत्र में क्या अनिवार्य ही नहीं है कि कुछ हो जो स्त्री-पुरुष हमें प्राथमिक दित्व में फिर से ऐक्य की प्रतिष्ठा करें? क्या इसी में पृथकता असिद्ध और युग्मता समर्पित नहीं हो आती है?

सैक्स के प्रति समता

साहित्य में सैक्स के जिस चित्रण की बात आप करते हैं, उस सबका समर्थन और अनुमोदन यदि नहीं हो सकता है, न मैंने किया है न कर सकता हूं, तो इसलिए कि उसमें सैक्स के प्रति आदर नहीं बल्कि जुगुप्सा का भाव है; मुक्त स्वीकारता नहीं है बल्कि कुण्ठाग्रस्त लालसा है, आनन्द और उल्लास नहीं बल्कि प्रतिक्रियात्मक उत्कोच और उल्लंगता है।

जहां सैक्स के प्रति हममें घबराहट है, वहीं समझ से उसका संबंध टूट जाता और विकार से जुड़ जाता है। नैतिकता वह नहीं है जो सैक्स से मन चुराती है। नैतिकता ही है जिसने विवाह-संस्कार का आविष्कार किया है और जिसके कारण मातृत्व और पितृत्व समादृत संस्था का रूप पा सके हैं। नैतिक भावना ने ही गृहस्थ को आश्रम की उच्चता दी है। क्या इस सब में सैक्स की स्वीकारता नहीं आ जाती है?

किन्तु हां, स्त्री को वारांगना भी बनना पड़ता है। आज फैशनेबल नाइट क्लबों में पैसे के बल युवतियों को निर्वस्त्र नचाया जाता है। अन्यान्य उसके भौण्डे प्रदर्शन की विधियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यहां गिनाने की आवश्यकता नहीं है। साहित्य से अतिरिक्त क्षेत्रों में भी इस अश्लील की भरमार देखी जा सकती है। पर कहना चाहता हूं कि यह सब सैक्स के अकुण्ठित स्वीकार का नहीं, बल्कि इंकार का परिणाम है। सत्कार की जगह उसमें कहीं मन का तिरस्कार दुबका हुआ है। व्यभिचार के प्रसंगों के विषय में गहरे निदान में उतरने की आवश्यकता है। तब क्या पता कि मालूम हो कि उल्लग-लास्य में जो प्राणी परस्पर लिपटे दीखते हैं, उनके बीच स्नेह-प्रीति का या किसी भी प्रकार की ममता का भाव नहीं है, बल्कि किंचित् प्रतिशोध की प्रेरणा भी है। लगभग इन सब के जीवन के प्रच्छन्न और निभृत में कोई एक मूरत है जहां वे ही अपने अन्तरतम प्रेम का अर्ध्यार्पण करते हैं। सैक्स को वहां शायद अनुपस्थित तो नहीं कहा जा सकता होगा, पर अधिकांश वहां उसका अशरीरी रूप ही अधिक संगत हुआ करता है। प्रेम की आत्मिकता में सैक्स की शारीरिकता मानो असंगत और तिरोहित हो आती है। ये बातें कोई आध्यात्मिक या तात्विक नहीं हैं, मनोविज्ञान इनके आविष्करण तक आ गया है। प्लेटोनिक प्रेम का कितना भी उपहास उड़ा लीजिए, पर अनुभव से उसकी अनिवार्यता और वास्तविकता को दूर नहीं किया जा सकता है।

अर्थात् सैक्स प्रतीक है, वह सूचनात्मक है। उस भाव को उठाकर आप चाहें तो आध्यात्म तक ले जा सकते हैं। अपने भीतर की फिसलन पर उतरें तो उसी में से नरक का निर्माण कर सकते हैं। मैं कहना चाहूंगा कि यदि सैक्स में से घोर और घृण्य का दर्शन और चित्रण ऊपर आता है तो सैक्स के प्रति वहां मान और न्याय नहीं है, बल्कि उसके प्रति भय, प्रतिशोध और अन्याय है। उस लेखन में मैं अधिकांश साहस और सत्यता की कमी देख पाता हूं, जहां जीवन क़े खुले संदर्भ में न देखा जा कर सैक्स को सारे में लीपपोत कर मानो छितरा और बिखरा दिया जाता है। खेती के लिए जो सोने का काम दे उसी को क्या चौके में बिछाने की कोई सोचता है? पर कौन घर है कि जिसमें चौका ही चौका है दूसरी सुविधाएं हैं ही नहीं। बल्कि आजकल तो शौचालय को पुस्तकालय के समान स्वच्छ रखने का आग्रह रहता है। मैं पूछना चाहूंगा कि बाजार में पैसे देकर जिसका भोग खरीदा जाता है, उसी को जीवन-संगिनी बनाने की कल्पना से क्यों आदमी कतराता है! इस प्रश्न के उत्तर में से जैसे सैक्स के सवाल का समाधान अनायास प्राप्त हो आएगा।

थीम की समस्या

क्या लेखक के सामने थीम के चुनाव की समस्या रहती है? और क्या एक ही थीम बार-बार रिपीट होने पर पुरानी नहीं पड़ जाती?

—जरूर पड़ता है। लेकिन थीम कोई स्थिर या ध्रुव ऐंसी वस्तु नहीं है जो जम जाय और प्रवाही न रहे। समय रुकता नहीं और नव-नवीन परिणतियां सामने लाता रहता है। बुद्धि द्वारा इन परिणतियों के आकलन के प्रयास में थीम बन जाता है। इस तरह थीम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपाकार तो लेता है, पर बंधता नहीं है। नई-नई घटनाएं, नई उद्भावनाएं उपजती रहती है और अपना आकलन मांगती हैं। इसी में कथाएं और किताबें एक ही व्यक्ति द्वारा एक-पर-एक आती जा सकती हैं।

किन्तु थीम शब्द मन में कुछ प्रश्न भी पैदा करता है। उसका स्वरूप क्या है? क्या वह प्लाट है? या थियरी या सिद्धान्त है? या भाव अथवा व्यथा बिन्दु है? मैं मानता हूं कि लेखक अपने-अपने ढंग से काम करते हैं और उनका प्रेरणा स्त्रोत भी भिन्न हो सकता है। जैसे मैं अपने लिए कहूं कि घटनात्मक कभी मेरे लिए लक्ष्य अथवा उपलक्ष्य भी नहीं रहा। प्लाट के चौखटे के आधार पर मेरी रचनाओं की सृष्टि नहीं हुई है। मेरे लिए वह पद्धति शक्य नहीं है। घटना-प्रसंगों की दृष्टि से मुझे मानो अंधेरे बियाबान में से बढ़ना पड़ता है। अगले कदम से आगे मानो सब एकदम धुंधला होता है। बल्कि कभी तो अंधकार सामने चट्टान सा खड़ा मालूम होता है कि जिसके पार राह नहीं। कदम एक-एक जैसे बढ़ता है, अंधेरा सरकता और संकरी सी राह निकलती जाती है। मैं अधिकांश एक ऐसी जिज्ञासा और प्रश्न से आरम्भ करता हूं, जिसका अस्पष्ट अनिर्दिष्ट सा उत्तर कुछ पहले से बुनता हुआ भीतर रहता तो है, पर रचना द्वारा जैसे उसे पक्का और परीक्षित कर लेना चाहता हूं। इसी से बाहरी और वास्तविक यथार्थ से मेरा लिखना काफी निरपेक्ष रह गया है। न वह चिन्ता ही मुझे छूती है। समय की दृष्टि से कहीं तो मेरी रचनाओं में बेहद घपला भी हो गया है। जैसे किसी ने ध्यान दिलाया कि कथा में जबका चित्र प्रतीत होता है तब जीप गाड़ी तो अस्तित्व में थी ही नहीं। पर मेरी किताब में समय पूर्व जीप हो बैठी तो ध्यान दिलाने पर भी मेरा उधर ध्यान नहीं गया है और मेरी निश्चिन्तता तनिक भी नहीं टूटी है। इसी तरह 'जयवर्धन' उपन्यास को सन् 2000 ई० से आगे इसलिए रखना पड़ा कि मैं नेहरू-गांधी को पुस्तक में ले आना चाहता था। साम्प्रतिक रखता तो रचना में उद्धृत हो न सकते थे। न व्यतीत की भूमिका देकर उनकी अवतारणा हो पाती, भवितव्य में उसकी स्थापना इसलिए हुई। अन्यथा मुझे कोई भारतीय भविष्य का खाका थोड़े उतारना था। अब एक समीक्षक ने सुझाया कि तब तो रेल गाड़ी की गति जाने कहां पहुंच जाएगी, किताब की गाड़ी की गति तो आज-दिन वाली से भी धीमी लगती है। बात उनकी सही है, लेकिन मुझे लग ही न पाई। यह मेरा हाल है जिसे दयनीय ही कहिए। कारण, अन्य प्रवीण जन हैं, जिनके थीम में इस प्रकार की तनिक भी त्रुटि होना संभव नहीं है। वे योग्य जन समाज के यथार्थ में से अपनी थीम उकेर या निखार सकते हैं, फिर बड़ी सावधानी के साथ उसके विवरणों के प्रति न्याय करते रहना आवश्यक मान सकते हैं।

अब थीम के दुहराए जाने की बात। इस संबंध में स्पष्ट है कि हर लेखक अपने अथ से इति तक स्वयं ही रहने को बाध्य है। वह अपने को ही लिखता है। जब वह स्वयं वही है, तो उसके द्वारा होने वाली अनेक रचनाओं में भी, जहां तक उसके व्यक्तित्व का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबध है क्या एक-सूत्रता व्याप्त न होगी? क्या यह न कहा जा सकेगा कि वह बार-बार अपने ही अपने को लिखता और दुहराता जाता है। इस अभियोग से मैं नहीं मानता कोई भी बरी हो सकता है। जीवन की यात्रा सतत है और यदि उसके प्रस्थान का बिन्दु नियत है तो जाने-अनजाने उसका गन्तव्य मार्ग भी नियत ही हो आता है। गन्तव्य उसे स्पष्ट नहीं होता इसी में यात्रा का रस रहता है। आनेवाला हर नया क्षण उसके आगे रहस्य की झलक देता और उत्कण्ठा जगाए रखता है। पर पार आने पर लगता है कि नहीं, भाग्य के अकाट्य तर्क की एक-एक कड़ी उसके जीवन की डोर को थामे रही है। आगे जो होगा वह भी चाहे कितना अनपेक्षित और अबूझ हो, फिर भी निश्चित है कि वह उस कड़ी की जोड़ का ही होगा। जीवन-धारा की इस सुनिश्चित अन्तस्सूत्रता को भावात्मक भाषा में रखें तो उसे आस्था की एकता कह सकते हैं। उस आस्था का स्वरूप स्वयं जीवन-पथिक के निकट जाना-बूझा नहीं रहता, फिर भी वही संबल यात्रा में उसे गतिशील और एकाग्र रखता है। लेखक की रचनाएं चाहे परस्पर कितनी भी भिन्न हों, होती वह उस आस्था के मेरुदण्ड पर आधारित ही हैं। ले देकर उसकी रचनाओं का हर थीम उस मूल आस्था और मेरुदण्ड से युक्त रहे, इससे अन्यथा नहीं हो सकता। इसमें गर्भित दोहराहट की मात्रा से बचना यों किसी के लिए संभव नहीं है। फिर भी जो घटना की नवीनता पर अधिक निर्भर करते हैं वे लगता है जल्दी निबट भी जा सकते हैं। कारण, घटना कोई है नहीं जो पहले भी न घट चुकी हो। घटना अभूतपूर्वता देती है तो उसके प्रति उदित हुई चित्त-वृत्ति की नवीन नव्यापेक्षा के कारण। मृत्यु आदि से ही होती आयी है, पर हर मृत्यु सगे-सम्बन्धियों पर यदि अनभ्र वज्र-सी पड़ती है तो इसलिए कि उनके चित्त में वह एकदम अनपेक्षित, अनचाही होती है। नयापन इस तरह दृश्य से अधिक दृष्टि में है और जो लेखक सिद्धान्त की आरूढ़ता में नहीं, किन्तु जिज्ञासा की प्रश्नशीलता में, रहता है उसके उतना ही बासी होने का कम खतरा है।

कहानी नयी-पुरानी

नई कहानी और पुरानी कहानी में क्या भेद है?

—मुझे नहीं मालूम, सिवा इसके कि नई आज छपी होती है, पुरानी कुछ अर्सा पहले। मैंने जब कहानियां लिखीं, टेरीकाट, टेरीवूल का आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिए वह कहानी ये कपड़े नहीं पहन सकती थी। आज की कहानी अगर खादी की जगह ये वस्त्र न पहने हो तो उसे कोई आज की कैसे मानेगा? तो पहरावन के और उसके अनुकूल कुछ दूसरे भी बाहरी अन्तरों के अलावा, मैं नहीं जानता कि अंतरंगता की ओर से उन दोनों में क्या भेद हो सकता है। एक तो हां, भेद है। वह यह कि कल की कहानी आज यदि किसी निगाह या जिक्र में आती तो इतना तो साफ है कि वह ये दो-चार रोज जी गयी है। आज वाली के लिए यह सिद्ध होना शेष है कि कल के लिए वह बच जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि नहीं। इसलिए सिर्फ नयेपन में मुझे विशेष लोभ नहीं हो पाता है। सबेरा होते ही नये अखबार की भूख होती। तब उससे अधिक महत्व का कुछ भी नहीं रहता। पर अगले सबेरे तक वही कागज कूड़े में स्थान पा जाता है। खबरों के साथ यही हुआ करता है। और जो साहित्य नई-नई खबरें और नये-नये चलन देता दीखता है, उसके साथ भी शायद यही व्यवहार सुगम और सही सिद्ध हो।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य क्या है? क्या वर्तमान शिक्षा प्रणाली उस उद्देश्य को प्राप्त कराने में सफल है?

—शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का वह संस्कार है जो उसे समाज और समष्टि से एक स्वर बनने और उसके हित में उपयोगी होने की प्रेरणा देता है। नहीं, आज की शिक्षा प्रणाली से वह उद्दिष्ट सफल नहीं हो रहा है।

मूल्य अर्थ-केंद्रित और गुरु किराए के

तो क्या गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली इस उद्देश्य को प्राप्त कराने के लिए उपयुक्त हो सकती है?

—गुरुकुल का मतलब गुरु का कुल ही होगा न? अर्थात् वह संस्था जिसका ध्रुवकेंद्र गुरु है। वह आज संभव नहीं है। दान की और धनार्पण की पुरातन प्रणालियां अब अवरुद्ध हैं। कमाने वाले के लिए सरकार के करों वगैरह से निबटने-बचने का काम इतना बढ़ गया है कि अर्जन के साथ विसर्जन की भावना सूख रही है। फिर आज के राजन्य-जन 'सेक्यूलर' हैं, वे गुरु के आगे क्यों झुकें? बल्कि वे उल्टे गुरु को सिखाने का दम रख सकते हैं। अतः सच्चे भाव में गुरु की संभवता समाप्त हो गयी है। यह तो सच ही है कि परिपूर्ण लाभ एक को दूसरे का तभी मिलेगा, जब शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच का संबंध अर्थाश्रित न होकर आत्मिक और पारिवारिक जैसा हो जाएगा। उस अवस्था की बात करना आज अर्तक्य लग सकता है। लेकिन जीवन व्यापी शिक्षा के लिए कुछ उसी प्रकार की पद्धति उपयुक्त ठहरेगी।

समूची सभ्यता के कायाकल्प का प्रश्न

शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त कराने के लिए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुपयुक्त है, और गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली उपयुक्त होते हुए भी अव्यवहार्य है। तो फिर क्या हो? क्या शिक्षा-प्रणाली के दोषों के कारण जो विद्यार्थी को उचित लाभ नहीं मिल पाता उसका दोष हम पर नहीं आता है? यदि आता है तो उसका हल ढूंढ निकालना भी आवश्यक है।

—शिक्षा जीवन से कोई एक अलग काटा हुआ अंग या विषय नहीं है। इस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह उस समूची सभ्यता का प्रश्न हो आता है जिसमें हम सांस ले रहे और जी रहे हैं। उस सभ्यता का ही कायाकल्प कैसे हो, असल में यह सवाल है और वह बड़ा सवाल हैं। अकेली शिक्षा की बात को लेकर शिक्षाविदों से जो बनता है वे कहते और करते हैं। सरकार की मदद में कमीशन बनते हैं और बड़े-बड़े पोथों में उनकी रिपोर्टें तैयार होती है। इसमें खर्च जो आता होगा उसका अनुमान किया जा सकता है। उसके परिणाम में कुछ छुट-पुट प्रयोग होते हों तो होते हों, शेष परिणाम शून्यवत रहता है। शिक्षण को शेष लोक-जीवन के संदर्भ से अलग करके देखने से चलेगा नहीं। आज के संबंध अर्थ से बनते और आकार प्राप्त करते हैं। यह आर्थिक संबंध हार्दिक नहीं होता, मात्र व्यावसायिक अथवा व्यावहारिक रह जाता है। स्वच्छ और सार्थक शिक्षण उस वायुमण्डल में संभव होगा जहां आदान प्रदान के परस्पर संबंध में हार्दिकता हो, अर्थाश्रित उपयोगिता मात्र ही न हो। यह बात उस सभ्यता में जो मूलतः आर्थिक है, अनायास घटित नहीं हो सकती। इसके मूलाधारों में परिवर्तन आवश्यक है। वह शिक्षाक्रम का परिवर्तन केवल गुरुओं के वश का नहीं है, उसके लिए अधिक समर्थ और समग्र व्यक्तित्व की आवश्यकता है। स्थितियां अपने वेग से शायद उस ओर बढ़ रही हैं। अणुबमों के निर्माण के साथ विश्व एक ज़िच में पड़ गया है। लस्टम-पस्टम चल रहा है, लेकिन आगे रास्ता बंद है। इस अवरुद्धता में से चेतना जगेगी, हो सकता है कि सभ्यता अपनी आधारभूत मान्यताओं का लेखाजोखा लेने की आवश्यकता पर आ जाए और एक नया मोड़ ले। विज्ञान और यांत्रिकी के विस्मयकारी विकास के साथ यह अनिवार्य ही हो गया दीखता है। पर उस प्रसंग की गहराई में यहां नहीं जाना है।

शिक्षण का नेतृत्व जीवन साधकों द्वारा

126519

क्या ऐसा नहीं संभव दीखता कि शिक्षा की स्थिति सुदृढ़ करके और लोगों को आवश्यक तथा उचित शिक्षा प्रदान करके वर्तमान आर्थिक ढांचे की काया पलट की जाए?

—हां, उस कायाकल्प में शिक्षण प्रक्रिया को यथोपयुक्त भाग लेना है। किंतु वह केवल विद्यालयीन शिक्षण न होगा, खुले मैदान का जीवन-शिक्षण और लोक-शिक्षण भी होगा। इसके लिए राजनीतिक नेतृत्व पर्याप्त नहीं है, समग्र जीवन के साधक नेतृत्व की आवश्यकता है। धर्म और कर्म दोनों आयामों में उसकी उपयुक्तता हो। व्यवहार के मार्ग-दर्शन के साथ मूलस्पर्शी तत्त्वदर्शन भी उसमें आता हो। यह शिक्षा कोमल वय के विद्यार्थियों को ही नहीं, बल्कि सब नागरिकों को प्राप्त हो तो ही कायाकल्प संभव होगा। और यह शिक्षण मात्र शब्द द्वारा होने वाला नहीं है। उसका तो प्रभाव और प्रसार एक प्रतापी और भास्वर जीवन के उदाहरण द्वारा ही विकीर्ण होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन सामान्य नेता के व्यवहार से पाठ लेगा

इस तरह की शिक्षण प्रक्रिया में योग्य आचार्यों की आवश्यकता होगी। ऐसे आचार्य जो आचारवान, नैतिक और यज्ञ की भावना से अध्यापन कार्य करने को उद्यत हों। अगर ऐसे आचार्य उपलब्ध हों तो शिक्षा का रूप बदल सकता है। दूषित शिक्षा का एक बड़ा कारण ऐसे आचार्यों का अभाव है।

—ठीक है। लेकिन उन आचार्यों का भरण-पोषण कहां से हो? यदि जीविका वेतन के रूप में मिलती है तो जहां से वेतन-धन आता है, वहीं निदेशाधिकार भी पहुंच जाता है। विसर्जन की प्रणालियां यदि समाज में नहीं रहती हैं और सरकार के अनुदान से आचार्यों का प्रतिपालन होता है तो उस वायुमण्डल में हार्दिकता के लिए स्थान नहीं रह जाता। आचार्यों से अलग से यह मांग करना कि वे इस अर्थ चक्र से अछूते रह कर काम करें, बहुत न्यायोचित न होगा।

किस बिंदु से समाज-परिवर्तन का कार्य आरंभ हो, यह निर्दिष्ट करना कठिन है। न दोष को ही मात्र आचार्यों के प्रति डाला जा सकता है। बुराई सभ्यता के समूचे शरीर में व्याप्त है। अतः जहां आत्म-चैतन्य जागे, वहीं से उसका उपचार आरंभ हो सकता है। अपेक्षा प्रथमतः उनसे होगी जो लोक-नेतृत्व पर आसीन हैं। सामान्य जन उनके व्यवहार से अपना पाठ प्राप्त करते हैं।

भाषण और साहित्य

प्रचार के दो प्रमुख साधनों व्याख्यान और साहित्य में से कौन अधिक प्रभावकारी होता है? क्या प्रचार के लिए ये दोनों आवश्यक हैं?

—प्रभाव के विस्तार के लिए एक तो आयाम देश और क्षेत्र है। दूसरा है, समय अथवा काल। इन देश और काल की दिशाओं में दो माध्यमों का अलग-अलग और सापेक्ष प्रभाव होता है। बोला हुआ शब्द अक्सर तत्काल के प्रयोजन से जुड़ा रहता है। वह कर्मोन्मुख विशेष होता है। लेखांकित शब्द में उद्देश्य तात्कालिक प्रयोजन के पार भी हो सकता है। सृजनात्मक लेखन में एक तलाश होती है, जो कर्मोन्मुख की जगह आत्माभिमुख होने लगती है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं 'डूइंग' और 'बीइंग'। बोले और लिखे शब्द के ये दो भिन्न उपयोग-क्षेत्र माने जा सकते हैं। 'डूइंग' विस्तार की ओर बढ़ता है, इसमें से जागतिक सफलता या प्रभावकता फलित होती है। इसे राजनीति और रणनीति का क्षेत्र कहिए है। इस क्षेत्र की प्रभविष्णुता में आतंक के तत्व भी होते हैं। अर्थात् इसमें एक का प्रभाव दूसरे को मंद और हीन बनाता है। यह प्रभाव क्षेत्र-विस्तार में कितना भी प्रबल हो पाता हो, पर समय के साथ क्षीण और लुप्त होता जाता है।

लिखित शब्द, यदि और जब सृजनात्मक हो तो, आत्मावगाहन में जाता और हृदय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उतरता है। उसका प्रभाव अपने को उठाने और दूसरे को बुझाने का कारण न होकर हर दूसरे के चित्त-चैतन्य को जगाने में सहायक होता है। उसमें एक ऋजुता और निष्कामता होती है जिसके कारण संभव है कि उसका प्रभाव तत्काल दूर तक न फैले और अपनी भाषा तक ही सीमित रह जाए। लेकिन इस प्रभाव को समय काट नहीं पाता और वह इतिहास में अंकित होने लगता है। इसकी प्रकृति हार्दिक और सांस्कृतिक होती है। काल के साथ वह क्षय नहीं पाता, बल्कि उत्तरोत्तर उसके अधिकाधिक उजागर होने की संभावना ही बढ़ती है।

बोले शब्द का प्रभाव

मनुष्य को कर्म-प्रवृत्त करने में बोला गया शब्द जल्दी और अधिक काम आता है। मंच और प्लेटफार्म से हजारों हजार आदमियों को एक हुंकार में प्रोत्तेजित और गठित किया जा सकता है। लिखे और एकांत में एक-एक के द्वारा पढ़े जाने वाले शब्द का सीधा भीड़ से संबंध नहीं होता, उसका संबंध प्रत्येक के अन्तःकरण से बनता है। इसलिए यह गहरा उतरता और कर्म-प्रवृत्ति से अधिक आत्म-संस्कृति में साधक होता है।

अखबार एक का माध्यम है। उसमें शब्द, लिखित और मुद्रित होने पर भी, मुखरता और वाग्मिता का वाहन है। वह राजनीति का साधन है। अखबार सबेरे के लिए जितना आवश्यक लगता है, शाम आते-आते उतना ही अनावश्यक हो जाता है। साहित्य अथवा धर्म-शास्त्र के साथ ऐसी बात नहीं है। हजारों हजार वर्ष पहले के शास्त्र और क्लासिक माने जाने वाले ग्रंथ अगर आज भी बड़े चाव से पढ़े-सुने जाते हैं तो कारण यही है कि उनके शब्दों में कर्म से अधिक धर्म की प्रतिष्ठा है। घटना की सृष्टि से अधिक भावना की परिष्कृति की ओर उनका ध्यान और ध्येय है।

धर्माभिमुख शब्द

स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अखबार का शब्द बोला नहीं, लिखा ही होता है। ऋषिप्रणीत गाथाओं के बारे में उल्टे सिद्ध और प्रसिद्ध हैं कि वे वाणी द्वारा उद्गीर्ण हुई थीं, बाकायदा कलम स्याही से लिखी शायद नहीं गई थीं। फिर भी पहला शब्द काल में खो जाता है, दूसरा ही आयु पाता और काल को जीतता हुआ टिक पाता है। अर्थात् बोले और लिखे की परिभाषा स्थूल ही माननी चाहिए। समझ यह लेना चाहिए कि अन्योन्मुख अथवा कर्मोन्मुख शब्द बाह्य-विस्तार की चाहना रखता है, तो वह धर्माभिमुख अंतर्मुख शब्द है, जो कालाधीन नहीं होता और अमरता में जीता है।

भाषण की कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

व्याख्यान करने वाला कभी-कभी यह देखकर निराश हो उठता है कि उसकी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातों का असर जनता पर नहीं के बराबर पड़ रहा है। वह जहां थी वहीं है, उसमें अभीष्ट हलचल नहीं हो रही है। तो जनता पर यदि प्रभाव नहीं पड़ता है तो उसका कारण क्या हो सकता है? क्या प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि व्याख्यानदाता चरित्रवान और नैतिक हो, या कि यह आवश्यक है कि वह व्याख्यान की कला में माहिर हो?

—व्याख्यान की कला और व्याख्याता का चरित्र, ये दोनों परस्पर असंगत नहीं प्रत्युत संगत तत्व हो सकते हैं। हुनर और जीवन दोनों का ही प्रभाव में योग है। पर ये दोनों कोई परिवेश की समग्रता से निरपेक्ष गुण नहीं होते। मानिए कि परिस्थिति में मांग पराक्रम की है, तो उसके अनुसार व्याख्याता के व्यक्तित्व में भी निर्भीकता की झलक होनी चाहिए। चरित्रवत्ता हो सकती है और वैसा व्याख्याता अपनी चरित्रशीलता के बावजूद प्रभावहीन रह जा सकता है। उसी तरह वक्तृत्व की कला का प्रश्न है, जो श्रोताओं की भीड़ की तात्कालिक चित्तवृत्ति से मेल खाती होगी वही कला काम आएगी, नहीं तो उसकी चोट लौटकर व्याख्याता के सिर पर भी पड़ सकती है। अर्थात्, तात्कालिक प्रभाव का मुख्य आधार श्रोता और वक्ता के मनोभावों और मतोवेशों का तारतम्य होता है।

एक और तत्व है जिसको भाषा या परिभाषा में बांधना कठिन है। कला और चरित्र इन दोनों ही शब्दों की व्याप्ति में वह नहीं आता। उसे सत्यता और निर्भयता कह सकते हैं। इस भयातीतता को उद्धतता और उद्दंडता के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। सत्यता के साथ चलने वाली निर्भीकता में दर्प-दंभ नहीं होता, बल्कि अनायासता और एक निरीहता होती है। इस वस्तु का प्रभाव भीड़ के मनोभावों की प्रतिकूलता को भी जीत ले सकता है। यह ड्रामेटिक असर एक अलग चीज है और इसके विचार को सामान्य प्रभाव की गणना से बाहर ही रखना होगा।

शिक्षालयों का श्रेणी-भेद

शिक्षा में सुधार करने के लिए कुछ लोगों का विचार है कि सभी विद्यालयों को एक समान होना चाहिए। कुछ विद्यालय ऐसे हैं जिनमें विशेष सुविधाएं हैं और वहां केवल अमीरों के बच्चे ही शिक्षा पा सकते हैं क्योंकि वे काफी खर्चीले हैं। अगर इन विद्यालयों में इस तरह श्रेणी विभाजन न होता और आम विद्यालयों में अमीरों और अफ़सरों के लड़के भी पढ़ते तो वे उन विद्यालयों में आवश्यक परिवर्तन और सुधार कराए बिना नहीं रह सकते थे। क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

—विद्यालयों में सामाजिक श्रेणियों वाली-ऊंच-नीच का होना साफ ही उचित नहीं है। वैसा भेद मिट जाए तो कुछ तो लाभ हो। लेकिन शिक्षा का प्रश्न उससे कहीं व्यापक है और इस पर से सुधार से क्या विशेष परिणाम आ जाने वाला है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षकों के सामने एक बड़ी समस्या यह है कि उन्हें प्रतिवर्ष एक ही विषय पढ़ाने पड़ते हैं। उनका कहना है कि पहले और दूसरे वर्ष तक तो पढ़ाने में आनंद आता है। लेकिन जब एक ही विषय बार-बार दुहराने पड़ते हैं तो पढ़ाने में वह उत्साह नहीं रह जाता। उनकी इस समस्या के निराकरण के लिए क्या आप कोई सुझाव देंगे?

पाठ्य ग्रंथ नहीं, विद्यार्थी लक्ष्य हो

—विषय तो प्राध्यापक का इसलिए एक ही होगा कि वह उसी विषय का विशेषज्ञ है और यह भी सही है कि यदि वही पाठ्य पुस्तक उसे पढ़ानी होती है तो ढर्रा बन जाता है और पढ़ाई में सजीवता नहीं रहती। पर यदि पाठ्य ग्रंथ की जगह स्वयं अध्यापक के लिए विद्यार्थी ही लक्ष्य हो, पाठ्य के रूप में भी पुस्तक बस सहारे भर के लिए रह जाए, तो पढ़ाई सजीव हो आती दीखेगी। तब पुस्तक का शब्द जड़ नहीं रह जाएगा और उसी के उपलक्ष्य से नए-नए अर्थ के पर्याय सूझने लगेंगे। तब पढ़ाई की रूढ़ता और जड़ता दूर हो जाएगी और अध्यापन रुचिकर कार्य हो आएगा।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. अश्लीलता और कला

- अश्लीलता का अर्थ और बीज
- प्रकृति और संस्कृति
- सिनेमा का प्रभाव
- अंकुश का खतरा
- सृष्टि का मंत्र
- कला और थैली का लोभ

अश्लीलता और कला

अश्लीलता क्या है ? क्या आपके अनुसार अश्लीलता की परिभाषा को समय-समय पर बदलते रहना चाहिए ? आज से लगभग 100 वर्ष पहले डा० एनी बैसेन्ट को मात्र गर्भ निरोध के साधनों का समर्थन करने के अभियोग में दण्डित किया गया था। क्योंकि उन्होंने ऐसा करके अश्लीलता को प्रोत्साहन दिया था। लेकिन आज गर्भ निरोध के साधनों का खुले आम समर्थन और प्रचार हो रहा है। इसी तरह कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जिन पर अश्लील का चार्ज लगाकर बेचने और छापने की मनाही है। क्या चित्रकार, साहित्यकार, नृत्य कलाविद् आदि अपनी कलाओं के प्रदर्शन में इस बात का ध्यान रखें कि कहीं हमारी कला अश्लील तो नहीं हुई जा रही है ? और क्या ऐसा करना उनके वश की बात है ?

—प्रश्न के निराकरण में एक कठिनाई है। वह यह कि रोक उस पर हो सकेगी जो बाहर दृश्य की पकड़ में आएगा। पर मुझे लगता है कि अश्लीलता की जड़ कहीं है तो भीतर भाव में है। इसलिए अश्लीलता के प्रश्न पर कानून का काबू पूरा बैठ नहीं पाता। अश्लीलता की परिभाषा करने में जो दिक्कत आती है उसे टाला नहीं जा सकता। आवश्यक मानकर परिभाषा जो भी बनाई जाएगी वह अन्त तक सही नहीं उतर पाएगी।

यह ठीक है कि धारणाओं में परिवर्तन आता है। शायद उनमें अनिवार्यतया विकास होता रहता है। शायद हम नग्न सत्य की स्वीकारता की दिशा में बढ़ते जा रहे हों, पर ध्यान रखना होगा कि जिसको यथार्थ कहते हैं वही सत्य नहीं है। सत्य प्रकृति तक ही नहीं है, संस्कृति में भी वह व्याप्त रहता है। संस्कृति शब्द में प्रकृति का ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं है, बल्कि उसके संस्कार की अनिवार्यता का भी संकेत है। अर्थात् जन-व्यवहार में मर्यादा की आवश्यकता रहेगी ही, मनमानापन नहीं चल सकेगा। यहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

अश्लीलता का प्रश्न आता और उसकी रोकथाम का विचार आवश्यक बनता है।

कला धर्माभिमुख हो

माना जाता है कि समाज में सामान्यतया चलने वाले नियम की मर्यादा कला के क्षेत्र में प्रयुक्त नहीं हो सकती। कला के लिए अधिक छूट रहनी चाहिए। मैं इससे विशेष सहमत नहीं हो पाता हूं। कला तभी छूट की अधिकारिणी हो सकती है, जब वह धर्माभिमुख हो। तब कला में एक अतिरिक्त आयाम का समावेश होता है। जीवन के प्रति एक समादर का भाव उस कला में दीख पड़ता है। तब जिसे वासना कहते हैं उसका स्थान कला में कम, या नहीं, रहता। मानव शरीर जहां विस्मय, रहस्य और अर्चा का भाव उत्पन्न करता हो वहां उसकी नग्नता जुगुप्सा नहीं उपजा सकती है। इस मनोभाव में से दिगम्बरत्व तक का आदर्श प्रस्तुत हो सका है। उस आदर्श पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकी। गांधी के प्रति दुनिया में पूज्य भाव है और वह प्रत्यक्षत: उस आदर्श की ओर बढ़ रहे थे।

नग्नतावाद : अंकुश और खतरा

किन्तु आज के न्यूडिज्म (नग्नतावाद) का उतना नि:शंक समर्थन नहीं किया जा सकता है। वहां धर्म भावना की आश्वस्ति नहीं है। न्यूडिस्ट उपनिवेशों के बारे में सुना है कि वहां स्वच्छता और पवित्रता रहती है। होगी, मुझे उसका कोई सीधा परिचय नहीं है। लेकिन मेरा अनुमान है कि वहां हल्की रंजकता और वासना का भी स्पर्श रह सकता होगा। यदि ऐसा हो तो धर्माभिमुख कला जितनी छूट उस रंजकता को नहीं दी जा सकती है।

अर्थात् कला शब्द अपने आप में स्वयं-सिद्ध या स्वयं-पवित्र नहीं मान लिया जा सकता है। कला अधोमुखी भी हो सकती है। उस पर समाज की ओर से अंकुश न आए तो सामाजिकता ही खतरे में पड़ जाती है। इसलिए उस प्रकार का अंकुश अनिवार्य होता है।

किन्तु हर बाह्य अंकुश में खतरा भी है। रोग के साथ जीवन के स्वास्थ्य पर भी वह अंकुश आघात दे सकता है। इसलिए ऐसे अंकुशों की आवश्यकता एवं अनावश्यकता पर विवाद चलता रहता है और हर निर्णय तात्कालिक ही रह पाता है, उसे चिरस्थायी नहीं बना दिया जा सकता।

अश्लीलता का बीज नीयत में

बाह्याचार के संबंध में जब-जब हम नियमादेश का निर्माण करते हैं तो मालूम होता है कि वह विधान पर्याप्त नहीं ठहर पाता है। कारण, भाव को वह छू नहीं पाता, कृत्य पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही वह टूटता है। किंतु अश्लीलता की प्रस्तुति नीयत और तबीयत से होती है जो परिभाषा में आ नहीं सकतीं, न जिन्हें दण्ड के अधीन बनाया जा सकता है। जैसे कि मानिए चुम्बन के दृश्य को पट पर हम निषिद्ध कर देते हैं, पर चुम्बन को बचाकर क्या ऐसे हाव-भाव प्रदर्शित नहीं किये जा सकते जो और भी गर्हित और भद्दे लगें? वैसा सचमुच भारतीय चित्रपट में होता है और सेंसर बेकार रह जाता है।

रोकथाम के सब प्रयत्नों के बावजूद अश्लीलता जो रुक नहीं पाती है तो इसी कारण कि वह कृत्य पर निर्भर नहीं है। आंतरिक भाव नाना इंगितों और संकेतों से अपने को प्रगट कर सकते हैं। इसलिए यह प्रश्न उतना ऊपरी नहीं है, जितना भीतरी है। अर्थात् अभिरुचि का जैसे-जैसे विकास होगा, प्रश्न की जटिलता स्वत: उतनी कम होती जाएगी। ऊपरी कड़ाई से परिणाम उल्टा भी आ सकता है। मुझे प्रतीत होता है कि नैतिक उपदेश-आदेश की अति की ही प्रतिक्रिया है जो वाक्‌पट पर आज खुली खेलती दिखाई देती है।

समाज का आधार : रागात्मक संबंध

पहले समाज की कड़ी निगाह थी और आपसी संबंधों में उसका पूरा दखल था। प्रतिक्रिया स्वरूप आज 'परमिसिव सोसायटी' का चलन है, जो समलिंगी मैथुन को भी दर गुजर कर जाती है। गर्भपात, भ्रूण हत्या आदि को कानूनी समर्थन मिल रहा है। मुझे लगता है कि जीवन में आस्था और उसके समादर का भाव हमारे भीतर जितना शिथिल होता है, उतनी ही बाहरी नियम-निर्देशों की आवश्यकता बढ़ती है। यम-संयम व्यक्तित्व के भीतर से ही काम करते हैं : उनका आधार न रह जाए तो बाहर के निषेध-नियम उतने परिणाम-कारक नहीं होते, बल्कि वे सतह के नीचे की भ्रष्टता में और मदद कर जाते हैं।

हममें एक दूसरे के प्रति मान आदर हो सकता है, और लोभ लालच भी हो सकता है। जो असंभव है वह है, परस्पर में भाव-शून्यता। आपसी रागात्मक संबंध के बिना समाज बन नहीं सकता, टिक नहीं सकता। प्रश्न उस रागात्मकता के प्रकार का है। यदि मान-आदर है तो वह संबंध स्वच्छता और स्निग्धता लाएगा। उसकी जगह अगर लोभ-लालसा है तो उन संबंधों में अश्लीलता और वीभत्सता प्रगट हुए बिना न रहेगी।

प्रश्न कानूनी रोकथाम से अधिक समूचे जीवन-संस्कार का

मैं मानता हूँ कि स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण में एक दैवी भाव विद्यमान और प्रवर्तमान रहता है। हममें यदि उसके प्रति भय-संशय का भाव हो तो वह वर्जनाओं को जन्म दे आता है। यहीं से जो सहज है, उसमें कामुकता उत्पन्न होती है और जो आकर्षण जीवन को उदात्त बनाने के लिए सृष्ट हुआ था, वह घोर और घृण्य बन जाता है।

इसलिए अश्लीलता का प्रश्न कानून की रोकथाम से अधिक समूचे जीवन संस्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रश्न है। और उसी व्यापक संदर्भ में हमें उसका विचार करना चाहिए। केवल तात्कालिक रूप में उसका निराकरण पा लेना संभव न होगा।

कलाकार को बाँधा नहीं जा सकता

कलाकार अश्लीलता को बचाने के लिए उसके किसी सूत्र या नियम को ध्यान में रख कर कला-सृष्टि नहीं कर सकता। करेगा तो वह अपने प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। कारण, कला यदि कुछ है तो आत्माभिव्यक्ति है। साहित्यकार या कलाकार को भीतर जो मथ रहा है, कलाकृति में बाहर आएगा तो वही आ पाएगा। बाहर वह आता है जो भीतर है ही नहीं तो ऐसी कृति झूठी होगी। और यदि भीतर लिप्सा-लालसा है तो किसी सूत्र के सहारे कला में आ झलकने से उसे बचा जाना संभव न हो सकेगा। सीधे नहीं तो आड़े-तिरछे इंगित से वह असलियत व्यक्त होगी। इसलिए कला के उत्कर्ष में भाव-संस्कार ही विश्वसनीय हो सकता है, आरोपित धारणायें उतनी कारगर नहीं होगी। अतः उस संबंध की मर्यादाएं सृष्टा, साहित्यकार अथवा कलाकार पर लादना संभव न होगा। समाज में नैतिक स्वास्थ्य की रक्षा के निमित्त किया इतना भर जा सकता है कि हम अमुक कृति को अमान्य ठहरा दें। वह बंधन कला अथवा कलाकार पर न होगा, केवल अमुक कृति पर लागू हो सकेगा। कला-सृष्टि तो निर्बन्धता की स्थिति में ही संभव है। यदि और किसी कारण नहीं तो इसी कारण कि वह सृष्टि है, संयोजन नहीं है। उस कृति के साथ समाज फिर अपना क्या संबंध बनाता है, यह अवश्य उसके निर्णय और नियंत्रण के अन्तर्गत हो सकता है।

कौटुम्बिक सुरुचि पर प्रहार : अश्लीलता

चुम्बन, संभोग आदि रति-क्रियाएं प्राकृतिक और स्वभाविक हैं। तो जो होता और किया जाता है उसका चित्रण या वर्णन क्यों नहीं होना चाहिए? उस पर प्रतिबंध लगाना या उसके प्रचारक तथा कलाकार को दोषी ठहराना कला का अपमान करना है। उसे गुप्त रखने का क्या अर्थ है? क्या यही नहीं कि हम सत्य से मुंह छिपाना चाहते हैं?

—अश्लीलता का दोष जानवरों पर तो लगाया नहीं जा सकता। मानव समाज में यदि उस शब्द का आविष्कार हुआ है तो इसलिए कि वह निरा पशु नहीं है। मैथुनी सृष्टि के अंतर्गत तो वह भी आता है, लेकिन मनुष्य और पशु में प्रकृति की ओर से नहीं तो संस्कृति की ओर से अनिवार्य अंतर है। बल्कि यह कहना अधिक सही होगा कि मानव-प्रकृति पशु-प्रकृति से इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें संस्कृति का विकास संभव और अनिवार्य है। मनुष्य पशु की भांति प्रकृति का शिकार नहीं है, मात्र उसके अधीन नहीं है, बल्कि उस पर प्रभुता प्राप्त करने के पुरुषार्थ के लिए है। उसी पुरुषार्थ में से संयम, साधना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि की उसने सृष्टि की और ब्रह्मचर्य के आदर्श का निर्माण किया है।

काम तो एक मौलिक शक्ति की आंशिक अभिव्यक्ति का नाम है। वह मूल शक्ति प्रेम है। प्रेम की गवेषणा और उपलब्धि में मनुष्य काम-चेष्टा से उत्तीर्णता भी प्राप्त कर सकता है। पुरुष के पुरुषार्थ की दिशा वही माननी चाहिए। धर्म पूर्वक यदि हम काम को स्वीकार करते हैं तो वह मोक्ष की दिशा की प्रगति में हमारा सहायक हो सकता है। आखिर विवाह धर्म-संस्कार है। विवाह द्वारा प्रकृत काम को हमने सुसंस्कृत पुरुषार्थ में परिणत करने का उपाय निकाला है। दाम्पत्य संबंध कामुकता की पूर्ति मात्र के अर्थ नहीं हैं, उसमें सामाजिक दायित्व का भी सन्निवेश है। इस प्रकार मनुष्य ने परिवार की सृष्टि की, जो समाज की संरचना की बुनियादी इकाई है।

सृष्टि का मंत्र और विवाह संस्कार

अश्लीलता इस तरह पारिवारिक रचना पर, हमारी कौटुम्बिक सुरुचि पर, एक प्रहार है। पहले भी कहा कि प्रश्न कृत्य का नहीं, भाव का है। स्त्री-पुरुष संगम में सृष्टि का मंत्र निहित है और उसको विवाह द्वारा गार्हस्थ्य संस्कार से हम अभिषिक्त कर लेते हैं। उससे उसमें एक पावित्र्य का भाव आ जाता है। उस समागम द्वारा संतति को माता और पिता प्राप्त होते हैं। इसमें कहीं भी कुछ अश्लीलता के लिए अवकाश नहीं रहता। बल्कि उसके साथ सामाजिक उमंग और उल्लास का भाव आ मिलता है। किंतु अश्लील चेष्टा के लिए स्त्री-पुरुष में स्पर्श आवश्यक नहीं है, निगाह तक से अश्लीलता प्रगट हो सकती है। जहां लोलुप लालसा मात्र है, किसी दायित्वशीलता का परस्पर अभाव है, वहां यदि मनुष्य को जुगुप्सा का अनुभव हो और अश्लीलता दुर्गंध दे आये तो उसमें अन्यथा क्या है?

अश्लीलता : सत्य की प्रतारणा

स्त्री-पुरुष समागम के तथ्य का सत्य में समावेश हो सकता है। पर अश्लीलता की सृष्टि तब होती है, जब इस सत्य में हमारी ओर से असत्य का भी सम्मिश्रण हो जाता है। अश्लीलता के लिए एक मिथ्याचार आवश्यक है। उसमें अपने साथ का एक छल विद्यमान रहता ही है। अश्लीलता वहां है जहां अकुण्ठित स्वीकारता नहीं है, बल्कि दुराव-घुमाव भी है। इस छल के मिथ्यात्व के बिना अश्लीलता संभव नहीं है। आप दिखाते इसलिए नहीं है कि दिखाना चाहते हैं, न-उघाड़ने के नीचे से मानो उघाड़ने का यत्न उघड़ा रहता है। वस्त्र ऊपर यदि हैं तो इस तरह कि नग्नता की कल्पना को आमंत्रित कर रहे हों। यह दोहरा छलना का भाव ही अश्लीलता की सृष्टि करता है। आप देखें कि वहां सत्य की स्वीकृति नहीं है, बल्कि उसकी प्रतारणा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाकथित आधुनिकता : यथार्थ पर चढ़ा मुलम्मा

काम को जब हम सहज और प्रकृत रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि अपनी लोलुप आसक्ति से उसमें अतिरिक्त चस्का और जायका डालने के लिये साथ छल-छद्म जोड़ देते हैं तब अश्लीलता उपज आती है। यह अतिरिक्तता पशु के वश की नहीं है, मनुष्य ही इसकी ईजाद कर सका है, और वह इसकी शेखी भी मान सकता है। अश्लीलता में इस शेखी का स्वाद भी मिला हुआ होता है और इसीलिए समाज के ऊंचे संभ्रांत माने गए वर्गों में अश्लील का चलन ज्यादा पाया जाता है। यह आधुनिक सभ्यता की उपज है और इसलिए विचारणीय है कि वह सभ्यता सभ्यता है भी कि नहीं? उस अश्लीलता के खेल में शराब और दूसरे अन्य उपायों से हम तरह-तरह की रंगीनियों और सपनों का संसार निर्माण कर आते हैं। उस प्रकार यथार्थ का आदर नहीं करते हैं, बल्कि उस यथार्थ को मुलम्मा देकर अयथार्थ बनाने का आग्रह रखते हैं। स्पष्ट है कि यह चेष्टा सत्य की स्वीकृति की ओर हमें नहीं ले जाती, बल्कि उससे दूर ही हटाती है। परिणाम यह कि स्त्री जो परिवार की अधिष्ठात्री हो सकती थी, निरी वार-वनिता बनकर रह जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें जीवन की हानि ही है, संपन्नता नहीं है। रम्य स्वप्न की सृष्टि करके हम अपने को केवल ठगते हैं और जीवन की चुनौतियों से बचकर मानो मिथ्या की शरण लेते हैं। इसीलिए अश्लीलता को दर गुजर नहीं किया जा सकता, और उससे उठना आवश्यक समझा जाता है।

स्वयं काम में उसके अस्त के तत्व गर्भित

अभी आपने कहा कि अश्लील चेष्टा के लिए स्त्री-पुरुष स्पर्श भी आवश्यक नहीं है, निगाह तक से अश्लीलता प्रगट हो सकती है। तो अश्लीलता और अश्लील चेष्टा को कभी रोका नहीं जा सकता, क्योंकि अश्लीलता का उद्‌गम अन्दर काम में है। मनुष्य की काम-वृत्ति को इससे संतुष्टि प्राप्त होती है तभी तो वह ऐसी चेष्टाएं करना और देखना चाहता है? मैं समझता हूं कि सेक्स-संतुष्टि के लिए ये अश्लील चेष्टाएं आवश्यक हैं। कलाकार को तो आप रोक देंगे लेकिन कला का जो उद्‌गम स्थान काम है; उसको कैसे रोकेंगे? और क्या वह रुक भी सकता है?

—रोकने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि उसका उन्नयन हो सकता है। मुझे लगता है कि अश्लील चेष्टाओं के नीचे किंचित् कामावरोध भी रहता होगा। काम आंशिक प्रेम की विवशता में से स्फुटित होता है। किंतु अंश अपने में तुष्ट हो नहीं सकता, पूर्ण की चाह उसमें रहती ही है। इसीलिए काम में स्वयं कामोत्तीर्णता के बीज देखे जा सकते हैं। कामातुरता की स्थिति एक है, काम-तृप्ति के बाद की स्थिति बिल्कुल उससे उल्टी होती है। तृप्ति के बाद एक ऊब और उबास सी जो होती है वह किस की परिचायक है? इसी की न कि आकांक्षा का संधान, जो पाया उसके पार था। भोग के गहरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मानो योग की आकांक्षा गर्भित थी। अर्थात् काम के उत्तरोत्तर प्रेम और ब्रह्मचर्य में परिणत होते जाने को मैं स्वाभाविक नहीं बल्कि अनिवार्य प्रक्रिया मानता हूं। इसलिए अश्लीलता को भी मैं उस प्रकार आवश्यक और अनिवार्य नहीं कह पाता हूं। खाने को मसालेदार और चटपटा बनाए बिना किसी की रसना यदि मानती ही नहीं है तो उस व्यक्ति को सुरुचि का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। स्वस्थ मनुष्य की रुचि अपने आप उस चस्के से ऊपर उठ आती है। भोजन स्वास्थ्य के लिए जरूरी है, इसमें से यह आशय निकालना गलत होगा कि चटपटापन भी जरूरी है। कहना यही होता है कि चटोरपन हल्के आदमी में ही पाया जा सकता है और उस स्तर पर रहना मनुष्य का भाग्य नहीं है। मनुष्य की प्रकृति में ही अंतर्हित दीखता है कि वह उस प्रकृत दिव्य स्तर की दिशा में उठ ही जाएगा। उस उत्थान की प्रक्रिया की राह में नाना विकार और विपर्यय दीख सकते हैं, दीख ही रहे हैं। लेकिन उनमें उलझे रहना मनुष्य के पुरुषार्थ को स्वीकार्य नहीं हो सकता और अश्लीलता उसके लिए सदा ही गर्हित रहने वाली है।

अश्लीलता का उद्गम स्थल, संदर्भ सदा अपेक्षित

प्रश्न अश्लीलता के उद्गम स्थल का है। अश्लीलता जो अन्दर से आती है और बाहर तरह-तरह से प्रगट होती है, तो बाहर की रोक थाम से क्या अश्लीलता के उद्गम-स्थल, अर्थात् मूल काम पर असर पड़ेगा? या इलाज कहीं और है?

—बाहर की रोक थाम अंदर उल्टी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न कर सकती है, चाहे सामाजिक तल पर वह आवश्यक ही क्यों न हो। रोग का वास्तव निदान और उपचार वहां नहीं मिलेगा।

किंतु विश्व की संरचना विलक्षण है। विज्ञान की कक्षा में मुझे पहली बात बताई गई तो यह कि नष्ट कुछ नहीं होता। जो है वह नष्ट नहीं हो जाता, मात्र उसका परिणमन हुआ करता है। हमारे शरीर में से मल बाहर जाता है, किंतु वही सुनहरी खाद बनता और हमारे लिए अन्न, शाक, फल आदि उपजाने में साधक होता है। शरीर से हम अपने स्वास्थ्य के लिए जिसे विसर्जित करते हैं, अपने स्वास्थ के निमित्त खेती के खाद्य (खाद) के रूप में उसी का फिर उपार्जन करते हैं।

यही प्रक्रिया कला की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति में देखी जा सकती है। पौधा कीच में से उगा है, लेकिन उसी के शीर्ष पर यह कैसा स्वर्गोपम सुन्दर पुष्प खिल आया है। दोनों में कोई रूप-साम्य नहीं दीखेगा, फिर भी इन दोनों में क्या एक ही रस-संचरण की अभिन्नता नहीं है? उसी तरह उद्गम वही है, लेकिन वहां से यदि कुरुचिपूर्ण अश्लील उगता है तो वहीं से भव्य-दिव्य की भी सृष्टि हो सकती है। यहां कुछ नहीं है जो अनावश्यक और अनुपयोगी है। केवल संदर्भ की उपयुक्तता है जो अपेक्षित है। घर में जो विष्ठा है वही खेत के लिए सोना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुझे लगता है कि सच्चे अध्यात्म के लिये यह दृष्टि परमावश्यक है। वह पवित्रतावाद जो मन में और समाज में छुआछूत की सृष्टि कर आता है, मिथ्या में से उदित और मिथ्या में ही फलित होने को बाध्य है।

सिनेमा का प्रभाव

चित्रपट (सिनेमा) के बारे में आपका क्या विचार है? क्या फिल्मों में दिखाई जाने वाली घटनाओं का प्रभाव मानव-मन पर गहरा पड़ता है? क्या कभी-कभी मनुष्य अपना निर्णय भी वहीं से प्राप्त करता है? देखने में आता है कि बच्चों और युवक, युवतियों को चित्रपट ने काफी प्रभावित किया है और वे उधर बड़ी तेजी से झुकते जा रहे हैं। सिनेमा के अश्लील गाने मन चले नवयुवकों की जबान पर थिरकते सुनाई देंगे। बच्चों का यह हाल है कि वे बिना समझे-बूझे सिनेमा के गानों को उसी टोन में जहां-तहां गाते दिखाई देते हैं। इस तरह सिनेमा जहां एक तरफ मनोरंजन का साधन बना हुआ है वहां दूसरी तरफ समाज में विकृति भी पैदा करता जा रहा है। फिल्म निर्माताओं के सामने भी यह समस्या है। लेकिन वे मजबूर हैं इस बात से कि बिना नाच-गाने की कोई फिल्म सफल नहीं हो पाती। अश्लीलता और सैक्स फिल्म को चलाने के लिए आवश्यक है।

—चित्रपट के प्रभाव के बारे में आपके प्रश्न में ही उत्तर आ जाता है। प्रभाव स्पष्ट और व्यापक दीखता है। इसमें दो राय का सवाल नहीं है। कथ्य उतना सीधा सुलभ नहीं होता जितना दृश्य बनकर वही आदमी को छू जाता है। इसलिए शब्द-पुस्तक तात्कालिक प्रभाव के पक्ष में चित्र-कथा से हार जाती है। कच्ची वय के लड़के-लड़कियां, या उस मानसिक स्तर के अन्य स्त्री-पुरुष, चित्रपट से सीखते और संकेत लेते हैं और उनका जीवन कई प्रकार से उसी दिशा में ढलने लग जाता है।

फिसलन का स्वाद

अब प्रश्न रह जाता है उस प्रभाव के अभीष्ट या अनभीष्ट दिशा में होने का। आम अनुभव है कि चढ़ना मुश्किल होता है, फिसलना आसान। बाल-बालिकाओं में आपने देखा होगा कि बच्चे सीढ़ियां चढ़ने का श्रम चाव के साथ इसलिए उठाते हैं कि ऊपर से फिर नीचे फिसलकर आने का आनंद ले सकें! यह फिसलन पर नीचे आने का स्वाद बच्चों-किशोरों तक ही सीमित नहीं रह जाता, जन-साधारण में भी उसका बीज है।

जिनकी निगाह अर्थ-लाभ पर हो वे उस अधोवृत्ति का लाभ क्यों न उठाएंगे। यदि फिल्म के क्षेत्र में वैसा हो रहा है तो अचरज नहीं है। वह क्षेत्र है ही प्रदर्शन का। अंग्रेजी में शब्द चलता है 'शो-बिजनेस'। उस बिजनेस में समाज के प्रति किसी दायित्व का भाव होना आवश्यक नहीं माना जाता। इस तरह से फिल्म का माध्यम, जिसमें जबर्दस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता और संभावना है, लोक-मानस को संस्कारिता देने के बजाए विकारी बनाने में अधिक काम आने लगता है।

साहित्य का माध्यम शब्द है। यद्यपि जो वाङ्मय के अधिकतम भाग का द्योतक है शब्द-चित्रात्मक है, तो भी वह चित्र दृश्य नहीं होता, भाव्य ही होता है। शब्द का माध्यम अपेक्षाकृत अमूर्त है। बाह्य प्रदर्शन के बजाए साहित्य आत्मान्वेषण के काम आता है। इसलिए साहित्य से अपेक्षा रहती है, उस पर दायित्व आता है, कि वह समाज को शील-संस्कार में उदात्तता में और ऊंचा उठाए। धर्म के वाहक कथा-पुराण रहे हैं और इस प्रकार साहित्य ही नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और प्रसार का निमित्त बनता आया है।

उल्टी गंगा

चित्रपट पर कथा-साहित्य को दृश्य रूप में उतारा जाता है। विदेशों में साहित्य और स्क्रीन का सीधा और घना संबंध बन सका है। कोई मूल्यवान प्रभावी कृति इधर प्रकाशित हुई कि उधर फिल्म पर पहुंच जाती है। इसलिए वहां अच्छी और रद्दी फिल्मों का अनुपात उतना शोचनीय नहीं है। यहां साहित्य के साथ फिल्मी दुनिया का उतना वास्ता नहीं है। बंगाल की बात यहां छोड़ी जा सकती है। पर फिल्म निर्माण का गढ़ तो बम्बई है। मद्रास में भी फिल्म-व्यवसाय उभर रहा है, पर बम्बई जैसा नफा कमाने की भाषा में सोचने वाला मानस वहां का भी मानिए। नतीजा यह है कि अपवाद रूप कोई विधायक चित्र आये तो भले आ जाए, नहीं तो चलताऊ चीजें आती हैं और उनका प्रभाव जैसा होता है आप जानते हैं।

बल्कि गंगा ही उल्टी बहती दीखती है। साहित्य के प्रभाव से फिल्म ऊंचे क्या उठतीं, फिल्म के प्रवाह से साहित्य-सृष्टि का स्तर ही नीचे खिसका आ रहा है। मालूम होता है कि लोकानुरंजन ही जैसे साहित्य का एक मात्र ध्येय रह चला हो। उस स्तर पर किताबें पहले नहीं निकलती हों सो नहीं, पर उसका एक अलग ही तल रहता था और साहित्य के क्षेत्र में उसका दखल न हो पाता था। अब ऐसा नहीं रह गया है। प्रदर्शन, अंग-प्रदर्शन तक जिसमें प्रमुख हैं ऐसी शब्द-रचना वाली पुस्तक भी साहित्य श्रेणी में अपना स्थान और अधिकार मानतीं है और पा जाती है। मैं अधो-वृत्ति कहकर उससे घबराने या डरने का कायल नहीं हूं। हमें पूरे ही मनुष्य को लेना होगा। अर्थात् उद्देश्य, आदेश, उपदेश की व्यास-पीठ से जीवनोत्कर्ष की आवश्यकता का काम नहीं संभल जाएगा। उस पीठ से आदर्श नैतिकता का आरोपण हुआ करता है, किंतु प्रभाव से अधिक उसकी प्रतिक्रिया होती है। इसलिए नैतिक और धार्मिक माने जाने वाले सूत्रों के उपयोग से न चल जायगा। ऐसे धार्मिक पट-चित्र और भी फूहड़ हो जाते हैं। नहीं, वह नहीं और वैसा साहित्य भी नहीं। लोक-रुचि पर फिसलने वाला या उस पर बोझल होकर दबाव डालने वाला— दोनों प्रकार का साहित्य बेकार ठहरेगा। किंतु मैं मानता हूं कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है जहां उत्तम में खो कर अधम अधम रहता ही नहीं। गंगा में जो धारा मिली, गंगा हो गई। पुराणों में क्या है जो नहीं है। अधमाधम का वर्णन और चित्रण वहां मिल जाएगा। लेकिन उसका स्थल व प्रसंग वहां ऐसा यथायुक्त होता है कि कुल मिला कर निष्पति धर्म की हो आती है। साहित्य के द्वारा यह हो सकता है और फिल्म क्षेत्र का उससे योग हो तो ऐसी प्रभावकारी फिल्में भी हो सकती हैं जो हल्की न हों और जिनका परिणाम संस्कारी हो।

फिल्म निर्माता और कलाकार : थैली का लोभ

इसमें संदेह नहीं कि चित्रपट समाज को एक सही दिशा देने में बहुत समर्थ हो सकता है। इसके लिए अच्छी फिल्में बननी चाहिए। लेकिन अच्छी फिल्मों का बहुत अभाव है। अधिकांश रहस्य, रोमांच, सैक्स और अश्लीलता से भरी होती हैं। और इसी तरह की फिल्में काफी देखी भी जाती हैं। तो सवाल यह है कि चित्रपट पर जो अच्छी फिल्में नहीं आ पाती हैं, उसका दोष किस पर डाला जाए? क्या निर्माता की अपेक्षा दर्शक ही अधिक दोषी नहीं है?

—निर्माता और दर्शक के अतिरिक्त भी कुछ संगत तत्व हैं जिनका फिल्म से यों कोई सीधा संबंध नहीं भी दीखता होगा। वह है लोक मानस का निर्माता साहित्यिक और चिन्तक वर्ग। लोक-रुचि कोई परम्पराहीन और निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसका भी अपना एक संदर्भ होता है। राजनीतिक परिस्थितियों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। एक जमाना था कि देश भक्ति के वीरतापूर्ण चित्र लोकप्रिय होते थे और धार्मिक तथा पौराणिक आख्यान भी सराहे जाते थे। अर्थात् परिपार्श्विक परिवेश का भी प्रभाव पड़ जाता था।

निर्माता की ओर से सुधार-परिवर्तन का आना किसी कदर कठिन है। निर्माता कमाने के लिए चित्र में पैसा लगाता है और ज्यादे खतरा मोल नहीं ले सकता। निर्भर करता है बहुत कुछ इस पर कि संस्कारिता के किस स्तर से वह निर्माता चित्रपट के क्षेत्र पर आता है। अधिकांश थैली के लोभ में इधर आते हैं, या फिर हल्की अभिरुचि के साहसिक युवजन। वे फिर उस वृत्ति और भूमिका के कलाकारों को जुटाते और अधिकतर स्टण्ट चित्र तैयार कर ले जाते हैं। मुख्य उद्देश्य उनका बाक्स-आफिस होता है और मनोरंजन के नाते इश्क या नाच-गाने का मसाला उनकी फिल्म के लिए जरूरी हो आता है।

साहित्य या किताब अकेले में पढ़े जाने की होती है। इसलिए नुमाइश की सामग्री वहां भरने का मोह नहीं होता। जीवन की अस्लियत में उतरने की प्रेरणा लेखक के काम में हठात् या अनायास होने लगती है। असल में फिल्म-चित्र के उत्कर्ष के लिए उपादेय सामग्री आने की आशा इसी क्षेत्र से है। पर कठिनाई यह है कि यहां के लोगों में अंतर्मुखता पाई जाती है, फिल्म का व्यापार एकदम बहिर्मुखी है। इसलिए होता यह है कि चित्रात्मक शब्द के वे व्यवसायी भी अंतर्मुखता से उलटे हैं फिल्म की दुनिया के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुलभ ही नहीं होते, वे उस पर छा आते हैं। उस वर्ग को अर्द्ध साहित्यिक कहिए या पत्रकारिता में घूम मचाने वाली घटनाओं में रहता-बसता वर्ग कहिए। इसकी रुचि और मनोभावना में भी जीवन-शोधन या अन्वेषण का विधायक भाव नहीं रहता, घटनात्मक मोड़-तोड़ से दर्शक को रिझाने-लुभाने का मोह रहता है। या ऊपरी सुधारवाद या विद्रोहवाद का सहारा उसे सुगम लगता है। इस प्रेरणा में से स्थायी मूल्यों के चित्रों की सृष्टि कठिन ही है।

प्रश्न मनोरंजन और मनोव्यथा के योग का

दृश्य में यदि वह नहीं आता जिसे कथ्य या ज्ञातव्य कह सकते हैं, तो वह दृश्य केवल उस वास्तविकता पर रुका रह जाएगा जो भौतिक और शारीरिक है। पर जीवन की सत्यता और सार्थकता उससे ओझल हुआ करती है। इंगित द्वारा दैहिक और घटनात्मक व्यापारों से वह सार्थकता सूचित ही हो सकती है, स्थापित और प्ररूपित नहीं हो सकती। पर घटनात्मक और कायात्मक के निमित्त से किसी गहरी सार्थकता को दरसा आना हर एक का काम नहीं है। उसके लिए मनीषा और मनुष्यता की आवश्यकता पड़ती है। बहिर्मुखता से यह कुछ अलग गुण है। लेकिन बहिर्पट से मानव-मन का अंतरंग भी मिले तब दर्शक को पूरी तृप्ति हो पाती है। यह काम उस वर्ग का है जो चमकने के लिए लालायित नहीं है। न जो अर्थलाभ से ही उतना प्रेरित होता है। मुझे लगता है, मुख्य समस्या यह है कि मनोरंजन को मनोव्यथा से कैसे जोड़ा जाए। जीवन की यथार्थ वास्तविकता जिस गहरे में है वहां सहानुभूतिपरक पीड़ा का निवास और सृष्टि का स्रोत है। फिल्म के लिए आवश्यक जितने प्रकार की यान्त्रिक निपुणताएं हैं, उन सबकी सार्थकता की कसौटी वहां है। सैकड़ों प्रकार के कलाविदों का हुनर एक फिल्म के निर्माण के काम में खप जाता है। किंतु सब मिलाकर जो बनता है उसका कथ्य और वक्तव्य शिथिल और प्रभावहीन हो तो अपने-अपने क्षेत्र की सब विशेषताएं बेकार हो जाती हैं। उन सबको जो एक अनुबंध में बिठाती है, उसको स्टोरी कहा जाता है। स्टोरी के बड़े भाग को प्लाट कहते होंगे। लेकिन स्टोरी का सारांश प्लाट नहीं कुछ और होता है। उस अनिर्वचनीय तत्व को आत्मिक तक कह सकते हैं। सब कुछ उस तत्व पर निर्भर करता है।

मैं मानता हूं कि दर्शकों की अभिरुचि पर दोष डालने से कुछ नहीं होगा। दर्शक मनोरंजन चाहता है, लेकिन अपने गहरे में वही कुछ और भी चाहता है। अच्छी मार्मिक फिल्में बाक्स-आफिस पर फेल नहीं होती हैं, बल्कि कभी तो मार्के की सफलता पा जाती हैं। अर्थात् दर्शक अगर हल्के मनोरंजन के चित्र को पसंद करता है, तो निर्माता को यह नहीं मान लेना चाहिये कि किसी मर्म को छूने वाली गहरी फिल्म दर्शक के सिर से ऊपर ही रह जायेगी और घाटा देगी। ऐसी बात नहीं है। हल्के माने गये लोगों के अन्दर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल होता है और दिल की गहराइयां के समझ सकते हैं। सच यह है कि व्यावसायिक मनोवृति के पास मूल्य-श्रद्धा तो कोई होती नहीं है, इसलिये सस्ते हथकण्डों से काम चला ले जाने की जुगत से वे बच नहीं पाते हैं। इसमें न कला के साथ न्याय होता है, न दर्शक के साथ, नाहीं उनके अपने पैसे के साथ।

मैं नहीं जानता कि ऊपर के पैसे और गहराई की आस्था का मेल कैसे होगा। पर फिल्म के आयाम से मिल सकने वाला पूरा लाभ तो लोकजीवन को तभी प्राप्त हो सकेगा, इसमें संदेह नहीं है।

साहित्यिक कृति का चित्रांकन—सीमा और संस्कारिता

अभी आपने कहा था कि चित्रपट के लिये अगर प्रेरक और दिशा निर्देशक सामग्री मिल सकती है तो वह साहित्य के क्षेत्र से ही मिलेगी। इस ओर कुछ प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। लेकिन अब तक का अनुभव वह बताता है कि साहित्यिक कृति चित्रपट पर आकर खोखली सी प्रतीत होती है। इसलिए वह चल नहीं पाती और दर्शकों द्वारा असफल घोषित कर दी जाती है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्या भारत का दर्शक मेच्योर नहीं या कि निर्माता, निर्देशक के अन्दर वह मेच्योरिटी नहीं है जो विदेशी निर्माताओं में है। अगर यही स्थिति रही तो साहित्यिक कृतियां चित्रपट पर निरर्थक ही सिद्ध होंगी।

—हां, साहित्यिक कृतियों को चित्रपट पर लाने में निपुणता की जगह अकुशलता हुई है, तो परिणाम अवश्य उल्टा आया है। 'पवित्र-पापी' हिन्दी में बेकार गया हो लेकिन रूसी और अंग्रेजी भाषाओं में वह बड़ा ही प्रभावकारी है। साहित्य में बात व्यंजना और व्यंग्य से कही जाती है, चित्रपट पर देहसज्जा भी रहती है और व्यंग्य अथवा व्यंजना उस द्वारा मूर्त न हो सके तो इसमें विस्मय की बात नहीं है। पुस्तक पढ़ते समय लेखक के सूक्ष्म संकेत पाठक के मनोभावों पर अंकित होते रहते हैं, देहरूपाकार में ध्यान बंटाने को उपस्थित नहीं रहती है। पाठक के मन में उठा चित्र भाव-चित्र होता है। वही चित्र स्क्रीन पर स्थूल बन आता है। उसकी व्यंजनात्मक और संकेतात्मक शक्ति कम हो सकती है, फिल्म में वर्णच्छटा का भी सहारा लिया जाता है। प्रसाधन सौन्दर्य की वहां बड़ी महिमा रहा करती है। साहित्य में इन चीजों का निरपेक्ष मूल्य नहीं है। यह कठिनाई साहित्य और फिल्म में कुछ फासला पैदा करती है।

साहित्यिक कृति जिसने लोगों के मन को पकड़ा है, अगर चित्रपट पर विफल होती है तो यही कहना होगा कि चित्रपट उसके आशय को भली प्रकार मूर्त नहीं कर सकता है। चित्रपट के तैयार करने में नाना प्रकार के कलाकारों का योग आवश्यक होता है। दोष उनमें से किसी एक का, अनेक का, या सबका हो सकता है। मुख्यता से साहित्यिक चित्र का पर्याय देने वाले सिनेरियो लेखक और डायरेक्टर पर श्रेय या दोष निर्भर करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यक कृति समय की मर्यादा नहीं रखती। फिल्म को उस मर्यादा में रहना पड़ता है। एक या दो बार में उसे पूरा हो जाना चाहिए। एक बार में तीन या साढ़े तीन घण्टे तक ही उसे खींचा जा सकता है। उपन्यास को आप सप्ताह या मास तक में पढ़ें तो कोई बाधा नहीं। अर्थात् पुस्तक को जहां तहां से काटना-छांटना पड़ता है, स्क्रीन की आवश्यकता के लिये थेगली लगाना जरूरी हो जाता है। इन सब कारणों से मूल पुस्तक और उससे बने चित्र के गुणों-प्रभावों में बहुत अन्तर आता है। सम्भव उल्टे यह भी हो सकता है कि योग्य डाइरेक्टर के हाथों में आकर साधारण कथा चित्रपट पर अधिक ही प्रभावशाली हो आये।

दो परस्पर प्रतिकूलताएं

असल में आदमी का मन तो एक ही है। साहित्य की तरह फिल्म को भी उस मन की गहराई को जा छूना है। फिल्म के पक्ष में सुविधा है कि वहां घटनाओं और व्यक्तियों का मूर्त प्रत्यक्षीकरण हो आता है। यह सुविधा ही कला की दृष्टि से आगे जाकर बाधा हो आती है। देह की अधिकता आत्मा को व्यक्त करने की जगह उसको अस्तप्राय भी कर सकती है। फिल्म इसलिए अधिकांश दैहिक प्रदर्शन या अपराध-दर्शन की ओर मुड़ चलती है। उच्च आत्मभावनाओं को भी वहां यदि गोचर और सम्प्रेषित करना हो तो वह संभव दैहिक व्यापारों के माध्यम से ही हो पाता है। इसलिए चित्रपट पर आकर साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक संदेह अधिक व्यापक और बेगवान हो सकता है। आवश्यकता यह है कि फिल्म व्यवसाय पूंजी के चंगुल में ही न रहे और उस क्षेत्र के नियामक वहां से स्थानान्तरित होकर कल्पना के धनियों के पास पहुंचे। एक फिल्म के निर्माण में काफी पैसा लग जाता है। पैसे को खतरे में वही डाल सकता है जिसके पास वह है, और जो उसे जुए में बाजी पर चढ़ा सकता हो। इस राह से फिल्म में पैसे के पास आखिरी राय हो आती है। उधर साहित्यकार आर्थिक मूल्यों में नहीं रहता। इस तरह फिल्म इन दो प्रकार के विपरीत साध्यों के योग से तैयार होती है। अत: जो समस्या आपने उठाई उसका हल आसान नहीं है। हालीवुड़ दुनिया का सबसे बड़ा फिल्म केंद्र है। वह उस अमरीका में है जिसकी व्यवस्था को पूंजीवादी माना जाता है। वहां बंधन नहीं है सो फिल्म उद्योग यौनवाद और अपराधवाद की ओर बढ़ निकला है। रूस देश की व्यवस्था राजकेंद्रित है और फिल्म वहां राजनीति अथवा शासन नीति को बल और समर्थन देने के काम आए तो अयुक्त नहीं रहता। इस तरह दोनों ओर कठिनाइयां हैं और कला सृष्टि को उन पारस्पारिक प्रतिकूलताओं के बीच से ही निकलना है। भावना और कल्पना के स्रोत हैं कि जहां से सृष्टि प्रेरणा का उद्‌गम होगा। वहां प्राणवेग और चित्-स्पंदन कितना भी हो, अर्थसंपन्नता का क्षेत्र दूसरा है। अर्थ जहां संग्रहित और संकचित हो वहां भाव-वैभव की निष्पत्ति में कठिनाई होती है। तेजोमय भाव को शरीर प्राप्त कराने के लिए स्थूल साधनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आवश्यकता रहती है। इसलिए मैं मानता हूं कि कला की दृष्टि से फिल्म को सर्वोच्च स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। अन्ततः मनोरंजन से आगे यदि किसी उद्देश्य-साधन से वह माध्यम जुड़ेगा तो उद्देश्य वह संपत्ति-सत्ता की अनुकूलता में से ही सिद्ध होगा।

फिल्म के मात्र मनोरंजन का साधन बनने की बाध्यता

साहित्य-क्षेत्र और फिल्म क्षेत्र में एक अदृश्य अंतर्द्वंद्व व्याप्त है जिसके कारण कुछ अपवादों को छोड़ फिल्में साहित्य की आत्मा को स्पर्श नहीं कर पाती। वह अंतर्द्वंद्व है लेखक और निर्माता की अभिरुचि का। जो चीज लेखक उचित समझता है, निर्माता उसे ही नापसंद करके निकाल देता है। इस तरह वह लेखक की भावना की हत्या करके अपने भाव को प्रतिष्ठित करता है। उसे इस बात का गर्व है कि वह जानता है कि दर्शक क्या देखना चाहता है और क्या नहीं देखना चाहता। पर लेखक को इसका दुःख है कि वह जो समाज को देना चाहता था फिल्म में आकर नहीं दे सका। सुना है प्रेमचंद जी भी बम्बई में फिल्म की सेवा करने गए थे, लेकिन जल्द ही लौट आए। शायद कारण यही था कि उनको निर्माता के आदेश के अनुसार लिखना था। इस तरह मुझे लगता है कि साहित्य और फिल्म ये दो अलग-अलग ढंग हैं, अपनी बात कहने के। इसलिए उन दोनों के बीच ठीक-ठीक सामंजस्य नहीं बन पाता।

—सच है कि उन दोनों की दुनिया कुछ अलग है और अधिक से अधिक इनके मध्य जहां-तहां सेतु का निर्माण ही हो पाता है। फिल्म वही सामुदायिक कला है जो सेतु-निर्माण के उपलक्ष से जन्म पाती है और प्रधानतः मनोरंजन का साधन ही बनने को बाध्य है। साहित्य मनोरंजन के साथ उन्नयन के धर्म से भी बंधा है और वह अपने उस स्वधर्म से छूट नहीं सकता।

जैनेन्द्र कुमार

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. विघटन

- भाषा और विभाजन
- साम्प्रदायिक कौन?
- धर्म की राजनीति
- शरणार्थी समस्या

भाषा और विभाजन

भाषा, भौगोलिक स्थिति आदि के नाम पर देश को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करना क्या देश की एकता तथा समृद्धि के लिए खतरनाक नहीं बनेगा?

—व्यवस्था की दृष्टि से देश कुछ प्रादेशिक राज्यों में विभाजित है। विभाजन वह भाषानुसार है। फिर भी हम देश को एक मान पाते हैं। अर्थात् व्यवस्था-घटक बड़े अथवा छोटे हों, उस पर देश की एकता निर्भर नहीं मानी जानी चाहिए। प्रशासन और व्यवस्था की सुविधा का विचार ही वहां प्रमुख है।

लेकिन भाषा अथवा प्रदेश के नाम पर जो खींच-तान चल रही है, वह स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। न कुल मिलाकर मुझे यही मालूम होता है कि घटकों को छोटा बनाने मात्र से कोई विशेष सुविधा हो जायेगी।

स्वार्थ से उत्तीर्ण होकर ही राष्ट्रहित

भाषाई बँटवारा आवेश और दिक्कत पैदा कर रहा है। विनोबा ने सुझाव दिया है कि करोड़ की संख्या से कम का राज्य हो ही नहीं और हरेक में एकाधिक भाषाओं का चलन हो। भाषावाद संकीर्णता पैदा कर रहा है, यद्यपि भाषा बनती ही आपसीपन और उसके विस्तार के निमित्त से है। ऐसा हो नहीं सकता कि प्रत्येक राज्य के सीमान्त पर द्विभाषी जन न हों और वह भाग दोनों ओर से विवाद का विषय न बने। सच यह कि मनोभावों में जब परस्परता की जगह स्व-पर की पृथकता प्रधान बनने लगती है तो कठिनाइयां बढ़ती हैं। सहयोग की जगह भाव स्पर्धा का बनता है और परिणाम में विग्रह और विरोध फलता है। देश में यह स्थिति चल रही है। स्वराज्य से पहले देशवासियों में एकात्मता थी। तब एक महद् भाव था जो स्वत्व-विसर्जन की प्रेरणा देता और स्वार्थ से उत्तीर्ण बना देता था। स्वराज्य के बाद देश-नेताओं के आचरण में से उत्सर्गशीलता की वह प्रेरणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलना बन्द हो गयी। गांधी जी का परामर्श था कि चोटी के नेता राज्यासन पर जाकर न बैठें और वे लोक-हृदय में ही अपना स्थान मानें। वैसा हुआ नहीं और अपने नेताओं की देखा-देखी सत्ताकांक्षा और भोग की प्रधानता जन-जीवन में भी व्याप आई। भाषा या प्रदेश के नाम पर जो विघटन की वृत्ति आज फैलती दिखाई देती है, वह उसी ह्रास का परिणाम है। राजनीति में उस स्थिति का हल या समाधान नहीं है। वह तो स्वयं तात्कालिक स्वार्थों के व्यूह डालकर बनती और चलती है। ऐसे समय कुछ वही जीवन-दर्शन काम दे सकता है जो स्व के संकीर्ण अर्थ के पार परमार्थ में सच्चे स्वार्थ के दर्शन करा आए। भौतिक पर ही रुक जाने वाला आर्थिक और औद्योगिक और राजनीतिक जीवन-दर्शन आज के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं होने वाला है।

समाधान की मौलिक भूमिका अन्त में वही है।

धर्म की राजनीति

साम्प्रदायिकता किसे कहते हैं? क्या यह धार्मिक उन्माद है?

—सम्प्रदाय तो हैं और रहेंगे। दृष्टि को और सहानुभूति को ही जब उन-उन मतवादों में घिरने दिया जाता है तो साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। उनके आस-पास राजनीति बन ही जाती है, फिर चाहे उन सम्प्रदायों का आधार कुछ भी क्यों न हो। आज धार्मिक से राजनीतिक मत-सम्प्रदाय अधिक कट्टर देखे जाते हैं। जिनके आस-पास राजनीति नहीं जुड़ी है वैसे पंथों से खतरा नहीं है। बल्कि वे तो जीवन-विचार की विविधता में सहायक भी हो सकते हैं। 'स्कूल्स आफ थाट्' (मतवैभिन्य) से जीवन-सत्व सम्पन्न होता है, विपन्नता का कहीं प्रश्न ही नहीं है। जब मतवाद शक्ति-द्वंद्व में पड़ते और परस्पर प्रतिद्वंद्विता में सन्नद्ध होना अपने लिए आवश्यक पाते हैं तब सहभाव और सद्भाव बीच से दुर्लभ हो आता है और विग्रह वैमनस्य वहां सुलभ बनता है। जीवन की सार्वजनीनता को संकट उस वैर भाव से है, धर्म अथवा तत्व-वादों की विविधता मात्र के कारण कोई संकट नहीं है।

राष्ट्रवाद भी एक प्रकार का सम्प्रदायवाद

साम्प्रदायिकता की समस्या भारत में अपेक्षतया विकट है, स्वराज्य के और विभाजन के बाद और भी विकट। उसका हल राष्ट्रीयता में देखा और सुझाया जाता है। अगर राष्ट्रीयता का भी अपनी जगह वह प्रतिद्वंद्वी रूप ही है तो हल वहां कहां रखा है? सिर्फ समूह और सम्प्रदाय का वृत्त बड़ा हो, उतने से ही साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति से उद्धार नहीं मिल जाता। राष्ट्रवाद भी क्या एक प्रकार का सम्प्रदायवाद नहीं बन जाया करता है? पश्चिम के युद्ध क्या राष्ट्रवाद की ही देन न थे? अर्थात् इस वृत्ति से मुक्ति राजनीति में से नहीं आयेगी। वह वृत्ति स्वयं राजनीति की उपज है। राजनीति 'या तुम, या मैं' की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति पैदा कर आती है। यह स्व-पर-द्वंद्व का भाव ही नीचे उतर कर सम्प्रदायवाद और गुट-गिरोहबंदी का रूप लेता है। जन-मानस को सांस्कृतिक तल तक उठाना होगा, जहां 'तुम बनाम मैं' की समस्या 'तुम संग-साथ मैं' के समाधान में परिणत हो आ सके।

जन-मानस को सांस्कृतिक तल तक उठाना आवश्यक

किन्तु जनमानस को उस सांस्कृतिक तल तक कैसे उठाया जा सकता है?

—लगता होगा यह कठिन है। पर बहुत कठिन नहीं है। हमारे यहां साहूकार हैं और सरदार हैं, दोनों का रौब-दाब रहता है। पर समाज में सेवक और साधु भी है। अगर उनका मूल्य बढ़े तो सेठ या सरदार बनने की प्रेरणा उतनी तीव्र नहीं रह जायेगी। यह तो समाज-मूल्यों पर निर्भर है। हमारे यहां सरदार से संत ऊपर गिना गया है। उसकी महिमा इतिहास तक गहरी जाती है। वे मूल्य आज टूट रहे हैं। इस टूटन पर मैं कोई खेद प्रगट नहीं करना चाहता हूँ। अगर टूटते हैं तो मजबूत वे काफी न रहे होंगे। अस्तित्व की समस्या कठिन होने के साथ साधुता और सरलता भी कठिन होती जाती है। इसलिये यह प्रश्न समाज-रचना और अर्थ-रचना से जुड़ा देखा जा सकता है। आधुनिक औद्योगिक विकास ने जीवन को अर्थ-संकुल बना दिया है। जीवन-यापन अब उस तरह सहज नहीं रह गया है, बल्कि वह सारी जीवनायु को चक्कर में रखता है। अर्थ की निर्भरता बढ़ने के साथ स्वार्थ की चिन्ता भी बढ़ने वाली है। परम-अर्थ की बात तभी सम्भव, संगत और ग्राह्य बनती है जब अस्तिस्व के चक्र से बाहर आ लिया जाय। वर्तमान अर्थ-रचना में यह सहज साध्य नहीं है। सबको अपने हित के बचाव और चौकसी पर रहना होता है। होशियारी पग-पग पर दरकार है। सम्बन्ध आपसी प्रतियोगिता और स्पर्धा पर ही आश्रित हो आएं तो आप अपने स्वत्व की सुरक्षा की भाषा में ही सोच सकते हैं। मुझे लगता है कि यह प्रतिस्पर्धी सभ्यता हार्दिक मूल्यों को उभरने नहीं देगी। वह बौद्धिक तीक्ष्णता को धार ही दिये चली जायेगी, इतनी कि अहंता में ही आश्रय सूझे। परिणाम है और होगा कि चालाक भोले के सिर जियेगा और भोला मेहनत में तन तोड़ता सिर्फ मरेगा। जनचैतन्य को सांस्कृतिक तल तक लाने के लिए विश्वासी साधक को तप की आवश्यकता होगी।

कष्ट में भी सुख की लब्धि

उसे बहाव में न बहना होगा, अपनी आस्था की कीमत चुकाने को तैयार होना होगा। धन और सत्ता के उपार्जन से सेवा, सरलता, उदारता और संतोष के मूल्यों में आपका यदि पूरा विश्वास है—कहने के लिए नहीं, जीने के लिये—तो फिर कष्ट में भी आपको सुख मिलेगा। भाव की भरपूरता में अभाव व्यापेगा नहीं। मुझे भय है कि हमारे संत और साधु और सेवक में वह निश्छलता पूरी रही भी है कि नहीं। अन्यथा उन मूल्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का इतना शीघ्र अवमूल्यन न होता। भावुक हों, पर बौद्धिक स्तर पर वे उतने सजग और प्रबुद्ध न रहे होंगे। नहीं तो समय उन्हें पछाड़ न पाता। मैं मानता हूँ कि समय की चुनौती को झेलते हुए भी सेठ और सरदार के मुकाबले अपने को श्रमिक और सेवक रखने वाली श्रद्धा टिक सकती और समाज को प्रकाश दे सकती है। क्या राजनीति में ही आज इस श्रद्धा के लोग नहीं हैं? बल्कि जहां हैं वे ही दल शक्ति प्राप्त कर रहे हैं। यदि वह श्रद्धा राज-सत्ता के पार लोक-सत्ता के उदय का लक्ष्य रख पाए तो वहां से नवीन क्रांति के अग्रदूत प्रगट हो सकते हैं। यह क्रांति राज कारण पर समाप्त न हो जायेगी, वरन् जीवन क्रांति का रूप लेगी।

विज्ञान के विकास के साथ राष्ट्रीय राजनीतियां छोटी पड़ती जा रही हैं और अवसर है कि क्रांतिकारी का स्वप्न अब मानवता की भाषा अपनाए। राजनीति के साथ अर्थनीति में भी उस मोड़ को आना है। आयात-निर्यात और मंडी-बाजार की स्पर्द्धा से मुक्त करके उसको मानवीय आधार और मानवीय दिशा प्रदान करना है। लाभासक्त और बटोर-वादी (Acquisitive) मानस आगे के लिए उपयुक्त और आवश्यक न रहेगा। बल्कि अपरिग्रह का मूल्य हमारे समाज-संस्थान और कर्म-विधान को धारण करेगा।

साम्प्रदायिकता और हिन्दू-मुसलमान

आपकी निगाह में साम्प्रदायिक कौन है?

—अपने मताग्रह में जो दूसरे से विद्वेष ठान आता है, उसे अपने मत-सम्प्रदाय से ग्रस्त और इसलिए साम्प्रदायिक माना जा सकता है।

यों तो भारत में अनेकों सम्प्रदाय हैं लेकिन साम्प्रदायिक दंगे हिन्दू और मुसलमानों के बीच ही क्यों होते हैं?

—हिन्दू और मुसलमान अंग्रेज के राज में जैसे दो विरोधी शब्द बनते चले गये। अंग्रेजी राज गया तो भारत को बंटवारा देकर। उससे इन दो शब्दों के बीच में फांक और गहरी हो गयी है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के सम्बन्ध मीठे नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे से दोनों को आशंका बनी रहती है। इसलिए इन दो शब्दों में और इन शब्दों के पीछे चलने वाले समुदायों में पस्पर सामंजस्य और ऐक्य का भाव बनना कठिन रहता और जरा सा कारण रगड़ और विस्फोट पैदा कर देता है। इसलिए इस प्रश्न पर निराकरण सिर्फ हिन्दुस्तान के संदर्भ में मैं नहीं देख पाता हूँ, पाकिस्तान को भी इसमें सम्मिलित करना होगा।

दरार का कारण राजनीति

क्या आपके कहने का मतलब यह है कि सामप्रदायिक दंगे अंग्रेजों की देन हैं?

—अंग्रेजों से पहले द्वैत तो था। पर इतिहास क्रमशः उसे कम किये जा रहा था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे-धीरे एक मिली-जुली संस्कृति का विकास हो रहा था। कारण, जो बाहर से आये वे यहां के वासी हो गये थे। अंग्रेज के साथ यह बात न थी। यहां की धरती पर वह बसना नहीं चाहता था, सिर्फ हकूमत और शोषण चाहता था। मुस्लिम और अंग्रेज हाकिम में यह मूलगत भेद रहा। मुसलमान बादशाह हिन्दू से फटकर सलामती से अपनी हकूमत कैसे रख सकता था? पर अंग्रेज का न हिन्दू अपना था, न मुसलमान अपना। दोनों में तफरका रहे तो उसका स्वार्थ सिद्ध होता था। इतिहास-प्रक्रिया जो मेल-जोल पैदा कर रही थी, अंग्रेज के आने से, जैसे वह टूट आयी। दोनों धाराओं के मेल से उत्तर भारत में, बल्कि कहो उत्तर-पश्चिम-भारत में खड़ी बोली का उदय हुआ जिसे हिन्दवी या हिन्दी कहा गया और उर्दू भी कहा गया। ये आम लोगों के बोल-चाल की भाषा बनती गई थी। लेकिन बीच में अंग्रेजी जो आयी तो इन धाराओं का संगम पूरा होते-होते रुक गया और हिन्दी संस्कृत की तरफ तो उर्दू अरबी-फारसी की तरफ बह चली। यह सूचक था शेष लोक-जीवन की गति का। होते-होते राजनीति के स्पर्श से उनमें, अर्थात् अल्पसंख्यक मुस्लिमों में, पृथक प्रतिनिधित्व का चाव जगा और सत्ताकांक्षा भी जग आयी। दुर्भाग्य ही था, लेकिन ऐसा हुआ और उसे रोका न जा सका। जिन्ना साहब कोई धार्मिक मुस्लिम न थे। कुरान शायद उन्हें आता भी न हो। पंडित नेहरू भी धार्मिक न थे, यद्यपि ब्राह्मण थे। दोनों पूरी तरह सेक्युलर व्यक्ति थे। हां, गांधी थे जो धार्मिक हिन्दू थे, इसलिए वह धार्मिक मुस्लिम को समझ सकते थे। मैं मानता हूँ कि उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से साम्प्रदायिकता कम हो रही थी। लेकिन राजनीतिक नेहरू को सामने लेकर जिन्ना में साम्प्रादयिक नेतृत्व की भावना जगे बिना न रहती थी। अर्थात् अंग्रेजी राजसत्ता और अंग्रेज के जाने के बाद मिलने वाली स्वराजी राजसत्ता में हिस्सा बांट का प्रश्न हिन्दू-मुस्लिम शब्दों का सहारा लेकर उभरता चला गया। अब भी साम्प्रदायिक प्रश्न राजनीति से और सत्ता की भावना से जुड़ा हुआ है। धार्मिक तल पर प्रश्न उतना विकट नहीं है। धर्म के नाम पर जो आवेश उभारा जा सकता है उस पर आंख रखने वाले और उसका लाभ उठाने वाले तत्वों से साम्प्रदायिक दंगे फसाद बना करते हैं। इसीलिए कहना हुआ कि भारतीय राजनीति के संदर्भ में ही रखकर इस प्रश्न का हल पाना दु:साध्य है। हिंदू के मन में यदि रहे कि पाकिस्तान में दूसरे दर्जे के नागरिक से भी कम स्थान उसे प्राप्त है, तो आप उससे स्वस्थ नागरिकता की आशा नहीं रख सकते। मुसलमान यदि पाकिस्तान में प्रथम कोटि का नागरिक है तो अनायास उसे लग सकता है कि हिन्दुस्तान में उसे यह प्रथमता हासिल नहीं है। इस प्रकार धर्म के आधार पर देश का विभाजन होने से दोनों ओर एक अस्वस्थ मानस बन आया है और वहां परस्पर पृथक चेतना कायम ही रहती है। पाकिस्तान भी इस समस्या से मुक्त नहीं है।

हिन्दू-विद्वेष की लपटों से जिन्ना साहब पाकिस्तान के अधिपति बनने के बाद बेहद चिन्तित हो आये थे। क्या ही अच्छा हो कि इस साम्प्रदायिक दुराव और तनाव के प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दोनों साथ मिल-बैठ कर सोचें और यह सोचना मानवीय और सांस्कृतिक भूमिका पर हो। कहीं राजनीतिक वासना प्रधान रही तो पाकिस्तान गलिहारा मांग सकता है और हिन्दुस्तान अपने भीतर के मुसलमानों के लिए पाकिस्तान से एक बड़े भूखंड की मांग कर सकता है। इस सबसे तो गांठ कसेगी। लेकिन मानवीय तल पर यदि हर नागरिक की सुरक्षा और मान-रक्षा दोनों को अभीष्ट हों, जो कि होनी चाहिए, तो मार्ग अब भी निकल सकता है। पर यह शायद दूर की बात है। राजनीति सिर पर छाई है, शस्त्रास्त्र मंगाये जा रहे हैं, कश्मीर का सवाल बीच में अटका है। इन सबको देख कर बताइये कहा जाय तो क्या कहा जाय?

पाकिस्तान से भारी संख्या में हिन्दू शरणार्थी भारत आ रहे हैं उनके लिये आवास और जीविका का समुचित प्रबंध भारत सरकार के लिये एक बहुत बड़ी समस्या बन गया है। इस समस्या का हल क्या है?

—यह प्रश्न क्या मुझसे करने का है? यह प्रश्न तो सरकार के सामने रखना चाहिए। बल्कि एक नहीं दोनों सरकारों के सामने। पूर्वी बंगाल से अगर इस तरह बेशुमार आने वालों की भगदड़ मची ही रही तो साम्प्रदायिक प्रश्न भला कैसे शान्त होकर बैठ जायेगा? इसमें विस्फोट के तत्व हैं और आपसी शक्ति-परीक्षण के प्रयोग की व्यर्थता से अगर उन दोनों अभागे देशों को बचना है तो समय रहते कुछ उपाय निकालना चाहिए। इतिहास होकर मर नहीं जाता है, वह जीवित भी रहता है। कांग्रेस ने धर्माधार पर विभाजन स्वीकार किया था तो उस ऐतिहासिक घटना की छाया के नीचे अब उनका सेक्युलेरिज्म का आन्दोलन कैसे अभीष्ट फल दे सकता है।

नये संस्करण की साम्प्रदायिकता

एक दल दूसरे दल पर साम्प्रदायिक दंगे फैलाने का आरोप लगाता है, ऐसा क्यों? क्या इसके लिये दोनों ही पक्ष समान रूप से दोषी नहीं हैं?

—इन दो पक्षों को, जो दंगों के कारण का आरोप एक दूसरे पर डालते हैं, क्या दक्षिण और वाम कहा जा सकता है? मैं दोषारोपण की पद्धति का कायल नहीं हूँ। मैं स्वय उस तत्वज्ञान का विश्वासी हूँ जहां दोष अपने में माना जाता है, दूसरे पर उसे डालने की कोशिश नहीं की जाती है। मुझसे पूछिये तो दोष उस राजनीति का है जहां एक दूसरे को नीचा, गंदा और भ्रष्ट बताकर उसको गिराने और स्वयं को, और यों अपने दल को, चढ़ाने की कोशिश की जाती है। मैं मानता हूँ कि यद्यपि यहां धर्म-सम्प्रदाय का प्रश्न नहीं है, फिर भी एक नये तौर-तेवर की यह साम्प्रदायिकता है जो अधिक घातक और भयावह हो सकती है। दक्षिण और वाम विचार के बीच का ध्रुवीकरण इस शर्त के साथ उपयोगी हो सकता है कि लोक-जीवन को उस अहिंसा के मूल्य से च्युत न होने दिया जाय जो जनतंत्र की धुरी है। किन्तु यदि ऐसा नहीं है, तो यह ध्रुवीकरण गृहयुद्ध के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ का रूप ले सकता है। इसलिये इस परस्पर दोषारोषण की वृत्ति से बचना चाहिए और हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बीच सबको अपने-अपने में जिम्मेदार मानकर वैमनस्य के भावों से मुक्त होने की कोशिश करनी चाहिए।

आजकल अखबारों की सुरखियों में नक्सलवाद और सम्प्रदायवाद के खतरों की सर्वाधिक चर्चा है। आपकी दृष्टि में क्या दोनों समान रूप से खतरनाक हैं?

—साम्प्रदायिक और नक्सलवादी इन दो समस्याओं में से खतरा उसी से अधिक मानना चाहिए जहां हिंसा के अवलम्बन के बारे में ज्यादा आग्रह और तत्परता है। प्रश्न हेतु का दूर रह जाता है, कर्म पर ही फैसला करना पड़ता है। वैर-विद्वेष के समर्थन के आरोप से जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ दोनों अपने को मुक्त मानते और बताते हैं। अर्थात् उनके मन में अगर विद्वेष है भी तो उसके समर्थन का साहस नहीं है। नक्सलवाद इस बारे में अधिक दृढ़ और साहसी है। 'सत्ता बन्दूक की नली से आती है' माओ की इस उक्ति का घोष वे खुलकर गुंजाते हैं। अर्थात् उनके पास हिंसा का खुला समर्थन है। जनतंत्र की दृष्टि से इस हिंसावाद में मैं अधिक खतरा देखता हूँ। यद्यपि उनका हेतु मुझे स्वयं बहुत प्रिय है।

वैज्ञानिक हिंसा का दर्शन

क्या नक्सलवाद सम्प्रदायवाद की अपेक्षा सिर्फ इसीलिये अधिक खतरनाक है कि उसके हेतु और रणनीति स्पष्ट है? क्या सम्प्रदायवादी दल इसीलिये कम खतरनाक हैं कि वे अपने को वैर-विद्वेष से मुक्त बताते हैं। जबकि दंगों में वे सर्वाधिक क्रूर और अमानवीय हो जाते हैं?

—हिन्दू और मुस्लिम रणनीति जैसी कोई चीज है, इसका मुझे पता नहीं है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के युद्ध में भी हिन्दू-मुस्लिम युद्ध का प्रश्न न था। हिन्दुस्तान की ओर से क्या अनेकों मुसलमानों ने बहादुरी के साथ अपनी जान नहीं दी थी? पर नक्सलवाद उजागर है और प्रच्छन्न बनने की उसे आवश्यकता नहीं है। छापामार दस्ते चाहे समय पर प्रच्छन्न हों लेकिन वैसे दस्तों और प्रणालियों का उपयोग होगा, यह घोषणा खुली है। इस खुलेपन के लिये मैं स्वयं उनके पराक्रम का प्रशंसक हूँ। उस पराक्रम के कारण उनकी हिंसा में भी विवेक रह सकता है और वह हिंसा वीभत्स के बजाय वैज्ञानिक भी हो सकती है। साम्प्रदायिक दंगे-फसाद में हिंसा के जो दृश्य देखने में आते हैं, वे तो घोर क्रूर और अमानवीय होते हैं। यह तो एक पागलपन हुआ और आदमी-आदमी में जैसे उन्माद का ज्वार आया और निकल गया। नक्सलवाद की प्रक्रिया नशे या उन्माद की नहीं है, वह सर्वथा सुचिन्तित है। इसलिये वह अधिक विचारणीय है और अधिक बड़ी समस्या उत्पन्न करती है। उसका परिणाम भी होगा तो अधिक व्यापक होगा। वह एक वाद है, ऐसा कि जो लोगों के मनों को अपने से उखाड़ देता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माओ के नाम से जोड़ देता है। साम्प्रदायिक दंगों में जुटने वाले अधिकांश गये-बीते लोग होते हैं, पीछे फिर उनके चाहे कोई तत्व क्यों न हों। नक्सलपंथी बे-पढ़ा कोई न होगा। अर्थात् वह अधिक गहरी चीज है और अधिक विचार-विवेचन की अधिकारी है। एक ओर से जिसे खतरा कहा जा सकता है, दूसरी ओर से उसे ही महत्व भी देना होता है। अब तक इतिहास के क्रांति के हिंस्र रूप को ही जाना है। गांधी ने जो किया वह क्रांति थीं, कांग्रेस के इन 22 वर्षों के स्वराज्य से ऐसा कोई नहीं कह सकेगा। इसलिये यदि क्रांति की आवश्यकता है, और वह आवश्यकता असंदिग्ध है, तो नक्सलवाद के सिवा दूसरा क्या उपाय बचता है? वैधानिक प्रणालियां क्या अपना दिवाला नहीं निकाल चुकी हैं इत्यादि? प्रखर और प्रबलतर तर्क नक्सलवादी के पास हो सकता है और है। वह तर्क है इसी से उसकी लहर दमन के बावजूद फैलती दीखती है। लेकिन फिर भी हिंस्र पद्धति में से, मैं मानता हूँ, त्राण नहीं आता है बल्कि वैसी क्रांति के फूटने से एक तानाशाह का जन्म हो निकलता है। अब तक की क्रांतियां यही बताती हैं। अब नक्सलपंथी क्रांति का भी दूसरा उपसंहार नहीं हो सकता। इसलिये किसी नैतिक सिद्धान्त की ऊंचाई से नहीं बल्कि व्यावहारिक जनहित की धरती पर से मुझे कहना पड़ता है कि वहां कहीं ज्यादा खतरा है। क्योंकि उसके मूल में कोरा आवेश नहीं है, बल्कि उसके नीचे एक तत्व-दर्शन का आधार है।

बौद्धिकता में से हल नहीं

साम्प्रदायिक दंगों को रोकने के सम्बन्ध में आपके सुझाव?

—हिन्दू-मुस्लिम दंगों के प्रश्न पर मुख्यतया व्यापक और बड़े, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय, संदर्भ में विचार होना चाहिए। वहां लोक-नेतृत्व की संगति आ जाती है। किन्तु क्या नागरिक उस अपेक्षा में लटका ही रहे और स्वयं निश्चेष्ट होकर बस भुगतता ही जाय? तो मैं कहूँगा कि नहीं। हर एक को सीखना और बताना होगा कि जान तो साथ गिनती के दिन रहने वाली है, एक दिन उसे जाना है। इसलिये मरने से डरने की जरूरत नहीं है। डर में ही एक आदमी दूसरे को मारता है। निडर होकर मरने को तैयार हो जाते हो तो तुम्हारे सामने अधिक संभव है कि आततायी की हिम्मत आधी रह जाए। गुंडा भीतर से डरपोक होता है। सामने डर देखकर ही उसका हौसला बढ़ता है, नहीं तो वह दुबक रहता है। अल्प-संख्यक नाम पर मुसलमान में डर बिठाया और जगाया जाता है और बहुसंख्यक होकर हिन्दू भी मुलमानों का डर बताकर लोगों में उत्तेजना जगाता है। हिन्दू मुसलमान सबको सिखाना है कि अगर ईश्वर है और खुदा है तो डर की बात क्या है। मैं मानता हूँ कि इस गहरी धार्मिक आस्था के आधार पर दंगों की वीभत्सता कम हो सकती है और फिर वहीं से साम्प्रदायिक समस्या का उपचार भी धीरे-धीरे आ सकता है। केवल बौद्धिकता के पास से वह उपाय इसलिये नहीं आ सकता कि वहाँ तो जानमाल ही सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ है और उसके लोभ में डर से किसी तरह छूटा ही नहीं जा सकता। नागरिक को सीखना है कि पुलिस और फौज के भरोसे सुरक्षा नहीं मिलेगी। सुरक्षा प्राप्त होगी पहले आत्म-विश्वास से, फिर परस्पर के सद्भाव से।

राजनीति अक्सर दंड की भाषा में सोचा करती है। शायद अपराध को दंड से दबाने की पद्धति का कभी अन्त भी नहीं होने वाला है। पर अनुभव है कि दंड के साथ अपराध मिटता या कटता नहीं है, बल्कि बढ़ता है। साम्प्रदायिक माने जाने वाली संस्थाओं को कानून से काट देने से साम्प्रदायिकता की जड़ कटेगी, ऐसा मैं नहीं मानता। मुझे लगता है कि ऐसी संस्थाओं का स्वयं इस काम में उपयोग लिया जा सकता है। गांधी सोहरावर्दी को साथ लेकर हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की मुहिम पर बढ़ चले। राजनीतिक सोहरावर्दी को काटने की ही सोच सकता था, किन्तु गांधी की यह मूर्खता भी फल दिखा गयी और उस समय के लिये तो कलकत्ते को कुछ होश भी आ गया। लोग कुछ कहें, लेकिन मैं मानता हूँ कि मुसलमानों की जानमाल की रक्षा का दायित्व विश्वासपूर्वक आर०एस०एस० पर डाल दिया जाय तो दंगों की संख्या कम हो जायेगी और आर०एस०एस० की दृष्टि में भी एक व्यापकता आएगी। पर राजनीतिक मानस वहाँ तक उठ कब सकता है?

शरणार्थी समस्या

पूर्वी बंगाल के शरणार्थियों के प्रश्न को लेकर भारत एक जबर्दस्त आर्थिक संकट के दर से गुजर रहा है। क्या आपका विश्वास है कि निकट भविष्य में इसका कोई उचित हल निकल सकेगा?

—हल उचित अंत में वही होगा जो दोनों देशों को हृदय से स्वीकार हो और जिसमें शरणार्थी बने जनों का भविष्य संभल सके। वर्तमान परिस्थितियों में वैसा हल कठिन मालूम होता है।

क्यों?

—क्योंकि भारत और पाकिस्तान के बीच तनाव है। उनकी रचना की बुनियाद में अंतर है। एक में इस्लाम धर्म की प्रभुता है, दूसरे में सब धर्मों की समानता। दोनों प्रश्न को अलग कोण से लेते और देखते हैं। इसलिए स्वयं होकर दोनों किसी सहमत निर्णय पर पहुँच पायें, इसकी सम्भावना बहुत कम है। निर्णय जो और यदि होगा, वह ऊपर की शक्तियों के दबाव में होगा। इसलिये वह उचित की जगह अस्थिर ही रहेगा। शरणार्थियों की संख्या 60 लाख से ऊपर जा पहुँची है, और बढ़ती ही जा रही है। न्यायोचित यह है कि ये उखड़े लोग फिर अपनी भूमि पर बसें और अपने अभ्यस्त कारबार में लगें। शरणार्थियों में अधिक संख्या हिन्दू-जन की है। वर्तमान पाकिस्तान सरकार को शायद ही यह मंजूर हो कि हिन्दू पूर्व-बंगाल में जड़ डालें और वहां पनपें। इसलिए हल के लिए आवश्यक जान पड़ता है कि पूर्व बंगाल की सरकार में काफी रद्दोबदल हो। शेख मुजीब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आवामी लीग के हाथ शासन की बागडोर आये तो प्रश्न का हल भी पास आ जाएगा। आवामी लीग को इस अर्थ में शासन का पूरा नैतिक अधिकार भी प्राप्त है कि गत आम निर्वाचन में उसे भारी बहुमत प्राप्त हुआ था। आवामी लीग के समक्ष प्रश्न हिन्दू-मुस्लिम का है ही नहीं, बंगला-भूमि और बंगला-संस्कृति द्वारा समर्थित उनका पक्ष है। अमुक मत-विशेष पर उनका आलंबन नहीं है। इसलिए शरणार्थियों के प्रश्न के हल की स्थिति बनती है, यदि व्यवस्था वर्तमान मुक्ति फौज के हाथ आ जाती है।

अगर इस परिस्थिति का निर्माण होना हो, तो कैसे होगा?

—बंगला देश पंजाबी अधीनता से अपनी पूरी स्वतंत्रता चाहता है। याह्याखान इससे ठीक उल्टे बंगाल पर पाकिस्तानी कब्जा बनाये रखने में ही राष्ट्री की एकता और रक्षा देखते हैं। इसलिए लगता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से गंगा-जमुनी ही कोई राजनीतिक समझौता हो सकेगा। तब तो पाकिस्तान और बंगला देश के बीच अधिकार का बंटवारा कैसा जमता और निबटता है, यही देखने की बात रह जाती है। कुल मिलाकर भारत के माथे का दर्द जल्दी और सही तौर पर दूर होता नहीं देखता।

शरणार्थी भारत से हटेंगे

यदि दोनों में समझौता नहीं होता है तो क्या शरणार्थी समस्या के हल का कोई दूसरा विकल्प नहीं है? फिर क्या ये शरणार्थी भारत के ही अंग बनकर रहेंगे?

—सीधे इन दोनों देशों में तो समझौता होता दीखता नहीं। पर प्रश्न इतना बड़ा है कि बड़ी शक्तियों को उधर झुकना ही होगा। एक नये युद्ध का विस्फोट तो विश्व में होने नहीं दिया जा सकता। शरणार्थियों का प्रश्न ताप के उस बिन्दु तक पहुँचे, यह विश्व-स्थिति को मान्य न होगा। इसलिए निबटारे को जल्दी और किसी न किसी रूप में घटित करना ही होगा। भारत घोषित कर ही चुका है कि छह महीने बीतते-न-बीतते आये लोग यहाँ से फिर उखाड़ दिये जायेंगे। इस तरह गांठ अधिक गहरे न जाने दी जायगी, न वह सड़ांद बनेगी। उसे तो जैसे हो पहले ही काट देना पड़ेगा। पाकिस्तानी रुख में भी अभी कुछ ढील और नरमी आई दीखती है। दुनियां भी इस प्रश्न पर जगी हुई है और आशा है कि जल्दी कोई सुलझन की सूरत बनेगी। सुलह पाकिस्तान-हिन्दुस्तान की सीधी न होगी, यद्यपि हो सकती तो बहुत अच्छा था। सुलह कराई गयी होगी और वह कुछ डगमगायी सी रहे तो अचरज नहीं।

शक्ति-संतुलन का व्यूह

विश्व का राजनीतिक मानस इस विकट और गम्भीर मानवीय समस्या के प्रति निर्णय लेने और देने में ठिठक क्यों रहा है? क्या मानव की असीम व्यथा को देखकर भी उसमें व्यग्रता नहीं जगती?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—राजनीतिक मानस राजनीतिक होने के कारण मानवीय व्यथा के प्रति संलग्न भाव से व्यवहार नहीं कर सकता। उसको अन्त:करण से अधिक सैन्य-व्यूह की भाषा में सोचना पड़ जाता है। आज के संकट की बुनियाद में यही असमर्थता है। विश्व के पास नैतिक सत्ता जैसी कोई वस्तु अब तक नहीं है। यू०एन०ओ० है, किन्तु उसकी अर्हता राष्ट्रसत्ताओं के आपसी समीकरण से निरपेक्ष नहीं है। हमने देखा कि बंगला देश जैसे मानवीय संकट की स्थिति में भी यू०एन०ओ० विशेष सार्थक भाव से कुछ कर न सका। श्री ऊथान्ट राहत-मदद के स्तर से ऊपर कुछ आश्वासन नहीं दे पाये। इस तरह प्रश्न का मानवीय पहलू राजकीय के अधीन ही बना रह जाता है और अन्तर्राष्ट्रीयता केवल अपने बूते पर संकट से सुलट नहीं पाती। अधिकांश होता यह है कि जो जितना घटित हो गया, अमुक तापमान से पहले-पहले तक उसे वैसा ही स्वीकार कर लिया जाता है। इज़रायल ने झटपट बड़े विस्तार पर कब्जा कर लिया तो बात वहीं रह गयी और उससे वह भू-भाग अब तक उगलवाया नहीं जा सका। कश्मीर के जिस हिस्से को पाकिस्तान दबोच बैठा तो वह उसी का बन गया। यह स्थिति विषम है, पर कोई शक्ति राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी उभर नहीं पा रही है जो मानव मूल्यों की रक्षा में उद्यत हो और तात्कालिक राजनीतिक चक्र में उलझ कर रुकी न रह जाए। इस राजनीतिक चक्रव्यूह में जो मूल्य और नियम चलता है, वह शस्त्र-सैन्य का होता है। उसी मान और हिसाब से बड़ी ताकतें बनती हैं और निबटारे के लिए उनकी ओर ताकते रहना पड़ता है। कोई मानवीय क्षमता या सत्ता उनसे ऊपर अथवा निरपेक्ष रहकर काम कर सकने वाली मौजूद नहीं है, न उसके उदय की जल्दी कहीं संभावना दीखती है। गांधी अपने ढंग से उस नैतिक सत्ता के उदय का यत्न कर रहे थे, पर भारतीय स्वराज्य के आगमन के साथ वह उदय समाप्त कर डाला गया। सब जानते हैं कि मजहब के आधार पर ऊपर की ताकत के सहारे किया गया भारत का बंटवारा गांधी को मन से मान्य न हो सका था। कांग्रेस राजनीतिक और राष्ट्रीय संस्था होने के कारण उस सम्बन्ध में अपने हाथ कटा ही चुकी थी, फिर भी गांधी राष्ट्रवाद के आर-पार उस समस्या से अपने रूप में जूझ लेने वाले थे। बिना किसी पार-पत्र के भारत से वह पाकिस्तान कूच कर देने का संकल्प ठान चुके थे। प्रतीक्षा बस इतनी ही थी कि मुस्लिम की जानमाल की रक्षा का पूरा भरोसा पहले यहां भारत में तो बन जाए। पर इस बीच एक हिन्दू के हाथों वह ठंडे कर दिये गये और अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में घटित होने वाला एक नैतिक प्रयोग स्थगित छूट गया।

एक नया प्रकाश

महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रीका के सामूहिक कूच की इस संदर्भ में याद की जा सकती है। वह था जो राजनीति के ऊपर मानवता का अभियान कहा जा सकता था। उसी को विस्तृत आयाम दिया जा सकता तो अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक नया प्रकाश और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्ग खुल आता। सैन्य-शस्त्र की सत्ता के समक्ष शुद्ध मानवता का यह पक्ष होता और एक नया मोड़ राजनीति में उपस्थित कर सकता। आशा थी कि शेख मुजीब का आन्दोलन इस मानवीय रूप से डिगेगा नहीं और राजनीतिक मुठभेड़ में फंसा न रह जाएगा। पर आरम्भ में ही शेख मुजीब को क्षेत्र से हटा लिया गया और उनकी मुक्ति-वाहिनी पाकिस्तानी शस्त्र-वाहिनी को सामने पाकर उसी के स्तर पर शस्त्रास्त्र के भरोसे लड़ निकली। इससे वह प्रश्न अमोघ मानवीय रूप लेते-लेते राजनीतिक मात्र बना रह गया और अब तक उलझन ही पैदा कर रहा है। तब सम्भव था कि शुद्ध मानवीय बलिदान राजनीति के दुष्चक्र को अस्त और निरस्त कर देता। पर एक तो गांधी न थे, दूसरे शेख मुजीब को भी लापता कर दिया गया था।

पर शस्त्र-सैन्य के ही निर्णायक मूल्य बने रहने तक राजनीति की प्रभुता जन-मानस पर छायी रहेगी और तब यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी प्रश्न का निबटारा न्यायानुकूल ही हो। वह न्याय के प्रतिकूल और शक्ति के अनुकूल भी हो सकता है। यह स्थिति चिन्तनीय है, पर हम जानते हैं कि वह है। देखना है कि मानवता कब उसको पार कर पाती है।

नैतिक सत्ता

राजनीति की सत्ता के ऊपर नैतिक सत्ता के उदय को आप आवश्यक मानते हैं। क्या ऐसी सत्ता उदय में आएगी और क्या यह नैतिक सत्ता शस्त्र-सैन्य के मुकाबले टिकी रह सकेगी?

—शस्त्र-सैन्य जिसके हाथ में सुपुर्द किया रहता है, वह कौन है? आज तो वह दस में से नौ भाग आम चुनाव द्वारा निर्वाचित दल या व्यक्ति ही हुआ करता है। निर्वाचन के द्वारा जो मिलती है, उसको क्या नैतिक सत्ता ही न कहेंगे? अर्थात् आज भी सिद्धान्ततः सामरिक की जड़ में मान्यता नैतिक मूल्यों की ही है। पर वह सैद्धान्तिक है और मान्यता है, यही त्रुटि है। उसे धीरे-धीरे निराकृत होना ही होगा। डेमोक्रेसी के इस आदर्श को सोशलिस्ट देश भी अमान्य नहीं करते हैं। वे एक दल में भी डिमोक्रेसी की रक्षा देखते हैं, दूसरे दो या अधिक दल आवश्यक मानते हैं। पर यह सर्वमान्य है कि शासन पर शासित की इच्छा ही विराजमान रहेगी। शासित की अपेक्षा और आकांक्षा के मूल्य को सर्वोपरि रखने और गिनने में क्या आप नीति की निष्ठा ही गर्भित नहीं देखते हैं? पर उसके कार्यान्वयन में दलीय पद्धति के अतिरिक्त हमें दूसरा उपाय नहीं सूझा है। वह दलीय उपाय सैन्य-शस्त्र-सत्ता को हथियाने की वृत्ति के साथ अनुकूल और उपयुक्त ठहर जाता है। इस तरह जनतंत्र का मेल शस्त्र-तंत्र से बिठा लिया जाता है। पर आवश्यक नहीं कि मानव पुरुषार्थ वहीं रुका और अटका रह जाए। जनतंत्रता की धारणा का विकास होगा और जन का मूल्य वोट लेने तक ही न रह जायेगा, प्रत्युत उसके आगे और ऊपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी वह प्रतिष्ठित होगा। इसके सिवा मानव के लिए दूसरी गति नहीं है। तब राष्ट्र सत्ताएं परस्पर प्रतिस्पर्धा में झगड़ते रहने को बाध्य न होंगी, प्रत्युत वे परस्पर पूरक होकर चलने की शक्यता भी देख सकेंगी। आज यदि ऐसा नहीं है और उनका परस्पर सम्बन्ध सामरिक है तो यह नैतिकता का निरा इंकार ही नहीं है, प्रत्युत उसमें उसका क्रमिक उत्तरोत्तर स्वीकार भी देखा जा सकता है। मैं कह सकता हूँ कि यदि कोई सत्ता सचमुच अपेक्षाकृत स्थिर होगी तो वह नैतिक ही हो सकेगी। मात्र शस्त्र-सैन्य पर ही आधार रखने वाली सत्तायें कभी स्थिरता न प्राप्त कर सकेंगी। वहां उखाड़-पछाड़ के षड्यंत्र होते ही रहेंगे और राजनीति छल-छद्म और युक्ति-कौशल की आवश्यकता में रह जायेगी, वह सही तौर पर मानवीय और रचनात्मक न हो पायेगी। अभी कितने देश हैं जिन पर सेनापति का शासन है? गिनती के कुछेक ही ऐसे निकलेंगे, शेष पर राजपति अथवा राष्ट्रपति निर्वाचित नागरिक ही होता है। यह व्यक्ति शस्त्र-विशेषज्ञ तो नहीं होता है और मुझे निश्चय है कि यह नीति-विशेषज्ञता क्रमश: राजकीय कम और मानवीय ही अधिक होती जायेगी। इस क्रम विकास को रोका या बदला नहीं जा सकता। आज भी चरित्र को ध्यान में रखा जाता है और वह व्यक्ति सर्वोच्च पद पर नहीं पहुँच सकता जो इस सम्बन्ध में संदिग्ध है। यह सब लक्षण क्या इसी ओर इंगित नहीं करते हैं कि अन्ततः नैतिक सत्ता का विश्व में उदय होगा और शस्त्र-क्षमता का मूल्य उसके अधीन होकर रह जायेगा। यह नहीं कि आदमी के मन में से ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, वैमनस्य के बीज कट जायेंगे, याकि प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता के भाव नष्ट हो जायेंगे। नहीं, ऐसा तो कभी न होगा कि मनुष्य के लिये साधना और पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नि:शेष हो जाए। बुराइयां रहेंगी और क्लेष-कलह भी रहेगा, पर ऊपर जिसकी प्रतिष्ठा होगी और जिस मूल्य की संरक्षा और अधीनता में इन त्रुटियों और विषमताओं से निबटा जायेगा, वह मूल्य नंगी शक्ति का न होगा, बल्कि न्याय-नीति का होगा। इस सम्बन्ध में शंकाशील बने रहने की आवश्यकता नहीं है और सब दुर्घटनाओं के बावजूद उस दिशा की श्रद्धा को अपने में दृढ़ और ज्योतिष्क रखा जा सकता है।

भारत क्या करें?

भारत को शरणार्थी समस्या के हल के लिए अपनी ओर से क्या करना चाहिए?

—भारत सरकार के मंत्री श्री स्वर्णसिंह अभी लौटे हैं। गैर सरकारी यात्रा से श्री जय प्रकाश नारायण भी वापिस आ पहुँचे हैं। इन्होंने बंगला देश की घटनाओं के बारे में सब बड़ी राजधानियों में यही जानकारी दी और यह गलत न था। पर भारत को भरोसा अन्त में अपना ही रखना होगा। भरोसा नितान्त अपने शस्त्रास्त्र बल का ही नहीं, बल्कि बलिदानी संकल्प-बल का। सच पूछिये तो बलिदान वह उतना ही कारगर होगा, जितना उसमें लेने नहीं बल्कि देने की भावना होगी। यह है बल जो असली है इसलिये अजेय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अमोघ भी साबित हो सकता है। सरकार के पास ही तो शस्त्र आदि हैं, जनता के पास सिर्फ साहस और संकल्प है। सच में तो सरकार का बल उसके अपने देशवासी ही होते हैं। बलिदान की भावना में देश का जनसामान्य यदि एक और संयुक्त हो आता है तो, शस्त्र कम है या अधिक या नहीं भी है, तो भी समस्या कटेगी और भारत का भविष्य चमकेगा। बलिदान के मार्ग में शारीरिक हानि भले कितनी भी हो, जीवन उजलेगा, देश का मान बढ़ेगा और साख चढ़ेगी। यह है सच्चे बल की पूंजी जिस पर देश सही भाषा में दुर्दम्य और अजेय बन जाया करते हैं।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. छात्र : परिस्थिति और राजनीति

• दायित्वशीलता • आतंक का उपयोग • अन्याय का विरोध
• युवा आक्रोश • व्यक्तित्व की निधि

छात्र और राजनीति

वर्तमान परिस्थितियों में छात्रों का राजनीति में भाग लेना कहां तक उचित है?

—राजनीति में भाग लेने का कष्टकर परिणाम भी हो सकता है। छात्रों को ध्यान रखना होगा कि उसके कृत्य का यदि कुछ दण्ड मिलने वाला हो तो वह उन्हीं पर पड़े, माता-पिता तथा दूसरे सम्बन्धियों पर न पड़े। अर्थात् छात्र आर्थिक और दूसरी दृष्टियों से पहले आत्म-निर्भर हो जाते हैं तो कर्म-स्वतंत्रता का अधिकार भी वे पा जाते हैं।

विद्यार्थी के लिए शिक्षण-क्रम में से पार होकर अभी नागरिक बनना शेष रहता है। सक्रिय राजनीति में भाग लेने से उस क्रम में बाधा आ सकती है। राजनीति में भाग यह सोच-समझकर लेना होगा कि वह बाधा आये और पढ़ाई का क्रम टूटे तो भी उसे परवाह नहीं होगी।

राजनीति एक तो वह है जो बड़े क्षेत्र की है और छात्रों के अपने दायरे को नहीं छूती है। उसमें यदि छात्र पड़ता है तो किसी राजनीतिक दल के संकेत पर ही ऐसा कर सकता है। छात्र ऐसे अपने साथ न्याय नहीं करता है, बल्कि दूसरे के हाथों खेल जाता है।

दायित्वशीलता का काम

कुछ ऐसी भी बातें हैं जो उसके अपने क्षेत्र की हैं, जैसे अमुक कालेज या युनिवर्सिटी से सम्बद्ध छात्र की प्रतिष्ठा, प्रतिनिधित्व अथवा दूसरी ऐसी समस्या। बाहरी राजनीतिक दलों के दखल को बचाते हुए, ऐसी समस्याओं के उठने पर उनके समाधान में सक्रिय और साग्रह होना उसका धर्म हो जाता है।

संक्षेप में उसे इस बात का विचार रखना है कि अभी वह आत्म-निर्भर नहीं है, अधिकांश अपने अभिभावकों पर निर्भर है। विदेशों में कालेज स्तर के छात्र अधिकतर स्वावलंबी हुआ करते हैं। इसलिये कृत्य की स्वतंत्रता का हक उनका विशेष बन जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है? यहां पर भी कुछ न कुछ हाथ का काम करके विद्यार्थी स्वनिर्भर होना सीख सकते हैं। यह प्रथा चल सके तो विद्यार्थी के लिये शुभ होगा। यह यथार्थता को पहचानना सीखेगा। यों खाली दिमाग उत्पात सुझाता रहता है। विद्यार्थी हो सकते और होते हैं जिनका मन पढ़ाई में नहीं है और जिन्हें पैसे की अपेक्षाकृत सुविधा है। उनका दिमाग ख्वामख्वाह खुराफत की तरफ भागेगा ही। ऐसे विद्यार्थी को प्रस्तुत विचार से मैं बाहर छोड़ देता हूँ।

राजनीति में सक्रिय भाग लेना दायित्व-शीलता का काम है। उस दायित्व को निबाहने की तैयारी हो तो वैसा भाग लेने में पीछे न रहना विद्यार्थी का कर्तव्य हो जाता है। उसे इतना अवश्य देखना है कि वह अपनी अंतरंग प्रेरणा से ऐसा कर रहा है न कि किसी इशारे पर।

परधर्म भयावह

पर छात्र राजनीति में शौकिया भाग नहीं लेते, उन्हें ऐसा करने के लिये प्रशासन की ओर से बाध्य कर दिया जाता है। क्योंकि जब छात्र अपनी कठिनाइयां और समस्याओं को उठाता है तो प्रशासन की ओर से उसके साथ राजनीतिक-दाव-पेंच खेले जाते हैं तब क्या वह तामाशबीन बना कायरों की तरह यह सब देखता रहे?

—समस्यायें सभी तरह की हैं। जो छात्र के अपने क्षेत्र को छूती है, वही छात्र की अपनी समस्या है। उसके सम्बन्ध में यदि छात्र ही सक्रिय न होगा तो कौन होगा? उस सक्रियता का परिणाम रगड़ और टक्कर भी हो सकती है। संस्था से आगे राज्य के अधिकारी तक बात पहुँच सकती है। छात्र का अन्तःकरण यदि स्पष्ट है तो उसे कहीं पहुंचकर भी झुकना नहीं है, टूटना तो है ही नहीं। परिणाम में जो आए उसको झेल लेना है। शारीरिक कष्ट या प्रहार का उत्तर प्रति-प्रहार से नहीं देना है। लेकिन अपनी जगह और अपनी टेक पर डटे अवश्य रहना है। बस एक ध्यान जरूरी है : 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः'।

संस्था और राज्य के अधिकारियों को समाज ने अपनी ओर से दण्ड के कुछ उपकरण सौंपे हैं। उसका उपयोग न्यायोचित और समर्थनीय हो जाता है, अगर विद्यार्थियों के पक्ष से पथराव या हाथापाई जैसी हरकत होती है। तब न्याय का प्रश्न ओझल होकर ताकत की तनातनी पर सब निर्भर बन जाता है। वैसी स्थिति में यद्यपि अधिक सम्भव यह है कि अन्तिम निर्णय छात्र पक्ष में हो, किन्तु कुल मिलाकर छात्र-पक्ष की साख उससे बनती नहीं, बल्कि घटती ही है।

आतंक का उपयोग

देखते हैं कि फल दबाव का ही आया करता है। मांग कितनी भी न्यायोचित हो, अन्यथा सुनी ही नहीं जाती। इसलिये संख्या के बल और दूसरी प्रकार की धमकी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आतंक आदि का उपयोग बढ़ता ही जा रहा है। लेकिन इसमें खतरा है। एक बार वह पद्धति आम हो गयी तो आतंक का उपाय सार्वजनिक हो जायेगा और आततायी की बन आयेगी। अगर हम लोकशाही चाहते हैं, गुण्डाशाही नहीं, तो हिंसक दबाव की प्रथा को, उसके चलन को किसी बिन्दु पर रोकना ही होगा। उसके किसी ऐसे विकल्प को ढूंढना होगा जिसमें दबाव की मात्रा तो हो, पर उत्पात की प्रेरणा न हो। कष्ट देकर या उसकी धमकी से जो काम सिद्ध किया जाता है वह मानव-सम्बन्धों में अन्ततः विकार और तनाव छोड़ जाता है। इसके विरुद्ध स्वयं कष्ट सहते रहकर भी अपना संकल्प न छोड़ने की सत्याग्रही प्रक्रिया से एक नये प्रकार के दबाव की सृष्टि की जा सकती है। उसका फल भी आता देखा गया है और वह फल अन्त में मीठा होता है। अपने देश के गांधी ने उस पद्धति का आविष्कार किया और सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह के उपकरणों का सूत्रपात हुआ। उस प्रक्रिया का आरंभिक कदम शायद असहयोग हो सकता है। मैं सुझाना चाहूँगा कि उस प्रक्रिया का छात्र अध्ययन करें और अपनी उचित मांगों के लिये उचित अनुशासन में उसका प्रयोग करके भी देखें। जनतांत्रिक भावना और सार्वजनिक जीवन के विकास के हित में यह प्रयोग ही सही होगा। दूसरा संख्या-बल आदि के दबाव का नतीजा प्रशासन की कड़ाई के सिवा दूसरा न हो सकेगा। ऊपर जमी-जमाई सत्ता और उसके दमन-शासन को मर्यादा में रखना और उसकी निरंकुशता को हटाना हो तो अपने बीच अनुशासन से काम लेना होगा। अनुशासित आत्म-शक्ति किसी दण्ड-शक्ति से पराजित नहीं होती है, बल्कि प्रबल ठहरती है, यह इतिहास में सिद्ध हो सका है। पूरी निडरता से काम लें तो विद्यार्थी भी अपने लिये इसको सिद्ध कर सकते हैं।

स्वीकार करना होगा कि इस प्रक्रिया के यथाविधि प्रयोग के लिये विश्वसनीय नेतृत्व का निर्माण अभी नहीं हुआ है। पर क्यों वैसा नेतृत्व छात्र-वर्ग में से ही नहीं आ सकता?

छात्र और अभिभावक

आप इस बात से तो सहमत हैं कि यदि छात्र अपनी समस्याओं को नहीं उठायेगा तो कौन उठायेगा, लेकिन साथ उन्हें इस बात की ओर ध्यान भी दिलाते हैं कि इसका परिणाम उनके अभिभावक को न भुगतना पड़े। यह दोनों बातें कैसे सम्भव हैं? कौन जानता है कि समस्याओं से जूझने पर उसका परिणाम क्या होगा? इस डर से कि कहीं उसका अनिष्ट परिणाम न हो, छात्र अपने असंतोष को व्यक्त ही नहीं कर सकता और अन्दर-अन्दर घुटता रहेगा। क्या इससे उसका व्यक्तित्व कुंठित और विघटित नहीं होगा? आप यह क्यों नहीं मानते हैं कि जिस प्रकार बीमारी अथवा दुर्घटना का परिणाम अभिभावक को भुगतना पड़ता है, उसी तरह अब भी भुगत लेगा पर उसे कुंठित नहीं होने देगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—करे वह खुद और नतीजा भोगना पड़े दूसरे को, तो क्या यह छात्र के आत्म-सम्मान को सह्य होगा? मैं मानता हूँ कि छात्र यह गवारा नहीं करेगा। उपाय है कि वह अपने काम से अपनी शिक्षा का खर्च निकाले और यह कोई अनोखी बात नहीं है। मेरे एक मित्र ने, जो अमरीका में कई साल अध्यापक रहे, बताया कि दो-चार भारतीयों को छोड़कर कोई विद्यार्थी न था जो मां-बाप से पैसा मंगाकर पढ़ता हो। यूनिवर्सिटी के तल पर तो यह आसानी से हो ही सकता है। बुनियादी तालीम के विचार में तो गांधी जी की यह कल्पना थी कि शुरू से शिक्षण को हाथ के काम से जोड़कर काफी मात्रा में स्वावलंबी बनाया जा सकता है। आज की शिक्षित-बेरोजगारी, साथ ही छात्र-उपद्रव आदि की समस्या, उपज हैं—इस वस्तुस्थिति की कि अक्षर की विद्या का हाथ के काम से योग नहीं रहने दिया गया है। दिमाग पढ़-पढ़ाकर अधिकारों के बारे में जाग आता है, हाथ के काम की कुशलता और सूझ-बूझ सधी होती नहीं है। इस तरह पढ़ाई-लिखाई युवक को परम्परागत अपने काम से जब कि तोड़ देती है तब दूसरे काम की निपुणता भी उसे दे नहीं पाती। नतीजा है कि छात्रावस्था में भी आगे की बेकारी का भूत उसके सिर पर सवार रहता है।

मैं मानता हूँ कि किसी पद्धति से बौद्धिक पढ़ाई-लिखाई के साथ सामान्य-विज्ञान और कुटीर-कौशल आदि का योग बिठा दिया जाय तो छात्र समस्या काफी मात्रा में हलकी हुई दिखाई देगी।

पढ़-लिखकर विद्यार्थी आगे क्या करेगा, कैसे जियेगा, यह उसके सामने स्थिर और स्पष्ट नहीं हो पाता है। तब राजनीति के नये पेशे को और उसकी सम्भावनाओं को तो अपने चारों ओर वह खिलती-फलती देखता ही है। बस, यह धंधा खाली-दिमाग के लिये अनुकूल पड़ता है। तब उस दिशा की प्रेरणा में अगर वह बह जाता है तो शिकायत का कहां अवसर है?

याने विद्यार्थी अपने काम के दायित्व को और परिणाम को उठाने लायक नहीं हो सकता है, यह गलत है। ऐसा बने तो उसकी स्वतंत्रता का दायरा बढ़ जाता और अधिकार भी उतना ही विस्तृत हो जाता है।

सत्याग्रह का हक

इसका मतलब कि जब तक वह आत्मनिर्भर न बने अपनी समस्याओं को वह उठाये ही नहीं और प्रशासन की मनमानी बर्दाश्त करता चले? यह तो छात्रों के साथ अन्याय हुआ?

—वह कुछ करना भी चाहता है और दण्ड चुपचाप दूसरे के कन्धे सरका देना भी चाहता है। जो भी वह करे उसमें माता-पिता की सलाह ले और इस तरह उनको भी साथ शामिल कर ले तो क्या यह उसके लिए सुविधाजनक न होगा। वैसे सुनते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रहलाद ने काफी छुटपन में अपने पिता की बात के खिलाफ सत्याग्रह किया था। सत्याग्रह का हक कभी किसी से अलग नहीं किया जा सकता। पर आग्रह वह सत्य हो तो इसकी कुछ कसौटी और मर्यादायें भी होंगी। उनसे हटकर कानून को आसानी से कोई भी अपने हाथ में ले सकता और दिक्कत पैदा कर सकता है, लेकिन उससे प्रशासन आदि के अन्याय में कोई कमी नहीं आती, उल्टे बढ़वारी ही हो सकती है। सत्याग्रह से कोई किसी को नहीं रोक सकता। उस पर उम्र की भी कैद नहीं है। छात्र का वह हक सुरक्षित है ही। जो कहा जा सकता है वह इतना ही कि सत्याग्रह के नाम पर निरा दुराग्रह न हो। तब विद्यार्थी का है, क्या इतने मात्र से उस दुराग्रह का समर्थन करना ही होगा? मुझे लगता है कि आप स्वयं विद्यार्थी नहीं हैं, इसीलिये उसके पक्ष में अधिक सदय रहे हैं।

अन्याय का समर्थन नहीं

मुझे छात्र-जीवन में अनेक कडुवे अनुभव मिले हैं। उनसे मैंने पाया है कि छात्रों के साथ बहुत ज्यादती होती है। वास्तव में छात्र न्याय चाहता है, अगर उसे न्याय नहीं मिलता और अपमानित किया जाता है तो वह तिलमिला उठता है। चूंकि उसके अन्दर नया खून होता है, दबना वह जानता नहीं इसलिये अपनी तिलमिलाहट और बेचैनी जब व्यक्त करता है तो प्रशासक घबड़ा जाता है। लेकिन कारण की ओर वह ध्यान नहीं देता, परिणाम दिखाकर छात्र-समाज को बदनाम करता है। एक घटना बता रहा हूँ। जिस यूनिवर्सिटी का मैं छात्र था उसमें एडमीशन केवल सेकेण्ड डिवीजन वालों के ही हो रहे थे। बहुत से सेकेण्ड डिवीजन वाले बिना एडमीशन के रह गए। लेकिन जानकारी करने पर पता लगा कि तीन लड़के थर्ड डिवीजन के भी भर्ती कर लिए गए हैं। पूछने पर कहा गया कि आप पूछने वाले होते कौन हैं? कुछ तेज पड़ने पर मालूम हुआ कि वाइस-चांसलर के आदमी हैं। वाइस-चांसलर के पास एप्रोच करने पर उन्होंने कह दिया हम बात ही नहीं करना चाहते। आप ही बताइये अगर तीन लड़के वाइस-चांसलर के थे तो और किसके थे? क्या ऐसी बातें सह लेनी चाहिए?

—आखिर उस मामले में फिर क्या हुआ? या तो वह सुलझा, अर्थात् थर्ड डिवीजन के तीनों छात्रों की भर्ती मंसूख हुई। या नहीं तो शिकायत करने वाला, या वाले, छात्र चुप बैठ रहे। तो मैं कहता हूँ कि चुप बैठ जाने का समर्थन नहीं हो सकता। उस बात को सत्याग्रह के अन्तिम चरण अनशन तक भी ले जाया जा सकता था।

किन्तु जो मुद्दे की बात है, उस पर ध्यान दीजिये। मुझे अपने स्वार्थ की बात न्यायोचित ही लगेगी। न्याय का निर्णय मैं अपने हाथ में रख लेता हूँ तो अधिक संभव है कि उसमें दूसरे के प्रति अन्याय समाया रहता हो। इसलिये कष्ट सहन का उपाय न्याय के अन्तिम निर्णय को अपनी मुट्ठी में नहीं लेता, दूसरे पक्ष के लिये भी उतना ही अवकाश रहने देता है। अन्यथा न्याय सत्ता और शक्ति के हाथ में पहुंच जाता है, न्याय के अधीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता नहीं आ पाती। वही प्रश्न सबसे प्रधान है। 'माइट' का ही 'राइट' रहेगा, या उस 'माइट' को 'राइट' के अंकुश में भी लाया जा सकता है। आज मानव व्यवस्था में यही प्रश्न शीर्ष का और केन्द्र का है। शक्ति के ऊपर यदि सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा होनी है, तो दल-बल और शस्त्र-बल को ही अन्तिम कसौटी नहीं बनने दिया जा सकता। वह पद्धति निर्णय की अब तक चलती आयी है। सत्याग्रह वह चुनौती है कि एक और अकेला आदमी भी संगठित सत्ता के समक्ष उसके लेकर खड़ा हो सकता है।

मुझे आशा है कि विद्यार्थी उस गहरे फलितार्थ को समझ सकेंगे जो उनके आन्दोलन की पद्धति और प्रकार में गर्भित रूप से जुड़ी है। अगर निरंकुश सत्ता से प्रशासित होने को वे तैयार हैं तो वह हिंसक पद्धति को अपनी मांगों के पूरा करने की चेष्टा में सहर्ष उपयोग में ला सकते हैं। लेकिन शक्ति की निरंकुशता और मदमत्तता के ऊपर नीति-सत्ता और लोकसत्ता की प्रतिष्ठा उन्हें अभीष्ट हो, और हर मानव के सम्मान को वह सुरक्षित देखना चाहते हों, तो उन्हें सोचना होगा कि क्या कष्ट देने से कष्ट उठाने के मार्ग का अवलम्बन अधिक सही और विश्वसनीय नहीं है? प्रश्न अन्त में यही रह जाता है कि क्या इतनी हिम्मत और निर्भीकता उनमें है। मैं मानता हूँ कि हिम्मत और निडरता के सवाल पर विद्यार्थी नवयुवक कभी हलका नहीं तुलेगा, न पराङ्मुख होगा।

युवा वर्ग का आक्रोश

आज नवयुवकों में वर्तमान व्यवस्था के प्रति जो आक्रोश है और उसके फलस्वरूप जो तोड़-फोड़, घेराव और प्रदर्शन की घटनायें हो रही हैं क्या उसे मात्र अनुशासनहीनता की संज्ञा देना ठीक है? क्या अपनी मांग को रखने का यह भी एक तरीका नहीं है? जब शान्तिपूर्ण ढंग से किसी समस्या का हल नहीं होता तो मनुष्य में विद्रोह की भावना जगती ही है। क्या आप नवयुवकों के इस असंतोष और आक्रोश को अनुचित समझते हैं?

—असंतोष और आक्रोश न हो यह अस्वाभाविक है, असम्भव है। नवयुवक के बढ़ते हुए जीवन की प्रक्रिया में ये भाव अनिवार्य रूप से प्रेरक बनते हैं। पुरुषार्थ की सृष्टि आखिर होती कहां से है? व्यक्ति की चेतना अपनी सीमा पर अवरोधों से टकराती और पराजय अस्वीकार करती है। इसी में से तो जीवन चैतन्य का प्रकर्ष और विकास सम्पन्न होता है। इसलिये वह क्या युवक है जो वर्तमान पर रुक जाता है और भविष्य के आवाहक के तौर पर उसको चुनौती भी नहीं देता रहता है।

इसलिये युवक वर्ग के असंतोष और आक्रोश को मैं सर्वथा आवश्यक और श्लाध्य मानता हूँ।

प्रश्न उपस्थित होता है तब जब भीतरी ये प्राण-प्रेरणाएं बाहर अपने को अभिव्यक्त करती हैं। वह रूप विधायक हो सकता है और विध्वंसक भी हो सकता है। अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इन रूपों से निर्णीत हो जाता है कि वे प्रेरणाएं व्यक्तित्व के कितने गहरे तल से आ रही हैं।

असंतोष और आक्रोश जाकर व्यक्तित्व के गहरे से गहरे मर्म पटल को छू जाते हैं तो वे भाव स्थाई प्रेरणा बनकर समूचे जीवन को ही ज्वलन्त बना दे सकते हैं। उस अभ्यन्तर मर्म स्तर का बिना स्पर्श पाए निरी प्रतिक्रिया के रूप में उफान बनकर जो असंतोष और आवेश बाहर बिखरेगा वह न सामाजिक फल की भाषा में विधायक होगा, न व्यक्तित्व को ही कोई लाभ या गठन दे पायेगा।

अन्तःक्षोभ का प्रक्षेपण सृजनात्मक हो

जो आवश्यक है वह यह कि अंतःक्षोभ का प्रक्षेपण प्रतिक्रियात्मक न होकर सृजनात्मक हो। मान लीजिये किसी के व्यवहार पर मुझे अपना अपमान अनुभव होता है। तब उस क्षोभ में सीधे मैं उस पर प्रहार कर बैठता हूँ तो यह व्यवहार इष्ट परिणाम नहीं लाएगा। न उससे सामने वाला सम्भलेगा, न मेरे व्यक्तित्व में ही किसी प्रकार सत्व और वर्चस्व सृष्ट होगा। किन्तु दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी को भी अपमान भुगतना हुआ था। उन्हें हिन्दुस्तानी होने के अपराध में ट्रेन से नीचे खींचकर डाल दिया गया था। यही अपमान था जो भीतर आत्म-तल तक पहुँचकर बैरिस्टर गांधी में महात्मा गांधी की सृष्टि का बीज बना। वही बीज ऐसा फला कि गांधी को व्यक्ति से विराट् बना गया। वह संक्षिप्त सा व्यक्ति समूचे मानव इतिहास का शीर्ष पुरुष बन आया। क्यों? कैसे? ऐसे कि रोष का प्रक्षेपण नहीं हुआ, उसे आत्मचिन्तन के तल तक ले जाकर फिर सर्वथा शुद्ध सृजनात्मक रूप में बाहर प्रगट होने दिया गया। तक एक ओर जब वह भारतीय समाज के स्वाभिमान और पुरुषार्थ को जगाने में समर्थ हुआ, तब साथ ही इधर वह गांधी के व्यक्तित्व को भी एकीकृत अमोघता देता चला गया।

उफान के रूप में उपजा जोश उसी रूप में बाहर फैल जाता है तो वह जीवन को बिखराता भर है, उसको कसता और पुष्ट नहीं करता है।

युवकों का उत्साह केवल ताप बनकर यदि न रह जाए, यदि उसमें तप भी मिल जाए, तो वह बहुत निर्माणकारी हो सकता है। तप के अभाव में वह ताप भीतर कष्ट-क्षेत्र की ही सृष्टि करता है, कुछ निर्माण नहीं कर पाता। ताप और तप, गर्मी और रोशनी, मूलतः तो एक ही हैं। दोनों को यदि आपस का योग प्राप्त हो तो स्वरूप उसका विधायक हो आता है। होश साथ न रहे तो जोश फिर टूट-फूट मचाकर बुझ रहता है। वह व्यक्ति के चैतन्य को जगाने की जगह उसे आगे के लिये और मंद कर देता है।

असंतोष व्यक्तित्व की निधि

असंतोष और आक्रोश को फौरन बाहर लुटा देने के बजाए अगर युवक उन्हें अपने व्यक्तित्व की निधि और पूंजी बनने देता है, यानी उन प्रेरणाओं को अपने भीतर आत्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसर्जन के संकल्प का रूप लेने देता है, तो व्यक्तित्व उसका नम्र और दृढ़ बनता है। उसमें आग्रह सत्याग्रह बनकर उभरता है। इस सत्याग्रह में अनायास दूसरे आकृष्ट होकर जुड़ जाते हैं और ऐसे एक समवेत शक्ति का निर्माण कर सकते हैं।

जो आग्रह सत्य होगा तो उसका लक्षण है कि वह दूसरे को क्षति नहीं पहुंचाएगा। हर क्षति स्वयं लेगा, क्योंकि बलिदान उसका मार्ग है। बलिदान की इस तत्परता में एक अमोघ ललकार समाई रहती है। जहां हम क्षति सहते नहीं हैं उसका आघात दूसरे पर डालते हैं तो आशय है कि संकल्प हमसे पूरी तरह सृजनात्मक नहीं बन सका है, वह प्रधानत: नहीं तो अंशत: प्रतिक्रियात्मक है।

प्रेरणा की हर अभिव्यक्ति में पुरुषार्थ और पराक्रम की आवश्यकता है। वह कायर है जो भीतर सिकुड़ता रह जाता है। किन्तु बाहर की ओर यदि अभिव्यक्ति नहीं प्रक्षिप्ति है, वह तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र है, तो वही है जो विधायक की बजाय विध्वंसक हो जाती है। उसी को विधायक रूप देने में ऊंचा पुरुषार्थ और ऊंचा पराक्रम दरकार है।

हिंसा को किन्हीं नैतिक कारणों से निषिद्ध अथवा वर्जनीय मैं ठहराता हूँ सो नहीं। वैसे नैतिक आदेशों से हिंसा का शमन कभी हो भी नहीं सकता है, बल्कि उससे तो उल्टे हिंसा को उत्तेजन प्राप्त होता है। जो मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ वह यह कि वैज्ञानिक दृष्टि से सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही पूर्ण पराक्रम की द्योतक हो सकती है। केवल प्रतिक्रियात्मक सक्रियता के नीचे कहीं हीनता है और मैं मानता हूँ कि सत्ताकांक्षा का पुट भी वहां रहता है। साथ मैं यह भी मानता हूँ कि युवक अपनी प्राण-प्रेरणाओं के प्रति यदि पूरा सच्चा रहे तो वह उस सूक्ष्म भीरुता को भी अपने भीतर प्रश्रय नहीं देगा जो शुद्ध बलिदान से उसे विरत करती है।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. समस्या

● उपज ● समस्या से युद्ध ● जीवन का बल

समस्या की समस्या

समस्या किसे कहते हैं? वह कब और क्यों उपजती है?

—समय के साथ ही समस्या उपज आती है। समय की अनुभूति त्रिकाल में बंटती है और उसी के साथ हम भी बंट जाते हैं। स्मृतियां हमें पीछे को खींचतीं और आकांक्षाएं आगे को ढकेलती हैं। ये दोनों खिंचाव हमारी वर्तमानता पर आकर टकराते हैं और अनुभव होने लगता है कि हम द्वंद्व में और समस्या में हैं। होना (बीईंग) होते जाने (बिकमिंग) के रूप में अनुभूत और परिणत होता है और उन्नति एवं अवनति की धारणायें संभव होती हैं। होने के ऊपर एक जानना प्रगट होता है, जो विवेक का रूप धर लेता है। एक विचारक ने तो कह दिया कि ''मैं जानता हूँ इसलिये हूँ।'' पर होने और जानने की पृथकता आवश्यक नहीं है, यद्यपि जीवन इस पृथकता के बल पर ही चलता है। जानने के विवेक से मूल्य और आदर्श का निर्माण होता है। तब 'हूँ' मेरा इधर यथार्थ बनकर रह जाता है, और उधर ''मुझे होना चाहिए'' का आदर्श स्थापित हो जाता है। बस इस द्वैत के अन्तर और व्यवधान में से सतत और निरन्तर समस्या बनती रहती है। सच पूछिये तो होना मात्र जीना नहीं है, जीना होते जाना है। है तो पत्थर भी, पर वह मात्र है। जैसा है, वैसा है। उसे इसलिये जड़ भी कह दें तो चल जाता है। पर जीव उस तरह है भर नहीं, वह इधर-उधर होता-सरकता है, उठता-गिरता है। घटता-बढ़ता है, और नहीं तो उगता-फलता है। यह गति-परिणति की अनिवार्यता जीव को स्थिति से डिगाती और समस्या में डुबाती है। समस्या जीव और जीवन का लक्षण है, बल्कि कहिए सचेत जीव और जीवन का।

हम दुःखी क्यों हैं?

हम यह हैं, और वह होना चाहते हैं। ऐसा है, पर वैसा होना चाहिए। ऐसा है, वैसा नहीं है। ऐसा क्यों है, वैसा क्यों नहीं है? इनमें से ही दुःख और द्विभावों आदि की सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। यों भी कहा जा सकता है कि होना दुःख की अनुभूति है। अपने होने को जब भी यथार्थ में जानने की चेष्टा होगी तब मालूम यही होगा कि हम दुःखी हैं। इसलिए ही आदर्श परम सुख का बन आता है। अनुभव हमें बंधन का होता है, इसलिए आदर्श का नाम स्वतः मोक्ष बन जाता है। तमाम दर्शनों का प्रयास इस दुःख के कारण को पकड़ना और फिर उसके निराकरण का उपाय ढूंढना हो जाता है। नाना निदान बनते हैं और नाना समाधान सूझते हैं। पर संक्षिप्त सार यह कि यह 'होना' समयपरक है। समय विभक्त है और इस तरह समस्या की समय में कहीं समाप्ति नहीं है। समाप्ति है तो इसमें कि समय समाप्त हो और साथ ही साथ होना भी समाप्त हो जाए। उससे पहले समस्या ही समस्या है, प्रयत्न ही प्रयत्न है। पुरुष का अर्थ पुरुषार्थ ही है समस्या को अनुभव करना, उससे जूझना और लड़ना। कहिए कि जीवन संघर्ष है और शान्ति संघर्ष की वह स्वीकारता है जिसमें सहजता है। होने को हम जिस रूप में स्वीकार करते हैं उसी रूप में यदि पुरुषार्थ की तमाम लड़ाई को भी स्वीकार करते हैं तो इससे अतिरिक्त शान्ति की दूसरी व्याख्या नहीं हो सकती। युद्ध का विराम शान्ति नहीं है, न समस्या की समाप्ति ही शान्ति हो सकती है। समाधान को उस अर्थ में जो देखते हैं वे जीवन के पार देख लेना चाहते हैं। इसलिए हठात् शान्ति को अपनाने के प्रयास में वे ठगा जाते हैं। समस्या का समाधान है तो तात्कालिक ही है, जिसमें से फिर समस्या का उदय है और यही जीवन की गति है। यहां मृत्यु का विचार नहीं है, क्योंकि मृत्यु के पीछे जीवित शेष रह ही जाते हैं। मरने के साथ समस्या नहीं मर जाती, वह उत्तराधिकार में पीढ़ियों से पीढ़ियों को मिलती ही जाती है। मैंने दुःख-दैन्य से बचने के लिये, मान लो, करोड़ रुपया जमा किया और मर गया। तो उस करोड़ रुपये की समस्या क्या मैं उत्तराधिकारियों के लिये नहीं छोड़ जाता हूँ? मृत्यु द्वारा मैं जीवन-यात्रा से अलग खिसक रहा हूँ तो क्या यह अनुभव लेकर कि समस्या कट गयी? कटी नहीं, वरन् उपाय के रूप में अर्जित और संचित वह करोड़ की राशि ही समस्या का रूप बन गई और मेरी मृत्यु के अनन्तर उत्तराधिकारियों को उस समस्या से आरम्भ करना पड़ गया! इस तरह समस्या का कहीं अंत नहीं है और समाधान की चेष्टा में मनुष्य के साथ उससे निबटते रहना ही बदा है।

समस्या है उपहार जो समय की आत्म-सृष्टि द्वारा हम अपने को देते रहते हैं, देते जाएंगे। समय है तो सफर है, और सफरिंग है। इससे अन्यथा कुछ हो भी कैसे सकता है?

समस्या की इति संभव नहीं

क्या कोई ऐसा बिन्दु है जहां समस्याएं पूर्णरूप से निराकृत हो जाती हैं?

—नहीं, समय के अन्त का बिन्दु न आयेगा तब तक समस्या की समाप्ति भी कैसे हो सकती है? समय में होने का मतलब ही है द्वंद्व और द्वैत में होना। द्वंद्वता स्वयं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या है। अंतिम एकता का रूप अनन्यता का ही हो सकता है। समय के रहते वह सुविधा संभव नहीं। इसलिये समस्या की आत्यन्तिक इति भी संभव नहीं है।

समस्याओं से जूझना किसलिये?

फिर मनुष्य समस्याओं को लेकर जूझता क्यों है?

—जीना ही जो जूझना है। होना मात्र जो जीना नहीं है सो होते-रहने के दौरान समय के अपने और अन्य के साथ जूझना समाया है। समय, अर्थात् होने पर होते-जाने का खिंचाव, 'चाहिए' का पीछा और खोज वही चैतन्य का स्वभाव और स्वधर्म है। जीना अत: सचेष्टता और श्रमशीलता का नाम ही हो सकता है। इससे उतरा हुआ जीवन जीवन का स्वाद नहीं दे पाता, वह भार के समान हो जाता है। जिसे ढोना और बिताना पड़ता हो उसे जीवन कैसे कह सकेंगे। समय में आदमी जीता है, इसका आशय ही यह है कि चलनशीलता जीवन का लक्षण है। इसीलिये 'असतो सद् गमय' की भाषा जीवन के लिये संभव और शुभ ठहरती है। स्वयं में सिर्फ होना अपर्याप्त है, वहां से सत् की ओर ही जीना होता है। सत् है अखण्ड, नितान्त, अद्वैत। वहां इसलिये समय की स्थिति भी नहीं रह जाती। काल-बोध द्वैत में ही संभव है। इसलिये यह कहना अर्थहीन न होगा कि 'असतो मा सद् गमय' की परिभाषा रखने वाला जीवन अस्मित्व से शून्यत्व की ओर बढ़ते जाने के प्रयास का नाम ही है। यानी कि जीवन का अन्त मृत्यु में होता है, यह तर्कहीन नहीं, प्रत्युत तर्क-शुद्ध है। अध्यात्म की भाषा में भवता को ही जो बाधा माना गया है, सो सही है। होना दु:खमय है, इसलिये निर्वाण 'न-होना' ही हो जाता है। मुक्ति है होने-और-होते-जाने से मुक्ति। इसी को कहिए कैवल्य। इस निर्विकल्प निर्वाण का क्या स्वरूप है? यह प्रश्न ही निरर्थक है। सब स्वरूपता से छुट्टी हो, वही तो निर्वाण। स्वरूपता का प्रश्न ही वहां अर्थ खो रहता है।

जीवन की सार्थकता का लक्षण

तो क्या आप मानते हैं कि समस्याओं से जूझने वाला मनुष्य अस्मित्व से मुक्त होता जाता है?

—होता तो जाता है, पर एकदम हो नहीं जाता। इस जीवन तक से छुट्टी आयु के 70-80 वर्ष सचेष्ट भाव से जी लेने के अनन्तर ही प्राप्त होती है। फिर भी वह मृत्यु-मात्र होती है, निर्वाण नहीं होता। निर्वाण वह मरण है, जो स्व-इच्छित ही नहीं स्वसाधित भी होता है। जीवन की चरम सार्थकता का लक्षण ही इस तरह आत्म-बलिदान में देखा जा सकता है। शहीदों की समाधि पर पूजा का अर्घ्य चढ़ाने को हम जो विवश हो आते हैं, सो कारण यही है। उनके संकल्पित आत्म-मरण में हमें जैसे जीवन का लक्ष्य और ध्येय प्राप्त हो जाता है। मालूम होता है कि जो इस भाव से भर और मर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके वही थे जो जीवन के साथ परिपूर्ण न्याय भी कर सके। अर्थात् समस्या अंत में जूझने-जीने की ही नहीं, बल्कि उससे गहरे स्वयं 'होने' की ही है। न समझ लिया जाए कि न-होने की प्रक्रिया आसान है। तमंचा कनपटी पर रखकर दाग दिया तो चलो होने से छुट्टी मिल गयी—यह छुट्टी छुट्टी नहीं है। यह तो बचाव है, रक्षा है, पलायन है। असल छुट्टी होने के अथक पुरुषार्थ द्वारा ही पाई जाती है। यह सारा क्रम एक तरह अपने साथ एक युद्ध का ही कार्यक्रम है। सत् की प्राप्ति के लिये मानो अपने भीतर के असत् से निरन्तर लड़ना होता है। सत् के लिये तमाम अस्तित्व को स्वीकारना होगा। पर मैं अस्मित्व में जीता हूँ, अस्मि के मोह का कर्षण है जो मुझे जिलाये रखता है। अस्मि से अस्ति में उद्धरण सहज नहीं होता, उसमें बड़ी साधना लगती है। समस्या की गांठ है अस्मि की रति। इसलिये समस्या से जूझने के साथ जाने-अनजाने अस्मित्व की जकड़ से भी हम यत्किंचित् छूटते ही जाते हैं। अतः समस्या का अंतिम निबटारा स्वयं से अन्तिम छुटकारा भी बन जाता है।

पुस्तकालय

युद्ध : भीतर के ही असत् से क्यों?

सत् की प्राप्ति के लिये अपने भीतर के ही असत् से क्यों, बाहर के असत् से नहीं लड़ना पड़ता है?

—भीतर-बाहर अन्योन्याश्रित है। भीतर की लड़ाई खरी हो तो बाहर वह अवयक्त न रहेगी। पर उस लड़ाई का प्रहार बाहर विशेष दीखता हो तो यह भी मान लिया जा सकता है कि युद्ध वह खरा नहीं है, उत्क्रुद्ध और उत्क्षुब्ध है। हिंसा अपना सामने से बचाव है। उस बचाव की क्या आवश्यकता है? बचाव की वैसी आवश्यकता न रह जाए तो मृत्यु को देने की आवश्यकता भी न रह जाएगी, वह स्वयं सहज भाव से अपने ऊपर ली जा सकेगी। दूसरे को मारकर हमको हमारी समस्या से छुटकारा कैसे मिल सकता है। समस्या के निराकरण का उपाय इस तरह उसे मारकर हटा देना नहीं हो सकता कि जिसके कारण समस्या बनती लगती है। न किसी क्रोध और विषाद में स्वयं को मार लेने से ही वह उपाय हो सकता है। हां, समस्या के साथ की इस लड़ाई में मरण आता हो तो स्वयं उसे धारण कर लेने से असत् से उपजी समस्या कटती और सत् की सत्ता मुझमें से जीत आती है। समस्या का निराकरण इसी बिन्दु पर सम्पूर्ण होता है। समस्या का साथ छूट जाता, सत् का संग उपलब्ध हो जाता है। इससे अन्यथा क्या चाहिए?

मनुष्य का बल

मनुष्य किस बल के सहारे समस्या से जूझता और उसके दुःख को सहता जाता है?

—बल वह सत्-श्रद्धा का होता और हो सकता है। वह श्रद्धा हर एक के भीतर है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसके अधिष्ठान-पीठ को ही अन्तरात्मा या अन्त:करण कहते हैं।

समस्या के लिये हिंसा का सहारा गलत

समस्या से विक्षुब्ध होकर मनुष्य हिंसा पर उतर आता है, वह क्या होता है?

—होता क्या है, आदमी परमार्थ-केन्द्र से च्युत होकर स्वार्थ-केन्द्र की रक्षा पर उद्यत हो आता है। यों भी कह सकते हैं कि सत् को छोड़कर असत् की रक्षा पर वह आमादा होता है। शरीर तो एक दिन जाने ही वाला है। मरण भी एक दिन आने ही वाला है। पर इनको वह बचाता है और जो अपने भीतर नित्य सत् है, उसको गंवाने को तैयार हो जाता है। बस यह है जो क्रोध में और हिंसा में घटित हो जाया करता है। पर जाने-अनजाने हिंसा भी स्वत: के प्रति विमुखता से मुक्त नहीं होती, उतनी ही मात्रा में इसमें सार भी है। दूसरे पर टूटती है, वहीं उसका नि:सारपन आ जाता है। अत: हिंसा का उपाय समस्या के काटने में शायद ही कभी कारगर हो पाता हो। समस्या वह वैसे टल भले सकती हो, पर टलना कटने का काम नहीं देता। तभी होता है कि पारिवारिक लड़ाइयां पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती जाती हैं। हर पीढ़ी में मरने-मारने की वारदातें होती हैं, पर दुश्मनी कटती नहीं है। जड़ उसकी इन वारदातों से मजबूत ही होती है। यह है जो हिंसा द्वारा समस्या के साथ होता है। अर्थात् तनाव और बचाव होता है, कटाव कभी हो ही नहीं पाता। समस्या की जड़ होती है समस्या वाले दोनों पक्षों के मन के भीतर। वह इसलिये कटेगी तो हृदय के परिवर्तन के बिना कैसे कटेगी?

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. परिस्थिति

- अर्थ और स्वरूप
- समझौता
- दृढ़ता की कसौटी
- सृष्टि का मूल मंत्र
- प्रतिक्रिया का चक्र
- भय और आतंक
- भोग और योग

परिस्थिति—अर्थ और स्वरूप

परिस्थिति का क्या अर्थ लगाया जाए? कहा जाता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। परिस्थितियां जैसे चाहें, उसे बना सकती हैं। क्या सचमुच ऐसा है? और परिस्थितियां क्या अपने आप पैदा होती हैं? इससे और आगे चलें तो परिस्थितिवादी सफलता और विफलता का सारा श्रेय परिस्थिति को ही देते हैं। उसमें मनुष्य का अस्तित्व, उसका पुरुषार्थ और अभिक्रम जैसे शून्यवत हो जाता है।

—परिस्थिति का प्रतिपक्ष, या प्रतिकूल, मन:स्थिति है। मन हर आदमी का अलग-अलग है। इसलिये परिस्थिति का एक बहुत बड़ा आधार है मानव-संबंधों का दूसरा छोर, अर्थात् अन्यान्य मन। मानवीय या सामाजिक परिस्थिति में, जिसको प्रकृति कहते हैं, उसका विशेष भाग नहीं होता। प्रकृति की चुनौतियों पर तो मनुष्य ने मिल-जुल कर काफी काबू पा लिया है। धूप है, वर्षा है, दूसरी तरह की ऋतु संबंधी असुविधायें हैं। आदमी ने उनके बचाव की पर्याप्त व्यवस्था कर ली है। धीरे-धीरे वह बादलों के मौसम का भी दास नहीं रह जाएगा। धरती के भीतर का पानी निकाल कर वह भूमि की सिंचाई पूरी कर लेगा। प्रकृति का प्रश्न उतना इसलिए नहीं है कि वह मनुष्य के मन में उलझन की जगह उत्साह पैदा करता है।

व्यक्ति मन से निरपेक्ष नहीं

जो परिस्थिति परेशान और हैरान करती है, वह मानव कृत हुआ करती है। मनुष्य एक नहीं असंख्य हैं और वे जिन सुनिश्चित व्यवस्थित भागों में बंट गये हैं, उन्हें राष्ट्र-राज्य कहते हैं। करोड़ों-करोड़ आदमी एक-एक देश के भीतर बसते हैं और सबके पास अपने-अपने मन हैं। इसलिये जो परिस्थिति समस्या बनती है उसके संबंध में यह कहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सही नहीं होगा कि वह आदमी के मन से निरपेक्ष होती है। निरपेक्ष नहीं होती, बल्कि उस मन में बसी परस्पर विषम-विमुख वासनाओं, कामनाओं के ताने-बाने की उलझी बुनावट से बुनी होती है। इसलिए परिस्थिति का प्रश्न मन:स्थिति से अलग निबटाया नहीं जा सकता।

मन के भीतर और मन के बाहर के संसार एकदम दो नहीं होते। इसलिए परिस्थिति का प्रभाव पुरुष को बनाता-बिगाड़ता हो, मोड़ता-तोड़ता हो तो कुछ विस्मय की बात नहीं है। लेकिन साथ ही परिस्थिति के बनाव-बदलाव में भी मनुष्य के मन का और मनों का योगोपयोग होता है। आज और अब जो है वह परिस्थिति है, कल इसी परिस्थिति में कुछ न कुछ बदलाव आ गया होगा। वह परिवर्तन कहां से आया? मानव चित्त से अलग परिस्थिति तो जड़ जैसी है, वह अपने को बदल नहीं सकती। बदलती है मानव-चैतन्य की ओर से आए पुरषार्थ के कारण।

पुरुषार्थ इस तरह स्वयं विकासशील परिस्थिति का अंग हो रहता है। यानी भाग्य और पुरुषार्थ को परस्पर विरोध में नहीं देखा जा सकता है। भाग्य शरीर है तो पुरुषार्थ उसको चालना देने वाला उसी में अन्तर्निहित चित्-यंत्र है।

विषय और विषयी के भेद से क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र

दिक्कत यह होती है कि हर एक को सिर्फ अपने मन तक का पता है। मेरी मन:स्थिति ही मालूम होता है चेतन है, शेष परिस्थिति अचेतन है। इस तरह जीवन-जगत-व्यापार जैसे दो विपरीत तत्वों के संघर्ष के रूप में दीख उठता है। मैं सब्जेक्ट रहता हूँ, शेष मेरे लिए आब्जेक्ट हो जाता है। यहीं से घात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रति-प्रतिक्रिया का चक्कर चल पड़ता है। आप देख सकने हैं कि इस चक्कर का कहीं अन्त नहीं है, आदि तो है ही नहीं। भव-चक्र को अनादि कह सकते हैं। उसके आदि को खोजने चलें तो अन्त में परमेश्वर में डूबकर ही त्राण मिल पाता है। नहीं तो कारण-कार्य और मन-वस्तु का द्वैत समाप्त नहीं होता।

किन्तु चक्र का अन्त एक प्रकार से आ सकता है। प्राणि-सृष्टि में से मनुष्य का जब उदय हुआ था तो, जिसको भवता का नियति-चक्र कहें, उसके अन्त का आरम्भ भी हो गया था। मानो स्वाधीनता के युग का मानव-सृष्टि के साथ ही अभ्युदय हो आया। कारण, मनुष्य ने अपने मन का दूसरे के साथ योग साधा। उसने परस्परता का संधान किया और वहां से अपने बीच समाज का निर्माण कर लिया। मनुष्य अपनी इस साधना को आगे ही बढ़ाता जाएगा। एक जगह वह आएगी कि अपने निज के स्वार्थ जैसी चीज न रह जाएगी, परमार्थ ही सब कुछ हो आएगा। प्रेरणा के मूल में स्वाधिकार न रह पाएगा, सर्वोदय हो जाएगा। जैसे-जैसे इसमें मनुष्य की प्रगति होगी, परिस्थिति की जकड़ घटेगी, पुरुषार्थ का महत्त्व बढ़ेगा। मनुष्य घिरा-घुटा अनुभव करता है, क्योंकि मन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिरे पर से ही परिस्थिति का दबाव उसे दबाता लगता है। स्वार्थ की परिणति परमार्थ की दिशा में होते जाने के साथ व्यक्ति मुक्त और प्रसन्न अनुभव कर आएगा, उसकी अन्तःक्षमताएं सृजन के लिए खुलती और खिलती चली जाएंगी।

विसर्जन, उत्सर्ग से परिस्थिति की जकड़ शिथिल बनती है

परिस्थिति की जकड़, उसका कसाव और दबाव कम तब तक न होगा जब तक हमारी निजता दूसरे की परता के प्रति सशंक और सीमित रहेगी। आज जिस जीवन-दर्शन और जीवन-नीति को स्वीकार करके हम चल रहे हैं, उसमें सारी ताकत परिस्थिति में पहुंच गयी लगती है। लगता है कि व्यक्ति असहाय है और कोई क्रूर विधान उसके भाग्य के साथ खेल खेल रहा है। या कि विधान जैसा कुछ है ही नहीं, बस आपाधापी है और उसकी गिच-पिच में उसका 'स्व' सब ओर से बस कुचले जाने के लिये डाल दिया गया है। संत्रास, ऊब, एकांगिता इसी के फलित हैं। मेरी निजता का घेरा परिस्थिति को मेरे लिये कारागार की प्राचीर बना देता है। वह घेरा मुझ पर से हट जाए तो उस प्राचीर में उल्टे मुझे अपनी सुरक्षा और आश्वस्ति अनुभव हो सकती है। स्व-रति और स्व-सेवन में से जबकि घेरे की जड़ कटने की बजाए और कसती लगती है, तब विसर्जन और उत्सर्ग में से वह जकड़ मेरे चारों ओर से खुलती और हटती जाती है। तब परिस्थिति मानो मनःस्थिति को आश्रय, प्रश्रय और आमंत्रण देती हुई व्यक्ति को अपने सहारे से प्रशस्त से प्रशस्ततर करती जाती है।

भाग्य आत्मसंस्कार का विषय

इस संदर्भ में आप देखेंगे कि पुरुषार्थ का अर्थ बदल जाता है। साधारणतया पुरुषार्थ को प्रकृति पर प्रहार के रूप में देखा जाता है। इस नए दर्शन से पुरुषार्थ के लिए परुष, प्रबल और प्रचण्ड होने की आवश्यकता नहीं रहती। वह बड़ी सहजता से अपनी जगह ऋजु, मृदु और स्निग्ध रह सकता है। इस पुरुषार्थ में दृढ़ता रहेगी, कट्टरता न आएगी। उसमें अवकाश रहेगा, इसलिए उसके टूटने या थकने-हारने का डर न रह जाएगा। यह पुरुषार्थ परिस्थिति को टक्कर और घात देने मात्र में अपनी सार्थकता न देखेगा, बल्कि परिस्थिति में आत्म-बोध, चिद्-बोध जगाकर परिवर्तन संपन्न कर सकेगा। यह पुरुषार्थ इस तरह परिस्थिति को दोष न देगा, न कभी उसका रोना रोयेगा, बल्कि समूची परिस्थिति का उपयोग करके अपने आत्म-लाभ के मार्ग को बराबर विशद करता जा सकेगा।।

संक्षेप में परिस्थिति में बल उतना ही है, जितनी हममें स्वार्थ की गांठ कसी है। उसके ढीले होने के साथ-साथ मानो परिस्थिति की जकड़न और कसावट भी ढीली होती जाएगी। व्यक्ति को तब एक स्वतंत्रता और मुक्तता का अनुभव होगा। उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति होने लगेगी कि भाग्य कहीं बाहर से नहीं बनता है, वह अपने आत्म-संस्कार का विषय है।

परिस्थिति और समझौता

अभी परिस्थितियों की चर्चा करते हुए आपने कहा कि मनुष्य-कृत परिस्थितियां हमारे लिये अधिक परेशानी पैदा करती हैं। यह सच भी है। इन मानवकृत परिस्थितियों से निबटने और छटने के लिये कहीं न कहीं ऐसा समझौता करना पड़ता है जो हमारे सिद्धान्तों, मान्यताओं और जीवन-मूल्यों के खिलाफ पड़ता है। इस तरह हर आदमी अपने जीवन में कहीं न कहीं इस तरह का समझौता करता है और अपनी तसल्ली के लिये कुछ इधर-उधर के तर्क ढूंढ़ लेता है। आपकी दृष्टि में क्या इस तरह के समझौते होने चाहिए?

—समझौते के आधार पर ही जीवन संभव हो पाता है। परस्परता 'मैं' और 'तुम' के बीच समझौते का ही नाम है। 'समझौता' शब्द में ध्वनि डाल दी गयी है कि जैसे वह सदा अनिष्ट हो और दब्बूपन की निशानी हो। पर उत्ताप और उद्वेग लक्षण हैं दुर्बलता के। अन्तर्बल जिसमें है वही शान्त और समाहित दीख सकता है। इस प्रकार समझौता शब्द से डरने की आवश्यकता नहीं है। सच पूछिये तो समझौता और सहयोग जीवन का प्रकृत नियम है, यद्यपि उसकी मर्यादा है। सहयोग में दोनों पक्षों की स्वतंत्र मति और सहमति अन्तगर्भित है। अगर वैसी स्वतंत्रता और स्वेच्छितता दोनों ओर नहीं है, तो वह सच्चे अर्थों में सहयोग ही नहीं है। यही बात समझौते के संबंध में भी लागू मानिए। समझौता दोनों ओर से स्वेच्छित ही होना चाहिए। कहीं किसी के मन पर दबाव आता हो तो वैसा समझौता इष्ट नहीं होगा।

समझौते में रक्षा अहं की नहीं, आत्म की होनी चाहिए

मानवकृत परिस्थिति प्रकार-प्रकार की वासनाओं-आकांक्षाओं और भावनाओं के तुमुल से तैयार होती है। कह सकते हैं कि व्यक्तित्वों के आपसी मांग-प्रभार-दबाव आदि से उसका निर्माण होता है। व्यक्तित्व दो तत्वों के योगायोग का नाम है। एक को कह सकते हैं आत्म, दूसरे को अहं। आत्म वह है जिसमें अभिन्नता और इसलिए समावेश है। अहं भिन्न होता है और वहां से परस्पर स्पर्धा और रगड़-झगड़ उत्पन्न होती है। आत्मा को खोकर कोई समझौता है तो वह कृत्रिम और अनिष्ट है। समझौता इष्ट वह है जहां विसर्जन हो तो अहं का ही हो, आत्म का तो विस्तरण ही हो। समझौते की यह मर्यादा टूटनी नहीं चाहिए।

परिस्थिति से अगर हम अभिभूत और आक्रांत होकर मन अपना मरने देते हैं तो ऐसा समझौता व्यक्तित्व को क्षति पहुंचाता और उसमें विकार उत्पन्न कर सकता है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति से हार जाना है। किन्तु परिस्थिति से हमारा स्वार्थ टकराता है और हम अपने अहं-बल से उस परिस्थिति से लड़ने लग जाते हैं, उस पर प्रहार करते हैं, तो संभव हो भी सकता है कि तत्काल उससे कुछ लाभ होता दीखे। मान लीजिये कि एक परिवार में परिस्थिति यह बनती है कि भाइयों में ठन आती है। बड़े भाई को लगता है कि छोटा उसकी राह रोके खड़ा है। तब मानो वह धमकी से ही नहीं बल्कि लाठी से भी काम लेता है। छोटा भाई कुछ लिहाज और कुछ डर से बेचारा चुप रह जाता है। मान लीजिये कि बड़ा पढ़ा-लिखा नहीं है और छोटा ऊंची पढ़ाई से शिष्ट और संयत बन गया है। तो लगेगा कि लाठी के बीच में आने से एक समझौता हो गया है, बड़े की चल गयी है और छोटा उसे मान बैठा है। तो यह समझौता काम चलाऊ भर होगा और इससे दोनों की आत्माओं को अलाभ होगा। इसलिए ऐसे समझौतों को अनिष्ट ठहराना होगा।

अत: समझौते में जहां डर है वहां परिस्थिति की बन आएगी और व्यक्तित्व की हानि होगी। भय के या शस्त्र के रूप में जहां भी हिंसा का प्रवेश है, उस मानव-संबंध में गर्भित समझौता केवल तात्कालिक सुविधा का निर्माण कर पाता है, किन्तु आगे के लिये नयी समस्या और कठिनाई का निमित्त बनता है। ऐसा समझौता मनस्वी व्यक्ति को स्वीकार नहीं हो सकता। समय-साधकता का मूल्य सत्यता से ऊपर नहीं आ सकेगा।

भय और आतंक

तो सामने हिंसा का शस्त्र होने पर मनस्वी क्या करे? ऐसी स्थिति की कल्पना करके तत्वविदों में हिंसा-अहिंसा का विवाद चला करता है। उस विवाद की कहीं आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति की मनस्विता में से स्वयं उसका निर्णय आएगा। मेरे विचार में वह निर्णय उसकी निर्भीकता की मात्रा के अनुसार होगा। अधिक भय में वह दब रहेगा। भय की मात्रा इक्यावन की अपेक्षा उनंचास रह गयी तो वह मनस्वी व्यक्ति जो भी उपलब्ध होगा उसी उपकरण से हिंस्र प्रहार का प्रतिकार करेगा। वह हटेगा-हारेगा नहीं अपनी जान पर खतरा लेगा और मुकाबले में डटेगा। भय की मात्रा कम होते-होते लगभग समाप्त हो जाए, तो ऐसा सर्वथा निर्भीक पुरुष अपने अन्दर देख सकेगा कि प्रहार देने आया सामने का व्यक्ति स्वयं में डरा हुआ है। वह डर कैसे दूर हो? अपने डर के कारण उसमें प्रतिपक्षी को भी डराने का ही भरोसा हो आया है, अस्त्र-शस्त्र का आतंक ही उसके लिये मूल्य बन गया है। इसलिये पूरी तरह जो निर्भीक हो वह पुरुष अपनी जान को बचाने के लिए उसकी शस्त्रावलंबिता या आतंकवादिता को समर्थन और पोषण नहीं पहुंचाएगा। अपने निज के डर में से ही वह शस्त्र के खिलाफ शस्त्र उठा सकता है। इस प्रकार प्रतिपक्षी की शस्त्र-श्रद्धा टूटती नहीं है, आतंक और हिंसा का भरोसा उसमें बढ़ता ही है। इसलिए आस्तिक पराक्रमी पुरुष बाहरी प्रहार का प्रतिकार प्रतिप्रहार से नहीं करेगा, बल्कि प्रतिपक्षी की कायरता का अपने अन्दर की निडरता से ही प्रतिरोध करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें शत्रु बने हुए व्यक्ति को यह संतोष नहीं मिलेगा कि वह जीत सका है। क्रमश: उसमें आतंक और हिंसा के उपाय का भरोसा टूटना और गलना शुरू हो जाएगा। ऐसे आततायी और 'बुली' अपने भ्रम से उतर कर मनुष्य बनेगा और हिलना-मिलना सीखेगा।

परिस्थिति में आक्रामकता हमें तभी प्रतीत होती है, जब या तो हमारे इरादे स्वार्थता के होते हैं, या हमारी सद्भिलाषा जीवन-मोह की अपेक्षा निर्बल सिद्ध होती है। तब परिस्थिति मनुष्य को चलाती है, मनुष्य मात्र उसका आखेट हो सकता है। यह स्थिति दयनीय है और आत्मवान पुरुष के लिये विडम्बनाजनक मानी जा सकती है।

विकास की अहिंसक प्रक्रिया

एक ओर परिस्थिति की विवशता और दूसरी ओर मनस्वी चित्त में से उत्स्फूर्त अभिक्रम, दोनों के बीच सदा और सतत द्वंद्व चलता रहा और चलता रहता है। मानव-संस्कृति का तमाम इतिहास इसी द्वंद्वात्मक प्रक्रिया से अपनी रचना और विकास प्राप्त करता है। परिस्थिति यथास्थिति देती है। उसमें परिवर्तन और प्रगति का प्रवेश होता है तो वह चैतन्य में से उत्पन्न उद्भावना के कारण। और गति की यह द्वंद्वात्मकता जड़-चेतन के द्वंद्व के रूप में भी समझी जा सकती है।

इसको सामाजिक प्ररूपण में वर्तमान काल में घटित किया गांधी ने अपने जीवन द्वारा। अहिंसा में स्थिति-परिस्थिति का आदर है; सत्याग्रह में से उस स्थिति में चितिबल द्वारा गति का सन्निवेश होता और अभीष्ट समाज-परिवर्तन अथवा स्थिति-परिवर्तन का आरम्भ होता है। विकास की यह अहिंसक प्रक्रिया मानव इतिहास में गर्भित रूप में चरितार्थ सदा से होती आयी है, किन्तु उसका बौद्धिक और वैज्ञानिक प्ररूपण उनके पुरुषार्थ में से ही प्रसिद्ध हो पाया है।

सत्य-आग्रह के साथ अहिंसा का निर्वाह—दृढ़ता की कसौटी

यह सम्भव है कि आत्मा को खोकर किया गया समझौता गलत और अनिष्टकर हो, लेकिन परिस्थिति की विवशता और जटिलता में एकमात्र यही विकल्प सूझता और यही किया जाता है। यही व्यक्तित्व का वह लचीलापन है जो जीवन व्यवहार के लिए आवश्यक होता है। मान लीजिए, मनस्वी व्यक्ति अपने सिद्धांत पर अड़ जाए और दूसरे की एक न सुने तो क्या होगा? इससे परिस्थिति और जटिल बनेगी और अन्त में उसे वही जोड़-तोड़ स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि परिस्थितियों का दबाव मन पर बड़ा गहरा पड़ता है और मनुष्य एक सीमा तक ही उसे बर्दाश्त कर सकता है। सीमा पार होते ही या तो वह समझौता करेगा अथवा टूटे या बिखरेगा। जो टूटता और बिखरता है, न तो वह अपने साथ न्याय करता है और न परिवार और समाज के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही। कभी-कभी तो इस 'आत्म' और सिद्धान्त के झमेले में वह सनकी तक बन जाता है।

—एकदम ठीक बात है। लेकिन आत्मसत्य की टेक या आग्रह में दृढ़ रहने की एक मर्यादा है। अहिंसा पर गांधी ने सत्य से किसी तरह कम बल नहीं दिया। अहिंसा में व्यक्ति और परिस्थिति के सब अंगों के प्रति सत्कार के भाव का समावेश है। उस अहिंसा-धर्म के कारण सत्याग्रही में जब यथावश्यक लचीलापन रहेगा तब उसकी वह ऋजुता ढुलमुलपन कभी न बन पाएगी। राह यह दुर्गम है। सत्य के आग्रह और अहिंसा के पालन का साथ-साथ निर्वाह कर पाना खांडे की धार पर चलने के समान ही दुस्तर है। लेकिन इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन-धर्म की जगह जो उसको शुष्क सिद्धान्त सूत्र में जड़कर पकड़ेगा वह संकट में पड़ेगा। वह टूटे, बिखरे, या अन्य अनिष्ट हो, सब संभव है। सिद्धान्तवादी अथवा आदर्शवादी इसी चौखट पर चोट देते और चोट खाते रहते हैं। वे किसी भी उपलब्धि पर नहीं पहुंचते। कारण, उनका रक्त उनसे कुछ कराता है, बुद्धि-विवेक कुछ और ही सुझाता-कहलाता रहता है। इस द्वंद्व में वे फट जाते हैं। फटने से पहले गम्भीर द्वंद्व का दंश सहते रहते हैं। जीवन में उनके हठात् दुमुंहापन और कपट आए बिना नहीं रहता। व्यक्तित्व को इस पद्धति से संयुक्तता और संग्रथन कैसे प्राप्त हो सकता है। उल्टे उसमें विग्रह और विघटन ही बढ़ता और दरार भीतर चौड़ी होती है। आत्मवत्ता के अनुकूल ही समझौता हो, अन्यथा अपनी ओर से ऐसी दृढ़ता रखी जाए कि मृत्यु तक स्वीकार्य बन जाए— तो यह कठिन है। इसीलिए संसार में गिनती के जन उस राह चलते हैं और उनमें विरल ही मंजिल के आस-पास पहुंचते हैं। किन्तु यह निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि मुक्ति का मार्ग और जीवन का धर्म इससे दूसरा नहीं है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

व्यावसायिक जीवन-दृष्टि

इसलिए यदि जगत के अधिकांश व्यक्ति उस ओर निगाह करते हुए डरते हैं तो यह असंगत नहीं है, वह है ही दुर्गम। वे इसलिए अगर आर्थिक लाभ के लेने-देने में अपने चित्त के और बाहरी परिस्थितियों के साथ समझौता करते हैं तो उन्हें या किसी को दोष कैसे दिया जा सकता है? जीवन की सुविधा और सुरक्षा का मार्ग वही जो दीखता है। आप यह न समझिए कि बड़ा बैंक एकाउंट और मोटा जीवन-बीमा कराने वाला व्यक्ति हृदयहीन ही होता है। वह इतना कातर हो सकता है कि दीन-दुखियों की पंक्ति को रोज बिठा कर उन्हें रोटियां तक बांटे, चींटियों को चीनी खिलाए। पर यह सहृदयता लाखों-लाख और करोड़ों-करोड़ रुपया अपने पास खींच और जमा रखने से उसे बचा नहीं पाती, तो कारण उसमें आत्मा का साथ का यही समझौता है। आत्मा से क्या होता है? परिवार के जन सुखी, सन्तुष्ट और भरे-पूरे रहें, चारों ओर प्रतिष्ठा और सम्मान हो, हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा की पूर्ति के लिए पर्याप्त द्रव्य हो तो फिर और क्या चाहिए। ऐसे लोग कीमत में आत्मा को खोते भी हैं तो इसे घाटे का सौदा नहीं मानते। इस जीवन-पद्धति को समझौते की नहीं, बल्कि समझौतावादी ही कहना चाहिए।

मुझे क्षमा किया जाए अगर मैं उस व्यावसायिक जीवन-दृष्टि को सम्यक् दृष्टि न मान सकूं। न उस दृष्टि से किए गए समझौते और सौदे को बड़ा लाभकारी कह सकता हूँ। मुझे लगता है कि यह दृष्टि अपनी लीक में असामाजिक, अनैतिक और अधार्मिक परिणति ले सकती और अत्यंत अनिष्ट परिणाम ला सकती है।

भोग और तप के वाद

परिस्थितियों की जकड़ से बचने और जीवन को अधिकाधिक सुखी बनाने के लिए भोगवाद का सिद्धान्त चल पड़ा। आचार्य श्री चार्वाक इसके प्रवर्तक माने जाते हैं। इस भोगवाद का मूल सिद्धान्त है, खाओ-पीओ, मौज करो; जो कुछ है यही है और इस जीवन में ही है, इससे बाहर का पता नहीं। इस भोगवाद की खूब आलोचना हुई और चार्वाक के ग्रन्थों को नष्ट कर दिया गया। लेकिन आज यदि हम समाज के अन्दर झांके तो लगेगा कि हम आज भी भोगवाद की ओर ही बढ़ रहे हैं। मानो यही वास्तविक जीवन-दर्शन हो और इसी को चरितार्थ करना हो। ऐसा क्यों है? मनुष्य क्यों भोग में अधिक दिलचस्पी लेता है? क्या उसके अन्दर ही कुछ ऐसा है जो भोग की ओर प्रेरित और धर्म से विमुख करता है?

—आप जोर देते हैं कि ऐसा होना और वैसा नहीं होना चाहिये। इस चाहिए का जोर उल्टा जोर भी पैदा करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। भोगवाद की निन्दा कीजिये और आप देखेंगे कि उससे उसी वाद को ताकत मिल रही है। बुरा-भला कहने में कहने वाले की दुर्बलता अधिक प्रगट हुआ करती है।

धर्म किसी हठ का नाम नहीं है

समस्त जीवन क्या भोग नहीं है? पत्थर में भोगाकांक्षा नहीं होती। मनुष्य मनुष्य इसीलिए है कि उसे पत्थर नहीं होना है। जब-जब धर्म ने, नीति ने, अध्यात्म ने भोग से डरकर इस पाषाणता की उपासना की तभी देखा गया कि नीचे से भोग ही नहीं, भोगवाद तक जन्म पा रहा है। धर्म किसी हठ का नाम नहीं है, सत्यानुसंधान अथवा प्रणिधान से सहज धर्म की आराधना हो आती है। धर्म जीवन की समग्रता को धारण करता है। सृष्टि या संसृति जो हमसे बाहर होकर अनन्तता तक फैली है त्यक्त होने के लिये नहीं है। कितना भी इन्द्रियों को मार लो, चेतना का कण भी जब तक शेष है वस्तु-जगत का आभास उस द्वार से आए बिना न रहेगा। अपने निजत्व के स्वीकार में अन्यत्व का इंकार संभवनीय नहीं है। चित्त और वस्तु परस्पर आश्रित संज्ञाएं हैं। हठात् परस्पर से निरपेक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर, अपने-अपने में होकर, दोनों असिद्ध हो जाती हैं। दोनों के बीच अटूट संबंध है। उनमें नितान्त द्वैत मानकर जो बुद्धि उनके बीच के संबध को शिथिल करती है वह बुद्धि अकारथ है और अनर्थ पैदा करती है। दोनों दिशाओं में ऐसा आग्रह चला है। एक ओर कठिन काय-क्लेष और कृच्छ तपश्चरण का मार्ग खुला है, तो दूसरी ओर उल्लंग भोगाचार के व्यासंग को भी उतनी ही लगन से अपनाया गया है। इन दोनों अतियों के सिरे एक दूसरे को थामे रहते हैं।

डर अपने में एक है। डर भोग का हो सकता है, यम-नियम का भी हो सकता है। ऐसे ब्रह्मचारी हैं जो स्त्री को देख तक नहीं सकते। उस ब्रह्मचर्य को क्या कहिए जो डर से अपने में सिमटता है। उधर व्रत और संयम की कल्पना से भी कुछ लौकिकों को डर लग आता है। आरोग्य के लिए भी कुछ इस तरह की बात सुझायी जाए तो उनका मन स्वीकार नहीं करता। चिकित्सा में दवा उन्हें ऐसी चाहिए कि पथ्य-परहेज न पालना पड़े। औषधि के साथ और हिदायत उन्हें नहीं सुहाती। अर्थात् भय-संशय पर आधारित कोई वाद अपने प्रतिवाद को जगाए बिना नहीं रह सकता। तप का वाद भोग के वाद से इस अर्थ में बहुत भिन्न नहीं है। दो राहें वे अलग-अलग दीखती हों, पर हठ दोनों में एक है।

धर्माचार का असल लेखा-जोखा

जिसकी निन्दा और भर्त्सना होती है उस भोगाचार के वाद को मैं कोई अनुमोदन नहीं दे रहा हूँ। किन्तु धर्माचार को ही लीजिये। वह तो वरेण्य मालूम होता होगा। उस प्रकार के आचार को समाज में प्रतिष्ठा मिलती है, पूजा तक दी जाती है। किन्तु उस धर्माचार की पर्त को नीचे से उघेड़िये तो मालूम होगा कि ऊपर दीखने वालों के बालाखाने के नीचे छिपा एक अंधेरा तहखाना भी है। रास्ते के लिये उनमें चोर-द्वार है और किसी को पता नहीं चलता। कभी तो आदमी को खुद तक पता नहीं रहता, पर आवा-जाही दोनों मंजिलों में सतत बनी रहती है। ऊपर दीखती सफाई के कारण किसी को हम धर्माचारी कह तो देते हैं, पर बेसमेंट का क्या पता? जहां खुला भोग है, सतह के ऊपर से ही दीखता है, वह अधमाचारी है; चाहे नीचे दबे अन्तःकरण में वहां कितना भी संताप और अकुलाव क्यों न हो। याद रखना होगा कि आदमी एक है, साधु भी आदमी हैं, दुष्ट भी आदमी है। दो विभाग व्यवहार के लिये उनके अलग-अलग बन गए हैं, धर्म-विचार में वे नहीं ठहरते। यमराज का बहीखाता मिले तो पता नहीं वहां से क्या उघड़ आए। निश्चय ही उस बही का हिसाब-किताब खुले तो यहां का लेखा-जोखा सब गड़बड़ में पड़ जाए। दुष्ट साधु वाला आग हिसाब सब उलट-पलट हो जा सकता है।

इसलिए आदमी सचमुच सन्त हुआ तो उसे कहना पड़ गया कि मुझ सा कुटिल-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खल-कामी दूसरा नहीं है। फिर उस सन्त के सामने किसी क्रूर अपराधी को ले जाइए तो कौन जाने वह उसके सामने प्यार से रोने तक न लग जाए!

अर्थात् भोगवाद की मनमानी नीतिवाद की ज्यादती के कारण भी उपजी हो सकती है।

भोग निरर्थक नहीं

मनुष्य में भोग है और निरर्थक नहीं है। अनर्थक तो उसे नास्तिक ही मान सकता है। लालसा, वासना, भोगाकांक्षा आदि शब्दों में अरुचि की कितनी भी ध्वनि डाल दी गयी हो, लेकिन इतना तो है कि वहां निज में से कुछ अन्य की ओर जाता है। यह अन्यान्य की परस्पर संबद्धता चेतना का प्राथमिक लक्षण है। यह संबद्धता सम्पूर्णता की ओर बढ़ती है तो इसी को योग कहना पड़ता है। सिमटने पर भोग, फैलने पर योग। हमारे व्यक्तित्व की संबद्धता जब अमुकामुक व्यक्तियों में से होती हुई पार जीवन जगत की समस्तता और सत्यता की ओर जाती है तो वही धर्म और मोक्ष का साधन हो जाती है। उससे विमुख जब वह व्यक्तियों में रुक और अटक जाती है तो हठात् उसे कुछ ऐसा नाम देना होता है जिससे सूचित हो कि वहां मनुष्य की मनुष्यता के साथ न्याय नहीं हुआ है। भोग से योग तक धर्म का वितान है। जीवन का यत्किंचित कण भी वहां वर्जनीय नहीं है, समस्त प्राणोर्जा का वहां आह्वान और सत्कार है। वर्जनीय यदि है तो केवल वह जो जीवन-विमुख है और ऊर्ध्वगामी ऊर्जा का जहां हठात् अविश्वास और अपवाद होता है। यह भाव-प्रतीति हो जाने पर मन में से निन्दा समाप्त हो जाएगी और सहानुभूति सब दिशाओं में खुल चलेगी।

भोग : स्व से बाहर आने की दिशा में प्रयास-चरण

मनुष्य मुक्ति चाहता है। हर किसी 'से' नहीं, हर किसी 'में' मुक्ति। जाने-अनजाने उसके विकास का आयाम वही है, 'स्व' से शेष की ओर। जो अनिष्ट है, पाप है, वह है 'पर' के डर से 'स्व' में सिमट कर बन्द हो जाने की चेष्टा। चाहे फिर इस चेष्टा को अध्यात्म और ध्यान-वैराग्य का ऊंचा नाम क्यों न दिया जाता हो। भोग में भी 'स्व' से बाहर आना होता है। इसीलिए काम-वासना आदमी के रक्त में गहरे से गहरी बसी हुई जान पड़ती है। वह हमें 'स्व' में ही रमने नहीं देती, जाने किस ओर से तृष्णा-कामना हममें जगा ही देती है। मैं मानता हूँ कि इस मूलभूत अभिमुखता को हम कृतार्थभाव से अपनाएं और उसका विस्तार करते जाएं तो इस धर्म में भोग कभी आड़े नहीं आएगा। बल्कि यथायुक्त रह कर वह धर्माराधना को बल-पोषण देगा और साथ ही उसे स्निग्धता और ऋजुता भी प्रदान करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग और योग

आप कहते हैं कि भोग की इच्छा को रोकना नहीं चाहिए। योग उसी में से फलित होगा। तो क्या भोग और योग दोनों एक दूसरे से विपरीत नहीं हैं? पर भोग का कहीं अन्त नहीं है। अनेकानेक भोग हैं, अनेकानेक उनके प्रकार हैं। सुख और भोग के पीछे लग जाइए। खूब पैसे खर्च कीजिए। फिर भी लगेगा कि अभी अमुक-अमुक की कमी है। इसलिए भोगों को त्यागता उससे बचना ही ठीक है। वह मुक्ति नहीं बन्धन का मार्ग है। भर्त्तहरि ने इसी की ओर संकेत करते हुए कहा था—

भोगाः न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तृष्णाः न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

अर्थात् भोगों को हम नहीं भोगते, भोग खुद हमें भोग लेते हैं। तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती, हम स्वयं ही जीर्ण बन जाते हैं। इसलिए भोग और भोगवाद का समर्थन नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य अत्यन्त महान् है। वह भोग के रास्ते से नहीं प्राप्त किया जा सकता। भोग में संयम और नियम कहां हैं? जहां संयम नहीं है, वहां कुछ नहीं है।

—क्या आप यह चाहते हैं कि मैं आपकी बात काटूं? आपके मन में भोग और योग इन शब्दों को लेकर निश्चय बन चुका दीखता है कि दोनों में वैर-विरोध है। किसी के निश्चय को डिगाना अच्छा नहीं होता। यों वह डिगता है भी नहीं। इसलिए आपके भोग और भोगवाद को मैं योग मार्ग की बाधा मान लेता हूँ। संयम की आवश्यकता को भी मान लेता हूँ। उन दोनों शब्दों का प्रचलित अर्थ किसी निष्कर्ष की ओर प्रेरित करता है और वह अश्रेयस्कर भी नहीं है। समाज स्थिति के लिए उससे हेय-विधेय की रेखा मर्यादाएं बनती है और वे उपयोगी और जरूरी भी होती है। मेरे शब्दों में उनका सर्वथा भंजन और खण्डन देखना भी उचित नहीं होगा।

बलात् इन्द्रिय दमन : रोग के लिए रोगी का नाश क्यों?

लेकिन इच्छा है, तो है। क्या जो है, वह नहीं में से आ सकता है? यह तो मान भी लिया जाए कि इच्छा विकारी हो सकती है। पर कुछ मौलिक तो होगा न कि विकार के स्पर्श से जो विकारी हुआ होगा। तो वह मौलिक तत्व क्या है? क्या उसका नाश हो सकता है? पर विज्ञान का पहला सूत्र है कि जो है, उसका परिणमन कितना भी हो, नाश नहीं हो सकता।

तो उस मूल तत्व की ओर से विचार करने पर हम यहीं तो पहुंचेंगे न कि नाश विकार का होगा और इसलिए होगा कि प्रकृत-अविकृत और मौलिक अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध हो सके। शुद्ध और स्वस्थ रूप योग है, तो भोग उसी का विकृत और रुग्ण रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। रोग-विकार होने पर क्या हम रोगी को तज देते हैं? रोग के लिये रोगी को नष्ट करने की सलाह कौन दे सकता है।

भोगानन्द : तुच्छ

भोग मूलतः छूट नहीं सकता। सूरज के उदय की अगवानी में आकाश जो नाना वर्णों की रंगच्छटा दिखा आता है, आंख उसके सौन्दर्य-भोग से क्या बचने की कोशिश करे? मनुष्य को जो चैतन्य प्राप्त हुआ है, इन्द्रियां उसको कृतार्थ करने के लिए हैं। उन इन्द्रियों के सदुपयोग से आनन्द-लाभ आत्म-लाभ प्राप्त होता है। इस सारे लाभ को क्या भोग से अतिरिक्त कुछ मानना होगा? 'स्व' हमारा सीमित है। उस सीमा में रहकर भी हमारी धन्यता यह है कि अपने में निहित चित्-क्षमता द्वारा हम इस चारों दिशाओं में फैले अनंतानंत विस्तार के प्रति खुल आते हैं। इस अपार ब्रह्माण्ड के दर्शन से विस्मय और पुलक का अनुभव करते हैं। 'स्व' शेष का भोग पाकर मानो अपने में विस्तार उपलब्ध करता है। इस भोग को स्वरति से विमुक्त करके देखिए तो क्या वही योग नहीं हो आएगा? शायद हममें भय और संशय रस का है। किन्तु भोग में यदि रस है तो क्या उसकी अपूर्णता ही योग में पूर्ण नहीं होती है। भोगानन्द असल में ब्रह्मानन्द की अपेक्षा तुच्छ ही है। सागर के समक्ष बूंद की क्या बिसात? पर अपनी प्रकृति में क्या बूँद सागर से भिन्न हो सकती है? बूंद-बूंद को इंकार करते जाने से क्या सागर संभव तक रह जाएगा? इसलिए कहना होता है कि भोग के इंकार पर योग को नहीं खड़ा किया जा सकता है। शरीर को और इन्द्रियों को सुखाने-मुर्झाने से आत्मोपलब्धि नहीं हो जाएगी। आत्मा में और इन्द्रियों में वैर थामकर चलने से व्यक्तित्व को एकीकरण अर्थात् मोक्ष कभी प्राप्त न होगा। जो आवश्यक है वह यह कि काया और इन्द्रियां आत्मानुसारी हों। इसमें उनका उपयोग असिद्ध नहीं होता, बल्कि विघ्न समझी जाने वाली शरीरेन्द्रियां इसमें कृतकाम होती हैं।

योग : भोग का प्रकृष्ट परिणत रूप

'स्व' बिन्दु है, ब्रह्माण्ड अपरंपार है। परमेश्वर की चिन्मय सत्ता अखिल में व्यापी है। तो निखिल की यह व्याप्ति उस क्षुद्रातिक्षुद्र बिन्दु को कैसे प्राप्त होगी? प्रक्रिया यही तो हो सकती है कि वह अपने से बाहर आए और अन्य से युक्त हो; अन्य के अनन्तर अन्यान्य से, और इस कड़ी में फैलते हुए क्रमशः सबसे वह आत्मीयता प्राप्त कर ले। इसमें वह स्वत्व को खोने से आरंभ करता और सर्वस्व को पाने की ओर बढ़ चलता है।

भोग में क्या होता है? वहां 'स्व' अपने को खोने का अवसर पाता है। कहिए कि दो के स्वत्व आपस में लीन होकर एक परस्परत्व का निर्माण कर आते हैं। इसी परस्परता के प्रसार से समाज की सृष्टि होती है। आप देखेंगे कि इस विकास प्रक्रिया के मूल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग है। विवाह के संस्कार से स्त्री-पुरुष का यह संभोग धर्म्य बन जाता है। वहां से संसृति का क्रम चलता जो मानव-विकास को उपरोत्तर उठाता जाता है।

सृष्टि के मूल मंत्र में निहित आशय को पकड़ें

संभोग की त्रुति है तो यह कि वह एक का एक से संबंध है। एक का जो संबंध सर्व से होगा वह सम-योग का संयोग कहलाएगा अर्थात् योग भोग का इंकार होने के बजाय उसका प्रकृष्ट और परिणत रूप है।

इस कारण भोग को ऊपर से संयम अथवा दण्ड से दबाए रखने से व्यक्ति या समाज की समस्याओं की कभी समाधान प्राप्त हो सकेगा, यह निरी भ्रांत धारणा है। मनोविज्ञान ने शब्द प्रस्तुत किये हैं—उन्नयन, उदात्तीकरण। उनमें आशय है कि मूल प्राण में ऊर्जा को किसी अरुचि या भय के पूर्वार्जित संस्कार के कारण तिरस्कृत नहीं करना है, प्रत्युत उसे सत्कृत और सदुपयुक्त करते जाना है। परमेश्वर की सृष्टि के आधार में यदि परस्पर भोग को मूलमंत्र के रूप में निविष्ट रखा गया है तो हमारी चेष्टा होनी चाहिए कि उसके आशय को प्राप्त करें और किसी अहंवादिता में नास्तिक न बनें।

भोगवादियों का तर्क : प्रत्यक्ष-परोक्ष का झमेला

भोगवादियों का एक वजनदार तर्क यह है कि भोगवाद में सुख और भोग की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। एक से बढ़कर एक सुख यहां प्राप्त हो सकता है। इस सुख की अनुभूति कराने के लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती। पर आत्मावाद, संयमवाद, ब्रह्मवाद आदि बिल्कुल शुष्क हैं। आंख-कान मूंदों और कुछ दिखाई-सुनाई भी न पड़े। इसलिये वह वाद मिथ्या है। कैसे यह इंकार किया जाए कि भौतिक सुख चाहे क्षणिक ही क्यों न हो, उसकी अनुभूति सबको नहीं होती। उसी के सहारे और आसरे आदमी आगे से आगे चलता जा रहा है। वह जानता है कि इसमें क्षणिक सुख है, फिर भी उसे प्राप्त करना और भोगना चाहता है। क्योंकि स्थायी सुख की कल्पना तो उसके मन में है लेकिन वह साफ नहीं है।

—यह क्या पहले प्रश्न से यह प्रश्न उल्टा नहीं हो गया? दोनों क्या एक दूसरे को काट नहीं देते? पहले में भोगवाद की भर्त्सना है, दूसरे में समर्थन। क्या मैं मान सकता हूँ कि यह तो प्रश्न के खातिर प्रश्न हो गया।

यह सही है कि आनन्द और रस प्रत्यक्ष के संग ही है, परोक्ष पर स्थगित होकर वह रह नहीं जाता। किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्द स्वयं में झमेला पैदा करते हैं।

मानसिक भोग

एक आम अनुभव है, मनोविज्ञान इसको खूब जानता है। वह अनुभव यह कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलिंगन में जिसका शरीर है, मन के ध्यान में उससे किसी दूसरे की सूरत ही है। अर्थात् उपलब्ध शरीर के भोग में मिलने वाला रस कहीं उस परोक्ष के ध्यान से आता है तो कल्पना के अतिरिक्त सर्वथा अनुपस्थित है। प्रत्यक्ष से स्थूल प्राप्ति है, रसोपलब्धि परोक्ष से है।

रसानुभूति मात्र शारीरिक व्यापार नहीं है। उसमें मानसिकता का अधिक भाग है। मानसिकता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष वह हो सकता है जो शारीरिक रूप से है तक नहीं। लोग हैं जो स्वर्गीय पत्नी या प्रेयसी के प्रेम में से बाद तक जीवन की खुराक जुटाते रहते हैं। मीरा बाई कृष्ण के विचार के साथ परिरम्भण और परितृप्ति प्राप्त कर लेती थीं। साधारणतया लगेगा कि विचार के साथ परितृप्ति का सम्बन्ध बैठता नहीं है, लेकिन तथ्य उल्टा है। इसी तरह अमूर्त के साथ प्रगाढ़ प्रेम और भक्ति का संबंध बनाया ही नहीं जा सकता, उसमें से भरपूर रस पाया जा सकता है।

भोग को शरीर तक सीमित समझना उस भोग द्वारा प्राप्त होने वाले रस की प्रकृति को न समझना जैसा हो जाएगा। यों शरीर की निकटता में से घोर अरुचि भी उत्पन्न हो सकती है।

भोग में मानसिकता का योग

भोगवाद इसलिये बहुत सतही वस्तु है। कौन जानता है कि वहां ऊब और अवसाद की ही प्रेरणा अधिकांश काम न करती होगी। क्योंकि उस वाद में शरीर से हम वह पा लेना चाहते हैं जो शरीर दे नहीं सकता। मनुष्य की यही विडम्बना है कि वह मात्र शरीर नहीं है। अपनी मानसिकता से वह छूट ही नहीं सकता। इस मानसिकता को बाद देकर जो भोग को पकड़ते हैं वे ठठरी को ही ले पाते हैं। अर्थात् ऐसे लोगों के हाथ कुछ नहीं आता, सिर्फ निराशा और वितृष्णा आती है। भोगवाद में से ये परिणाम फलित होते सब देश और काल में देखे जा सकते हैं। भोग को शारीरिकता पहना कर, उसके रमण में से, मालूम होता है कि व्यर्थता ही मिली है, आगे और अतिरिक्त एकदम कुछ भी नहीं मिल पाया है। अधिकांश हठपूर्वक मानसिकता के विरोध में चलाया गया यह व्यापार है!

क्षणिक और स्थायी में अन्तर डालने की कोई जरूरत नहीं है। क्षण अपने में चिरकालिक क्या, अमर तक हो सकता है। स्थायित्व की मांग प्रेम से नहीं की जा सकती फिर भी प्रेम ही है जिसमें से सार्थकता और धन्यता की अनुभूति मिलती है।

शरीर की अपेक्षा से काम नाशवान

प्रेम और काम में अन्तर है तो यह कि प्रेम में मानसिकता की मात्रा इतनी होती जा सकती है कि वह अशरीरी तक हो जाए। काम शब्द की सीमा है कि वहां शरीर का अतिक्रमण नहीं हो सकता। शरीर का जहां प्रश्न आया तो भोग क्षणजीवी ही हो पाता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृप्त और सम्पूर्ण हो ही नहीं सकता। परिपूर्ण तो प्रेम मानसिक और अतिमानसिक रह कर ही होगा। इस शरीर-निरपेक्षता के कारण वह प्रेम परस्परता में बंद नहीं होता, बल्कि सदा सर्व के प्रति गतिशील और विस्तरणशील रहता है।

शारीरिक और मानसिक के मात्रा भेद से ही भोग और योग को पहचाना जा सकता है। प्रेम-तत्व की अनिवार्यता दोनों जगह है। प्रेमहीन संयम और योग उतना ही छूछा, थोथा और बेकार है, जितना प्रेमहीन भोग-संभोग। और तपस्या योग-साधन आदि में भीतर की प्रेमहीनता के उदाहरण कम नहीं मिलेंगे। उसी के कारण धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र गहरी विडम्बना और गर्हणा के पात्र बन आते हैं।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. स्वतन्त्रता

- स्वरूप और प्रेरणा
- कामना और वासना
- यौन संबंधों की स्वतंत्रता
- विवाह का आधार
- प्रेम में परतंत्रता का तिरोभाव
- अहं से उत्तीर्णता का आधार
- अवैध संतति का अपघात अक्षम्य

स्वतंत्रता और आत्मव्यवस्था की परस्पर साधना

आदमी स्वतंत्रता चाहता है। उसे हर तरह की स्वतंत्रता चाहिए—लिखने, भाषण करने और प्रेस की स्वतंत्रता। फिर इस स्वातंत्र्य के अधिकार में जब अव्यवस्था और अनुशासनहीनता फैलती है तो लगता है स्वतंत्रता की सीमा भी होनी चाहिए। सम्भवत: समाजवादी देशों में इसीलिए इस स्वतंत्रता पर अंकुश लगा होता है। आपके विचार में स्वतंत्रता और परतंत्रता का यह प्रश्न कहां तक उचित है?

—हर आदमी स्वतंत्रता चाहता है। इसलिए हर एक की स्वतंत्रता हर दूसरे से मर्यादित हो जाती है। अपनी सीमा पर दूसरा भी है और वहां अपनी समाप्ति आ जाती और दूसरे की स्वतंत्रता का आरंभ हो जाता है। इसका आशय कि सामाजिकता अपने से ही व्यक्ति की स्वतंत्रता पर मर्यादा डालती है। समाज के स्वास्थ्य और सामर्थ्य का निर्णय इसलिए इस पर निर्भर करेगा कि वहां आपस में व्यक्तियों की स्वतंत्रताएं कितनी स्निग्धता और घनता से ग्रथित और गठित हैं। अगर उन स्वतंत्रताओं में टकराव है तो वह समाज में विकार और विषमता का सूचक है। मानव-संबंध स्वेच्छया स्निग्ध और विश्वस्त हों तो समाज पुष्ट माना जाएगा। यदि समाज के लोगों को अनुशासन में रखने के लिए ऊपर राज की ओर से कड़ी व्यवस्था और शासन की आवश्यकता होती है तो समाज उसी मात्रा में अस्वस्थ भी माना जा सकता है। समाजवादी देशों में राज्य-शासन की कितनी कड़ाई आवश्यक होती है, इस कसौटी पर ही सब स्थगित है। मानव-संबंधों में शोषण और हिंसा की संभावना को अगर राजकीय यंत्र से ही बचाया रखा जा सकता है तो यह स्थिति परिपूर्ण स्वास्थ्य की नहीं समझी जाएगी। स्वतंत्रता का अर्थ जहां प्रबल की मनमानी हो सके तो वह समाज तो निर्वीय ही है। स्वतंत्रता और आत्मव्यवस्था दोनों एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे को परस्पर साध सकें तभी सही हालत माननी चाहिए। तब राज नियंत्रण के कड़े होने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। समाजवादी राज्यों में शायद राज्य के लिए निगरानी और नियंत्रण का काफी काम रहता है। इसको समाज की बहुत उन्नत अवस्था नहीं कह सकते।

स्वतंत्रता और शासन का नियंत्रण

पर जब इस स्वतंत्रता का प्रयोग राज्य में अव्यवस्था फैलाने और कानून भंग करने के लिए किया जा रहा हो तो इस स्वतंत्रता का क्या हो? क्या इस पर कड़े प्रतिबंध लगाने चाहिएं अथवा इसके अतिरिक्त भी हो सकता है?

—-समाज और व्यक्ति के बीच एक खिंचाव और तनाव रहता ही है। राज्य-व्यवस्था के विश्लेषण से समाज के स्वास्थ्य के तापमान का पता लग आता है। स्वतंत्रता आपाधापी का रूप लेगी तो उसी मात्रा में ऊपरी नियंत्रण और रोक-थाम आवश्यक हो आएगी। ये दोनों परस्पर को समतोल और समवस्थित रखते हैं। अपराध और कानून में घात-प्रतिघात का संबंध चलता ही रहता है और अन्दर ही अन्दर उनमें एक प्रकार की साठ-गांठ की स्थिति भी पैदा हो जाती है। समाज का स्वास्थ्य इसमें माना जाएगा कि कानून की कड़ाई की आवश्यकता ही नहीं होती है, उसके लिए इसका अवसर ही नहीं आता है। संक्षेप में राज्य के पास का 'ला एंड आर्डर' का जितना कम काम रह जाता है, उतना ही समाज की आत्म-व्यवस्था को सफल मानना चाहिए।

दूसरा विकल्प : ब्राह्मण वृत्ति

मर्यादा के अतिक्रमण को रोकने के लिए शासन का नियंत्रण आए, क्या इसके सिवा व्यवस्था को मर्यादित रखने का, आप पूछते हैं, दूसरा भी विकल्प है? मैं मानता हूं कि राजकर्त्ता के पास दूसरा विकल्प नहीं है, न वैसा विकल्प सामान्य राजनीतिक के पास से आ सकता है। राजकर्त्ता और राजनीतिक जन यथास्थिति अथवा व्यवस्था के अंग हैं और वहां तक प्रकृति का सीधा नियम काम करता है, निर्बलता और प्रबलता वहां प्राकृतिक न्याय से अपने को निबटाती और संतुलित बनाती हैं। लेकिन इस प्रकृत के अनंतर संस्कृति आती है और संस्कृति के प्रतीक-तत्व राजनीति के तल पर काम करते कम ही देखे जाते हैं। दमन के उपचार से पहले वे तत्व उस मर्यादा-हीनता के कारणों को समझने की चेष्टा करते हैं। वे देखते हैं कि अपराधी अकारण ही अपराध में नहीं जा पहुंचा है। अर्थात् अपराधी में उन्हें नागरिक के उदय की संभावना स्पष्ट दीखती रहती है। इसलिए अपराधी को वे सहानुभूति से लेते और अपराध के कारणों के निवारण में लगते हैं। यह कार्य नियंत्रणात्मक नहीं रहता, रचनात्मक हो जाता है। भूख, बेकारी, गरीबी आदमी को अपराध की ओर ठेलती है और इस अनुभव के बाद से लोग प्रशासन और नियंत्रण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम को अपने हाथ में लेने के बजाय अपराध के मूल में बैठी सामाजिक विकृतियों को ध्यान में लेते और उनको दूर करने की चेष्टा में लगते हैं। ये सांस्कृतिक तत्व, मैं मान लेता हूं कि समाज के स्वास्थ्य की रक्षा में अधिक उपयुक्त और समर्थ निमित्त माने जा सकते हैं। पहले वर्णों में क्षत्रिय से ऊपर ब्राह्मण का स्थान और दायित्व रहता था। उसके पास शासन-दण्ड नहीं होता था, लोक मानस की शिक्षा-दीक्षा का माध्यम ही उसके हाथ में रहता था! राजा के पास नियंत्रण के सब उपकरण थे, लेकिन ऋषि और गुरु के पास केवल अपने आचरण का उदाहरण था। उसका बल जो था नैतिक था। सामाजिक मान्यता और श्रद्धा पर आश्रित होने से उस बल में कोई बाध्यता या आघात का तत्व न था। किन्तु उस कारण उस बल की कार्य-क्षमता कम नहीं होती थी। यह बल व्यक्ति और समाज में भीतर से काम करता था, ऊपर के बलात्कार से नहीं। सामाजिकता के विकास की दृष्टि से मैं क्षत्रिय से इन ब्राह्मण वृत्ति वाले विकल्प को अधिक महत्त्व देता हूं।

लोकसत्तात्मक नीति

पर ब्राह्मण वृत्ति का यह विकल्प प्राचीन काल के लिए तो ठीक था। लोग साधु प्रकृति के थे, धर्म का आचरण करते थे और ईश्वर तथा पाप से डरते थे। लेकिन आधुनिक समाज वहां से काफी दूर निकल आया है। इसमें यह विकल्प कैसे व्यवहार्य हो सकेगा?

—यही कठिनाई है। राज्य व्यापक हो गया है और उसके बोझ और बल की सीमा भी बढ़ती जा रही है। जन-कल्याण उसका एक विभागीय दायित्व हो गया है। इस प्रकार स्वयं राज्य का स्वरूप बदल रहा है। अब वह राज-तंत्र नहीं लोक-तंत्र है। लोक में से प्रतिनिधि जाते हैं और आवश्यक नियम कानून बनाते हैं। यहां तक का तो राजनीतिक काम ब्राह्मणोचित समझा जा सकता है। पर ये विधान-एवं-धारा सभाएं अगर प्रशासन-यंत्र के प्रभाव अथवा अधीनता में आ जाती हैं तो अर्थ होता है कि नीति को शक्ति के अधीन बना दिया गया है। यद्यपि व्यवहार में आज ऐसा है, शक्ति ऊपर है, तथापि सिद्धांत को वह स्वीकार्य नहीं है। लोकतंत्र में सर्वोपरि अधिकार संसद का होता है। लोकतंत्र की यह दुर्बलता है कि 'एक्जेक्युटिव सरकार' का पक्ष 'लेजिस्लेटिव' पर भारी हो आता है। दलीय पद्धति ने आज इस अवस्था को एक विलक्षण औचित्य और समर्थन दे दिया है। अर्थात् संख्या-बल में ही नीति-बल को गर्भित और प्रमाणित मान लिया गया है। इस प्रकार डिमोक्रेसी, सिद्धांत की ओर से यद्यपि ब्राह्मणोचित तत्वों को प्रतिष्ठा देती लगती है, पर यथार्थ में क्षात्र-तत्व ही वहां ऊपर पदस्थ रहते और वैश्य कौशल को अपने अधीन बनाए रखते हैं। तथापि हम कुल मिला कर जिस ओर जा रहे हैं वह आदर्श तो लोकतंत्र ही है और सिद्धांततः वहां लोकनीति की प्रतिष्ठा है। इसलिए माना जा सकता है कि कुछ काल बाद व्यवस्था का लेजिस्लेटिव पक्ष एक्जेक्युटिव को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी नीति के नियंत्रण में ले पायगा और राज-शक्ति को अपने ऊपर प्रबल नहीं पड़ने देगा। चातुर्वर्ण्य शब्द भारतीय और प्राचीन हो सकता है, पर उससे जो सूचित है वह भाव और भेद प्रकृत और सार्वत्रिक है। विकास की यह अनिवार्यता है कि शक्ति का स्थान चलते-चलते नीति से निरपेक्ष नहीं रहेगा और शनैः-शनैः वह नीति के अधीन भी होता जाएगा। इसलिए नीति-तत्व के द्योतक ब्राह्मण शब्द का उल्लेख यदि आया है तो गए बीते काल के अपेक्षा से नहीं, बल्कि आगे की संभावनाओं के विचार से। इतना अवश्य है कि नीति वह सैद्धांतिक, तात्विक और लोक-निरपेक्ष न होगी बल्कि लोकगत और लोकसत्तात्मक होगी। अर्थात् केवल आध्यात्मिक नहीं, उसके नीचे लोक-सेवा और लोक-समर्थन के सैंक्शंस होंगे। आज हमारा विधायक शासक की अपेक्षा में निर्बल और परमुखापेक्षी प्रतीत हो सकता है। हमारी व्यवस्था ने अस्तित्व के सवाल को ही इतना विकट बना दिया है कि सत्ता के हाथ अस्तित्व के साधन केन्द्रित होने से विधायक अपनी राजनीतिक स्थिति से भौतिक लाभ उठाने की सोच आता है। ऐसे शक्ति विधायक के पास हो नहीं पाती और सत्ता को लेकर विधायकों में रोज यहां दलबदल की घटनाएं देखने में आती हैं। एक लोकतंत्र के विचार का संस्कार होगा और मेरी दृष्टि से अनिवार्य होता जाएगा कि केन्द्र का अधिष्ठान राजसत्ता से लोकनीति अथवा लोकसत्ता की ओर स्थानांतरित हो। इसमें अनायास कर्म के व्यक्ति से विचार का व्यक्ति ऊपर आता दीखेगा। विचार में भी धीरे-धीरे जोड़-तोड़ वाला मैनीपुलेटिव विचार नीचे रह जाएगा और आदर्शात्मक एवं रचनात्मक निस्पृह विचार ऊपर आएगा। आज वह स्थिति नहीं है, पर इंगित उसी ओर है।

स्वतंत्रता, प्रतिबंध और व्यवस्था

स्वतंत्रता के इस प्रश्न का समाधान कहीं नहीं दीखता। हर समाज ने मनुष्य की स्वतंत्रता पर अंकुश लगा रखा है। हमारे देश में ही क्या हम पूरी तरह स्वतंत्र हैं? क्या भाषण देने वाले को जेल नहीं भेज दिया जाता? लेखक की पुस्तकें जब्त नहीं कर ली जातीं? क्या अखबारों में छपने वाली खबरों को सेंसर नहीं किया जाता? और तो छोड़िये, यहां तो लेखक को वह लिखना पड़ता है जो अखबार वाला पसन्द करता है। अखबार का सम्पादक भी पूरी तरह लिखने में स्वतंत्र नहीं है। उसके लिखने की कुछ शर्तें हैं जिसके अन्दर ही अन्दर उसे लिखना पड़ता है। सरकारी नौकरों को बोलने और लिखने की कितनी स्वतंत्रता है, यह उन्हीं से पूछिए। जब स्वयं हमारे देश में इतनी स्वतंत्रता नहीं है, जितनी हम चाहते हैं तो फिर समाजवादी देशों को ही क्यों कोसें? क्या कभी ऐसा समाज बन सकता है जिसमें मनुष्य पूरी तरह स्वतंत्र रह सके।

—समाजवादी और अन्य देशों में आप पक्ष और विपक्ष का भाव मन में पैदा कर लेंगे तो किसी विचार के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। मुझे आशा है, आपमें प्रश्न हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिज्ञासा है और समाजवाद वाला पक्षपात नहीं है। स्वतंत्रता हर एक की हर दूसरे पर आकर रुक जाती है। अर्थात् निरपेक्ष स्वतंत्रता जैसी वस्तु कहीं कोई नहीं है। फिर भी सामंजस्यपूर्ण संबंधों में व्यक्ति अपने को जहां खुला अनुभव करता है, विपरीत संबंधों में वहीं जकड़ और बंधन अनुभव कर आता है। अर्थात् मुक्त परस्परता में से बने सहज और सहृदय संबंध सामाजिक स्वास्थ्य और विकास में हितकर होते हैं। जहां दो जनों को आपस में किसी कानून के विचार को भी बीच में लेना पड़ता हो तो वहां उतनी ही मात्रा में दूरी और अलहदगी अनुभव होगी। इसलिए यदि राजनियंत्रण मानव-संबंधों के बीच बहुत ज्यादे दखल देने को उपस्थित न हो तो आशा की जा सकती है कि वे संबंध अधिक हार्दिक हो सकेंगे। प्रश्न हो सकता है कि वैसा कानून कोई नहीं है तो फिर क्या जंगली जीवों के संबंध हिंस्र नहीं हार्दिक हैं? यानी कि नियंत्रण के बिना डर हो सकता है कि खुला छोड़ने पर जंगल के समान मानव-समाज में भी प्रबल की ही न बन आए, तब निर्बल मार खाए और प्रबल का शिकार होने के लिए ही रह जाए। बस, वहां हिंसा का ही साम्राज्य हो और यह मानकर कि मनुष्य मूलतः हिंस्र पशु है, एक सुनियंत्रित आदर्श समाज की धारणा बना भी ली जा सकती है। लेकिन नियंत्रण होने पर ही मनुष्य मनुष्य रहता हो, अन्यथा पशु हो आता हो, तो इसकी क्या गारंटी है कि नियंत्रक के स्थान पर बैठकर वह मनुष्य मदांध पशु सचमुच ही न हो आएगा?

अर्थात् मानव समाज में किसी एक वर्ग का यह मान लेना कि हम खुद नियंत्रक बनेंगे, शेष जन को नियंत्रित रखेंगे, खतरे से खाली नहीं है। इसमें मानव का परस्पर अविश्वास है और इस आधार पर रचा समाज मुक्त-मानस का विकास नहीं कर सकेगा। नियंत्रित और नियंत्रक वर्ग में भेद-भाव रहेगा तो विषमता फैलेगी और वहां सौमनस्य फलित ही नहीं हो पाएगा। वह उपाय यद्यपि सभ्यता ने अपनाया है और आधी से कम दुनिया नहीं है जो उस ओर बढ़ी है तो भी मेरा उस उपाय में विश्वास नहीं जम पाता है। मनुष्य पशु से यदि और जब भिन्न हुआ तभी तय हो गया कि प्रकृति के अधीन वह नहीं रहेगा, संस्कृति का निर्माण करेगा। इस संस्कारी तत्व को, जो उसके मानस-यंत्र में अधिष्ठित है, पूरा अवकाश मिलना चाहिए। उस तत्व पर विश्वास करना आना चाहिए। मनुष्य की मनुष्यता पर अविश्वास करना, और अपना बहुत अधिक विश्वास कर लेना, कि हम मनुष्य के समाज को नियंत्रण द्वारा अपनी मुट्ठी में सुरक्षित और स्वस्थ बनाकर रखेंगे। इस प्रकार का आदर्शवादी मूलतः प्रेमी और विश्वासी मनुष्य का नहीं होता सिद्धांत का हुआ करता है। नियंत्रक के स्थान पर पहुंच कर यही आदर्शवादी बड़ा प्रशासक हो आता है और अपने लिए सामान्यजन में प्रेम से अधिक आतंक का भाव उत्पन्न करने लगता है। मुझे उस प्रकार की किसी केन्द्रित राज्य-व्यवस्था से विशेष आशाएं नहीं हैं। प्रचलित जनतंत्रों की भी संभावनाएं विशेष स्पष्ट दिखाई नहीं देतीं, क्योंकि वहां भी सत्ता का मूल्य सर्वोपरि है। कोई वह व्यवस्था कम ही काम देगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके मूल में मानव विश्वास होगा और इसलिए राज सत्ता के बजाए जिसका भार-केन्द्र लोक-समाज में व्याप्त और जीवंत, एक नीति-सत्ता में होगा।

स्वतंत्रता की प्रेरणा

हममें वह क्या है जो स्वतंत्र बने रहने के लिए कुरेद पैदा करता है और परतंत्रता का आभास होते ही विचलित कर देता है? क्या वह हमारा अहं है? और जब हम चाहते हुए भी स्वतंत्र नहीं रह पाते तो इससे हमारे मन पर जो जोर और दबाव पड़ता है उसमें से क्या कोई रास्ता निकलता है या कि वह दबाव हमारे मन में कुण्ठा भर कर रह जाता है।

—अहं भी स्वतंत्रता चाहता और परतंत्रता का अनुभव करता है। इच्छा यहीं से उगती है और कुण्ठा भी इसी को भोगनी पड़ती हैं। अहं की स्वतंत्रता इच्छा की स्वतंत्रता है, इसलिए कभी वह पूरी नहीं हो सकती। असफल में वह मूल से ही अनिष्ट है। अहं में पृथकता का बोध है, वहां सदा दूसरे के अहं से रगड़ है जो प्रतिरोध का रूप लेता और विरोध पैदा करता है। अहं से उठकर तृष्णाएं फैलती और दूसरों की लालसाओं से टकराती हैं। यहां से प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती और खिंचाव-तनाव का वातावरण बनता है और हिंसा यहीं से फूटा करती है।

अहं से वासना और आत्म से भावना का उदय

लेकिन हममें अहं के साथ आत्म-तत्व भी है। वहां परतंत्रता हो नहीं सकती। कारण आत्म में अहं के समान पृथकता नहीं है, उस तल पर परस्परता और एकता की सृष्टि होती है। यदि अहं से वासना का जन्म, तो आत्म से भावना का उदय होता है। अहं से कामना, आत्मा से प्रेम। काम से हम अपने निमित्त दूसरे का उपयोग या उपभोग लेते हैं। प्रेम में दूसरे के निमित्त अपना अर्पण देते हैं।

अहं का त्याग, आत्म की साधना

इसी आत्म-तत्व की स्वतंत्रता है जो अभीष्ट और अनिवार्य है। उसको अवकाश मिलना ही चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि चाहे दुनिया जाए, आत्मा को संभालो। इंजील ने कहा—दुनिया को पाया तो क्या पाया, अपने को खोकर तो सभी कुछ खो दिया। महापुरुष आत्मा की सुनते हैं और उसकी रक्षा में अपना सर्वस्व विसर्जित हो जाने देते हैं। आत्म की स्वतंत्रता के विकास में किसी को परतंत्रता का अनुभव नहीं आता, बल्कि औरों को भी स्वतंत्रता का अनुभव होता है। यह इच्छा की स्वतंत्रता नहीं, इच्छा से स्वतंत्रता है। इसमें हम वस्तु को अपनी ओर खींचते नहीं हैं बल्कि स्वेच्छा से उसे मुक्त रखने में आनन्द पाते हैं। यहां संयम और अपरिग्रह आप ही फलित होता है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह कुण्ठा वाली प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि धैर्य और सन्तोष है। भाग-दौड़ की जगह सेवा और सहृदयता है।

अहं और आत्मा का भेद सूक्ष्म और दुर्लभ है। पर वह उतना ही अनिवार्य भी है। अहं आत्मा से यदि विमुख होता है, जैसा कि अक्सर हुआ करता है, तो भीतर द्वन्द्व उपजाता और बाहर विग्रह का वातावरण निर्माण करता है। यह अहं बरबस चीजों को मुट्ठी में करके अपनी ओर खींचना चाहता और स्वार्थ और हिंसा का उत्स बनता है। इस अहं को आत्मगत होना और करना है। यह उसका संस्कार आवश्यक है। भाषा चला करती है, अपने को वशीभूत रखने की। इसका आशय अहं को आत्मोन्मुख आत्मगत रखना ही है। नहीं तो मन कभी वश में आता नहीं है। बाहर की ओर उसका रुख हो तो वह सदा चल-विचल रहता है। प्रेम में वही मन अनायास एकाग्र हो आता है। प्रेम की अवस्था में मन पर दण्ड या दबाव जैसा कुछ नहीं डालना पड़ता। कारण, प्रेम स्वयं ही मन की गहरी अभिलाषा है और मन की चंचलता वहां आकर समाप्त हो जाती है। प्रेम कहीं एक उपलक्ष्य पर टिका नहीं रहता, यह दूसरा प्रश्न है। किंतु जब तक प्रेम हो, मन में एकध्यानता रहती है। शायद प्रेम को स्वयं जो आधारान्तर की आवश्यकता होती देखी जाती है सो इस कारण कि इसका उपलक्ष्य ही उपलब्ध हो पाता है, स्वयं लक्ष्य तो सदा पार रहता है। यदि लक्ष्य से, जिसको परम सत्य कहते हैं, सीधी लगन प्राप्त हो जाए तो स्वतंत्रता का बोध मुक्ति या मोक्ष की अनुभूति तक पहुंच सकता है।

अहं की स्वतंत्रता परतंत्रता की शर्त पर

किंतु यह कैसे संभव है कि आत्म-स्वतंत्रता के विकास में किसी को परतंत्रता का अनुभव न होकर स्वतंत्रता का हो? यह तो परस्पर विरोधी बात मालूम पड़ती है। क्योंकि स्वतंत्र होने का अर्थ ही है पर के तंत्र को हटा फेंकना। तो वह जिससे स्वतंत्र होगा और जितनी सीमा तक स्वतंत्र होगा वहां तक दूसरे के मन पर जोर पड़ेगा। यह जोर सूक्ष्म रूप से परतंत्रता का बोधक है।

—इसीलिए अहं और आत्म इन दो शब्दों के भेद की ओर आपका ध्यान दिलाना आवश्यक हुआ है। जो किसी की परतंत्रता पर आश्रित है, वह स्वतंत्रता अहं की है। वैसी स्वतंत्रता निर्बाध नहीं है। वह शुरू से ही असिद्ध है। झमेले सब उसी अहं और उसकी स्वतंत्रता की इच्छा के कारण होते हैं। कारण, वैसी स्वतंत्रता मूल से ही भ्रांत और मिथ्या है। इसलिए उन चेष्टाओं से कष्ट-क्लेष ही फलित होता है। राजनीति में अधिकांश व्यक्तिगत नहीं तो दलीय अहं की स्वतंत्रता की कामना हुआ करती है। राष्ट्र के नाम पर इसी को सेया और पोसा जाता है। आपका संशय इसी स्वतंत्रता के बारे में है और वह सच है। इस तल की स्वतंत्रता परतंत्रता की शर्त पर ही हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम में परतंत्रता का तिरोभाव

किंतु आत्मा के तल पर स्थिति दूसरी बन जाती है। प्रेम की अवस्था में क्या दो में कोई परतंत्र अनुभव कर रहा होता है। पर वहां दोनों को एक दूसरे की अधीनता मानो प्रिय हो आती है और दूसरे का अधिकार अपनी स्वतंत्रता की अनुभूति को बढ़ाता लगता है। आत्मा के तल पर परस्पर पृथकता जो नहीं रहती उससे वहां की मुक्तता सबको मुक्त करती है। इस मुक्तता में स्वार्थता तनिक नहीं होती, इसलिए हिंसा का तत्व भी रंचमात्र नहीं रह जाता। आत्म की मुक्तता प्रेम की मुक्तता है। यह प्रेम की डोर यदि बांधती है तो उसी के द्वारा वह अहंबंध को खोलती भी है। यह बिल्कुल आवश्यक है कि स्वतंत्रता को हम स्वार्थ के तल पर न लें परमार्थ की भूमिका पर ही उसे ग्रहण करें। परमार्थ में स्वार्थों का टकराव नहीं रहता है, उनमें बनाव हो आता है। इसलिए एक की स्वतंत्रता वहां किसी दूसरे पर हावी नहीं होती। राजनीति के तल पर यह संभव नहीं है। वहां किसी की मालिकी या अफसरी या नेतागिरी इसी शर्त पर चल सकती है कि कोई दूसरा नौकर, रियाया और जनता बनने को उपस्थित हो। यह भेद-पार्थक्य, आत्म-तल पर नहीं रह जाता है और स्वतंत्रता अभीष्ट हो सकती है तो उसी अर्थ और तल की स्वतंत्रता है।

पारिवारिक प्रेम में अहं सक्रिय

लेकिन यह कैसे पता लगेगा कि यह आत्म की स्वतंत्रता है या अहं की ? यह तो ठीक है कि आत्म की स्वतंत्रता प्रेम में दूसरे की स्वतंत्रता में बाधा नहीं उपस्थित करती लेकिन इसका दायरा बहुत छोटा होता है। पति-पत्नी अथवा परिवार तक तो यह चीज चल सकती है, लेकिन समाज में चलना कठिन है। पति-पत्नी को ही ले लीजिए। दोनों में खूब प्रेम है। लेकिन जब पति यह देखता है कि उसकी पत्नी दूसरे से प्रेम करने लग गयी है तो न केवल उसका प्रेम टूटता है बल्कि उसकी स्वतंत्रता भी छीन लेना चाहता है।

—हां, पता लगाना कठिन है, बहुत कठिन है। ऊपर के लक्षणों से कुछ नहीं होता। फिर भी मानव संबंधों में सीधे दोनों हृदयों में इसकी पहचान हो आती है। सच यह कि अहं और आत्म दोनों सर्वथा एक हो आएं तो स्वार्थ सिद्धि ही प्राप्त हुई माननी चाहिए। अधिकांश दोनों अपने-अपने तलों पर सक्रिय रहते हैं। आपने जो पति-पत्नी का उदाहरण दिया सो वहां प्रेम में क्या काम अथवा अहं उपस्थित नहीं है ? हर सीमित प्रेम में अहं सक्रिय होता ही है। अर्थात् जिस सीमित दायरे में आप प्रेम को लेते और अपेक्षाकृत वहां समाधान देखते हैं, उस जगह समस्या भी विद्यमान है। समस्या इसलिए है कि आत्म में अहं वहां खो नहीं गया है, खोने को तैयार नहीं है। प्रेम जो बेशर्त होगा, ईर्ष्या का शिकार क्यों होगा। उसमें अधिकार भावना होगी, भोगासक्ति न होगी। इसलिए वहां प्रतिक्रियात्मक उत्ताप होने की आशंका भी उतनी नहीं है। यह प्रेम परिवार के वृत्त से घिरा नहीं रहता और सच्चे अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसे सामाजिक और सार्वजनीन कहा जा सकता है। अहं से पूरा छुटकारा तो देह रहते हैं नहीं। इसलिए व्यक्ति के व्यवहार में आत्माभिव्यक्ति कितनी है और अहमासक्ति कितनी है, इस मात्रा का निदान सहज संभव नहीं होता। मूलातिमूल में तो आत्म ही है, इसलिए सहज सुरक्षा इसमें है कि हम किसी के निर्णायक न बनें और यथाशक्य सबको अपनी सहानुभूति दें। जो ईर्ष्यालु है, द्वेषी है, हिंसा पर आ उतरा है, वह भी भीतर मिले किसी क्षत या कष्ट के कारण ही वैसा हो पड़ा है। कहीं घाव है और उस प्रकार के अपकृत्य मानो उसकी आह की, आरती की पुकार हैं। दूसरे को कष्ट आदमी अपने कष्ट में से ही दे सकता है। ऐसा मानकर हम दूसरे के जज होने से बच सकते हैं और सबको अपनी समझ और सहिष्णुता में लेने का प्रयास कर सकते हैं।

मन की निर्णायकता एक भ्रम

किसी के निर्णायक बने बिना सहानुभूति संभव ही नहीं है। क्योंकि उचित-अनुचित के निर्णय के बाद ही हमारे मन में किसी के प्रति सहानुभूति या ईर्ष्या जागती है। यहीं से हिंसा और अहिंसा के भाव उपजते हैं। अगर हम चाहें भी कि निर्णायक न बनें तब भी हमारा मन नहीं मान सकता।

—ठीक बात है। निर्णायक बने बिना मन नहीं मानता। यहीं मन को रोकना और संस्कार देना है। क्या मालूम कि हम अपने बचाव में ही दूसरे को दोष दे रहे हों? अधिकांश ऐसा ही होता है। अपने स्वार्थानुकूल होकर ही व्यक्ति सही जान पड़ता है और प्रतिकूल दुष्ट दीखने लगता है। बुद्धि हर एक के साथ यह खेल खेलती है। अपने हाथ में निर्णय रखने के आधार पर दी गयी सहानुभूति नहीं स्वार्थता होती है। सहानुभूति वह है जो बेशर्त है। निर्णायकता उसमें छूट नहीं सकती, क्योंकि हम अपने बचाव पर रहते हैं और सदा अपने लिए सुरक्षा खोजते हैं। जो भी उस आत्मरक्षा के नाते हमें असुविधाजनक लगता है उसी के प्रति हम में प्रतिकूल निर्णय जाग आता है। मन की इस स्थिति में से आया निर्णय वस्तुगत दृष्टि से मूल्यवान भी कितना हो सकता है। उस निर्णय को विवेकाश्रित नहीं कह सकते। वह तो अहं-आश्रित होता है। निर्णय के विवेकपूर्ण होने के लिए उस प्रकृत और बेशर्त सहानुभूति की भूमिका को, निर्णय को आधार में, मैं आवश्यक मानता हूं। जज के सामने अभियुक्त के रूप में जज का अपना कोई सगा ही हो तो जो बात उसके निर्णय में आएगी, उसको मैं हर निर्णय के लिए आवश्यक मानता हूं। निर्णय की समीचीनता सहानुभूतिपरकता पर ही प्राप्त हो सकती है। सहानुभूति से वंचित किसी को बनाने का हक हमें नहीं आता। अपने अहं के बिंदु से दुनिया को इधर और उधर, काला और सफेद, साधु और दुष्ट में बांट रहने का मैं समर्थन नहीं कर सकता। स्वार्थ के आधार पर हम नित्य ऐसा ही किया करते हैं। उससे मानव संबंधों में आया जाल कटता नहीं है, उल्टे उलझ और कस ही जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा-आकांक्षा में से आत्म-संस्कार

यह ठीक है कि सभी इच्छाओं की पूर्ति संभव नहीं। तो जिन इच्छाओं को हम अतृप्त रहने देते हैं, उनसे क्या मन में ग्रन्थि नहीं बनती? अगर बनती है तो उसका इलाज क्या हो सकता है?

—अतृप्ति की स्वेच्छित स्वीकृति में ही वह इलाज है। अतृप्ति में से कुण्ठा का भाव लेते हैं तो रोग बनता है। उसके दु:ख को ही ले लेते हैं अर्थात् उसका द्रोह या प्रतिरोध नहीं करते तो यह दु:ख हमारी अहंता-जड़ता को भंग करता और चैतन्य को जगाता है। जो हम चाहते हैं वह नहीं होता या हमें नहीं मिलता है तो अकृतार्थता का बोध होता है। इसीको यदि हम विचार में परिणत कर लेते हैं तो अनुभव हो सकता है कि अगर हमारी मनमानी नहीं चलती है तो यह गलत बात नहीं है। जिसको जीवन की शिक्षा-दीक्षा कहते हैं, वह इन्हीं विपद-आपद के अनुभवों में से प्राप्त होती है। यहीं से सीखा जाता है कि अन्त में एक साम्य और सामंजस्य भी यहीं से है। परस्परता और सामाजिकता का उदय भी यहीं से है। आवश्यक नहीं है कि अतृप्ति कुण्ठा और ग्रन्थि का ही रूप ले, वहां से चिन्तन-मनन की भी सृष्टि हो सकती है। अन्त में निर्णय निर्भर करता है इस पर कि हम इच्छा की अपूर्ति को ग्रहण किस भाव में करते हैं। यहीं से फिर स्वयं इच्छा को नव-संस्करण मिलता है, इच्छा धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म बनती और पदार्थ प्राप्ति से गुण-साधना की ओर उठने लगती है। ऐसा मालूम होने लगता है कि फल चाहने से पहले पात्रता और योग्यता चाही जानी चाहिए। तब इच्छा में दंश उतना नहीं रहता और वह निस्पृह अभिलाषा में परिणत होने लगती है। अभिलाषा सूक्ष्म और संस्कृत होते-होते अभीप्सा बन जाती है। अभीप्सा में व्यक्ति बाहर नहीं जूझता, अपने ही में जूझता और आत्म-संस्कार प्राप्त करता जाता है।

स्वेच्छित दमन और आनन्द में अभेद

या तो इच्छाओं का हम दमन करें या उन्हें तृप्त करें। क्या ये दो ही विकल्प हमारे सामने हैं, या कोई तीसरा विकल्प भी हो सकता है?

—इच्छा हमारे भीतर से आती और हमसे बाहर की दिशा में जाती है। बाहर का कुछ अपनी ओर ले आए इसी में इच्छा की पूर्ति और तृप्ति मानी जाती है। वह क्या है जो इस तृप्ति में सचमुच भीतर पहुंचता है? विश्लेषण से देखेंगे कि स्नायुओं में पैदा हुए उत्तान का वह अनुकूल शमन मात्र है। अर्थात् स्वेच्छित दमन और तृप्ति में कुछ बहुत गहरा भेद नहीं है। तृप्ति में शायद दमन की जगह शमन है।

साधारणतया दमन में भीतर एक विकलता रह जाती है, शमन में वैसी आकुलता अवशिष्ट नहीं रहती। यदि स्नायुओं में भीतर वैसी विकलता या विद्रोह न रह जाए तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दमन भी फिर हितकर ही होता है। संयम जिसको कहते हैं, वह इसी प्रकार के स्वेच्छित और स्वीकृत दमन का नाम है।

इच्छा-दमन की अनिवार्यता

धन-सम्पत्ति की जहां प्रचुरता है वहां छुपटन से इच्छाओं के निरोध के संस्कार अक्सर प्राप्त नहीं होते। परिणाम उसका विशेष शुभ या सुन्दर देखने में नहीं आता है। अर्थात् इच्छा की पूर्ति सदा स्वास्थ्यकर हो, ऐसी बात नहीं है। न अपूर्ति ही सदा घातक होती है। मुझे प्रतीत होता है कि इच्छा परिमाण से गुण की ओर उन्मुख होती है तो उसमें संस्कारशीलता आती जाती है।

ऋषियों ने इसीलिए इच्छाओं के दमन की सलाह दी है। यह सलाह आज के मनोविज्ञानियों को अनुकूल न प्रतीत होती होगी, पर उसमें एक अनिवार्यता है। बाहर से किसी ठोस परिमाणात्मक वस्तु को पकड़कर उसी रूप में तो हम भीतर ले नहीं जा सकते हैं, उसका सार और रस ही भीतर तक पहुंचता है। और भी आगे चलें तो अनुभूति को एक प्रसन्नता और विशदता देकर बाह्योपलब्धि का रस समाप्त ही हो जाता है। सारांश कि बाह्य उपलक्ष है, अभ्यंतर है। बाहर के साथ इसलिए यदि हम तृष्णा का संबंध नहीं बनाते हैं, यथावश्यकता तक ही उस संबंध को रखते हैं, तो यह अन्तर्बाह्य संबंध विषम नहीं होता, समीचीन बना रहता है। इच्छा तब अभिमुखता में बदल जाती है और उसकी घाव देने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

इच्छाओं की समाप्ति नहीं, उदात्तीकरण

सच यह कि इच्छाओं की बहुलता और अनेकता के मूल में एक लौ है जो सदा जगी रहती है। वह बुझाने के लिए है ही नहीं। सब इच्छाएं मानो अतत: इसी लौ में लीन और भस्म होने के लिए हैं। मुझे लगता है कि मनुष्य की वह मूल कामना अन्त में अपने को दे डालने की या उत्सर्ग-अपर्ण की है। इच्छाएं लेने का आग्रह रखती मालूम होती हैं, लेकिन गहरे में वह सब लेना अपने को देने की सार्थकता प्राप्त करने के निमित्त से ही है। इसका अर्थ हुआ कि गहरी इच्छा यदि जाग जाए तो ऊपरी इच्छाएं अपने आप उसमें शान्ति पा जाती हैं। तब उन इच्छाओं का दमन नहीं होता, शमन भी नहीं होता, एक उदात्तीकरण हो आता है। किसी एक समवेत अभीप्सा में विलीन होकर मानो वे अपने को पा जाती, इसलिए शून्य हो जाती हैं। यानी ऋषियों का कहा गया संयम-दमन और निग्रह-निरोध आदि का उपदेश उस गहरी इच्छा को जगा और जला आने के निमित्त से है और इसलिए अशुभ नहीं है। कहिए कि यहां इच्छाओं का एकीकरण-संयुक्तीकरण हैं, समाप्तीकरण नहीं। अन्यथा वहां अशुभ भी फलित हो सकता है और उस हठयोग की पद्धति के प्रति यदि मनोवैज्ञानिकों में संशय है तो मैं उनके मत के साथ हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देह के रहते वासना से मुक्ति नहीं

प्रेम एक ऐसा भाव है जो मनुष्य को अपनी ओर खींचता और शांति प्रदान करता है। पर क्या उस प्रेम में हमारी अतृप्त इच्छाओं की वासना नहीं होती? अगर होती है तो उस प्रेम का स्वरूप भी वासनात्मक होगा। इसीलिए यह कहा जाता है कि विशुद्ध प्रेम संभव नहीं। इस विषय में आपका क्या मत है?

—वासना शब्द अरुचि बोधक बन गया है। इसलिए उससे डर भी होता है। पर वासना प्रेम का ही तो अधूरा और ओछा रूप है। अधूरा होने से ही शायद वहां छूत नहीं मानेंगे, उसका तिरस्कार भी नहीं करेंगे। ओछापन भी आता है, लेकिन पर्याय वह प्रेम का ही है; यह देखेंगे तो उससे डरेंगे नहीं, जब तक देह है, इन्द्रियां हैं वासना से तब तक पूरी तरह छुटकारा है ही नहीं। पर वह तो नसैनी है जिससे ऊपर की ओर चढ़ना हो पाता है। इच्छा-वासना उसमें नहीं है, इसी से न पत्थर पत्थर है, आदमी भी इच्छा वासना से सर्वथा विहीन होकर क्या पत्थर ही न हो जाएगा? नहीं, उस राह जाने की सलाह मैं नहीं दूंगा। वासना से डर कर प्रेम का तिरस्कार या बहिष्कार जीवन-घातक ही होगा। प्रेम ही वह दिव्य आकर्षण है जो मर्त्य को दिव्य और क्षुद्र को विराट् बनाता है। उस प्रेम की परिपूर्णता को सहना आसान नहीं है। परिपूर्णता में तो दिशा तक नहीं रहती। अनुभूति में आने के लिए मानव-प्रेम में दिशा की सृष्टि हो आती है। मानव प्रेम सदा ही अधूरा है इसलिए वह कम अभ्यर्थनीय नहीं हो जाता। भक्ति के लिए भगवान का वियोग और आधार अभीष्ट है और भक्ति की यही सार्थकता है। पूर्णता में भक्ति के लिए अवकाश न बचेगा, इसलिए भक्त पूर्णता की कामना ही नहीं करता। इसी तरह सर्वथा वासनामुक्त प्रेम तो अशरीरी है। शरीर रहने से यदि उसमें वासना का स्पर्श अथवा दिशा का संकेत भी यदि समा जाता है तो उसमें अनुचित क्या है?

वासना के कारण से मानव-प्रेम अताह्य नहीं

वासना में सीमा है। शरीर रहते सीमा से उत्तीर्णता है नहीं। भोग संबंध तो और भी सीमित है। उसमें एक की एक से ही संबद्धता संभव है। पर प्रेम इस सीमा को कैसे सह सकता है? इसलिए प्रेम में भोग आप ही परावृत और निवृत्त हो जाता हैं। किन्तु फिर भी गणना के अथवा अनैक्य के क्षेत्र से तो बाहर मानव व्यक्ति होता नहीं है। कुछ उसके लिए अपना होता है, कुछ पराया भी रह ही जाता है। मानव-प्रेम की इस मर्यादा से मुक्ति नहीं है। इसलिए जाने-अनजाने वहां वासना की मात्रा भी है ही। द्वैतात्मक इस जगत में वासना से पार नहीं है। किन्तु प्रेम स्वयं अपनी ही सघनता द्वारा वासना से उत्तीर्णता दिलाता चला जाता है। वासना की संकीर्णता और विषमता के भय से प्रेम की श्रद्धा को तजने की कभी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। मर्त्य के पास दिव्य की ओर से मात्र वही एक संबल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासना का उपचार प्रेम में

यह ठीक है कि द्वैतात्मक जगत में वासना से पार नहीं। पर वासना मनुष्य को अपने में बांध कर उससे ओछे काम करवा देती है। तब उससे डर लगता है क्योंकि इससे वासना की उत्तेजना तो कुछ देर के लिए शांत हो जाती है पर समाज में वह अनैतिकता और स्वेच्छाचारिता को जन्म देती है। क्या हक है किसी को कि अपनी वासना शांत करने के लिए किसी दूसरे को परेशानी में डाले?

—यानी वासना से डरना चाहिए, क्योंकि वासना से अनिष्ट की ही संभावना है। मानता हूं कि वह संभावना है, पर उपाय क्या हो सकता है? आप शायद वासना का ऊपर से निग्रह-निरोध करते रहने की सलाह देते होंगे। कहते होंगे, व्यवस्था इतनी चौकस होनी चाहिए कि वासना की प्रगटता या पूर्ति के लिए अवकाश ही कहीं न रह जाए। ठीक है, किन्तु उपाय ऐसे सदा से किए जाते रहे हैं। परिणाम क्या निकला है? क्या वासना कटी है? कम हुई है? नहीं, उल्टे वह उत्कट और उन्मद ही होती गई है। मेरे मन में तो स्पष्ट प्रत्यय है कि उधर उपाय नहीं है, व्यवस्था की रक्षा मात्र है। निःशंकता नहीं है, अपराध और दण्ड की आंख-मिचौली का ही खेल मात्र है।

और फिर-फिर कहने की आवश्यकता है कि प्रश्न को मात्र व्यवस्था का ही मान कर न रह या रुक जाइए, निदान में गहरे उतरिए। तब व्यवस्था का दायित्व संभाले हुए प्रशासक की भांति आप दण्ड का ही भरोसा बांधकर न ठहर जाएंगे, गहरे और स्थायी उपचार की बात सोचने की भी आवश्यकता अनुभव करेंगे।

मेरा मानना और कहना है कि उपाय है और प्रेम में है। वासना के रूप में प्रगटा है तो इसलिए कि वह प्रेम कहीं रुंध और रुक गया है। उसको खुलने दीजिए ,उसे सघनता पाते जाने का अवसर दीजिए। प्रेम के विकार में से व्याधि है तो उसके संस्कार में से उपचार भी है। व्याधि प्रेम के अविश्वास में से पैदा हुई है, विश्वास में से उपचार आयेगा। वासना से डर कर विकल और विह्वल होने से क्या मिलेगा? आपके प्रश्न में तो निरा संशय और विकलता है, पर आवश्यकता यत्न और उपचार की है। उस यत्न की दिशा को ही ढूंढना है। क्या वह काम-शंका से चलेगा? या कि उसमें विश्वास की आवश्यकता होगी? प्रेम मनुष्य और मनुष्यता के विश्वास से आरंभ होता है।

वासना स्व-केन्द्रित अतः भोग प्रधान

अभी वासना पर चर्चा चल रही थी। इस पर और चर्चा करने की आवश्यकता है, क्योंकि अभी यह नहीं मालूम हो सका कि वासना का कोई केन्द्र है भी, या है ही नहीं? यदि वासना का कोई केन्द्र है तो उससे स्पष्ट है कि उस केन्द्र पर नियंत्रण भी संभव है। अगर नहीं है तो क्या वह बिना केन्द्र की है?

—स्व है तो वह केन्द्र। उसकी ही ओर उन्मुख होने से प्रेरणा वासनात्मक हो जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्रेरणा की उन्मुखता 'स्व' से 'सर्व' की ओर हो तो उसे फिर वासना नहीं भावना कहेंगे।

प्रेम की अर्पण में तुष्टि अतः वह योग प्रधान

अब 'स्व' और 'सर्व' के बीच निरन्तर संचरण और संवाद चलता है। व्यक्ति स्वभाव से 'स्व' में युक्त और आसक्त है, किन्तु 'स्व' में बन्द और समाप्त होकर चैतन्य नहीं रह सकता। 'सर्व' की दिशा में गति और आकांक्षा उसमें अनिवार्य ही है। प्रेम उसी का सूचक है। प्रेम में व्यक्ति अपने को अन्य की दिशा में खिंचता हुआ पाता है और उसमें एक सार्थकता और धन्यता भी अनुभव करता है। फिर उत्तरोत्तर अपने अस्तित्व के केन्द्र को 'स्व' में अनुभव करने से आगे व्यक्ति विचार पूर्वक अपनी आस्था के ध्रुव को सर्व और सत्य में स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव कर आता है। प्रेमाकर्षण को यदि प्राकृतिक कहें, तो इस आस्था को सांस्कृतिक कह सकते हैं। इसमें मैं प्रधान नहीं रहता, अपने अर्पण और उत्सर्ग में 'मैं' की प्रवृत्ति हो आती है। अर्पण की जगह आहरण की वृत्ति वासना की सूचक है। प्रेम अपनी तीव्रता और परिपक्वता में अर्पण देकर तुष्ट होता है। वासना से सम्पृक्त होने पर उसमें ग्रहण और आहरण की भी चेष्टा समाहित हो रहती है। भोग और योग संज्ञाओं से यही अन्तर व्यक्त किया जाता है। वासना भोग प्रधान है, प्रेम में योग है।

स्व के विगलन में वासना का संस्कार

पर वासना का केन्द्र 'स्व' को कैसे मान रहे हैं? क्योंकि वासना 'स्व' से इतर चीज है, इसलिये उसका केन्द्र भी इतर होगा? स्वः में तो वासना जागती है और वह उसे संतुष्ट करना चाहता है। इससे भी जाहिर है कि वह 'स्व' से अलग है।

—इसी से कहता हूं कि वासना सर्वथा परिहार्य नहीं है। वासना में इतर की स्वीकृति है। वासना व्यक्ति को स्व के घेरे से बाहर लाती है और अन्य अथवा बाह्य तत्त्व की ओर अभिमुख है। स्वकेन्द्रित तपस्वी की तपश्चर्या लगभग सदा ही अप्सराओं आदि की सहायता से अंत में भंग हुई बताई गई है। तपस्वी में वासना का अंकुर उपजा है और अप्सरादि के प्रति आकर्षण से उनका स्वकेन्द्रित आग्रह पराजित हुआ है। कोई 'स्व' चेतन रहकर सम्बद्धता से विहीन नहीं हो सकता हैं। 'स्व' 'सर्व' से जुड़ा हुआ है, 'सर्व' का अंग भूत है। इस संबद्धता का ही परिणाम है कि बाह्याकर्षण के अनुभव से कोई जीव मुक्त नहीं है। 'स्व' में ही जिसका अस्तित्व समाप्त हो उसको तो फिर हम चेतन कह भी नहीं पाते हैं, जड़ कहते हैं। पदार्थ विज्ञान की आज की जानकारियों से मालूम होगा कि ऐसा जड़ तत्त्व ब्रह्माण्ड में कहीं कुछ है ही नहीं, सब कुछ परस्पराकर्षण से थमा है और निपट जड़ की धारणा ही एक तरह भ्रान्त है। लेकिन इस प्रसंगान्तर पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष नहीं रुकना है। 'स्व' और 'सत्' के बीच की संबंधता में खिंचाव का अनुभव 'स्व' में से उठकर यदि फिर स्व 'की' ओर ही है तो उसे वासना कहा जाएगा। अन्यथा यह सहजाकर्षण स्वार्पण का भाव जगाता है। संक्षेप में यों कहिए कि अपनी इच्छा के लिये हम दूसरे का उपयोग लेते हैं, उसको अपना आखेट और विषय बताते हैं, तो वासना है और उसमें हिंसा है। यदि कष्ट हम स्वयं अपनी ओर ले लेते हैं और दूसरे का मान रखते हैं, दूसरे को सेव्य और साध्य तक बनने देते हैं, स्वयं साधन अथवा निमित्त बनते हैं, तो यह प्रेम है और इसमें अहिंसा है।

स्वकेन्द्रित अपने तर्क के अन्त में विक्षिप्त

स्पष्ट ही है कि हर भाव संचरण के लिए दो बिन्दु अथवा ध्रुव चाहिए। तभी परस्परता संभव होती है और उनके मध्य किसी आकर्षण अथवा प्रेरणा आदि की सृष्टि हो सकती है। वासना भी इस द्वैत के संवाद बिना संभव नहीं है। इतर अस्तित्व को स्वानुरक्ति में जब हम मानो उपयोग्य और उपभोग्य मानते हैं, उसके स्वतंत्र अस्तित्व का अवमान और अपमान करते हैं, तो नैसर्गिक भाव संचरण अथवा संवादिता में विकार आता है। उसमें आग्रह पैदा होता और सहजता की जगह तनाव सृष्ट होता है। वासना को जो अभीष्ट नहीं माना जाता सो इसी कारण। किन्तु आप देखेंगे कि स्वग्रस्तता से वासना हमको उबारती है। स्वकेन्द्रित जन अन्त में विक्षिप्त बनता है। वह 'सर्व' के संदर्भ से टूटकर अपने ही कल्पना-वितान में अपनी शरण खोजता है। यदि उसमें अन्य के लिये स्वीकृति और अवकाश पैदा किया जा सके, तो विक्षिप्तता से उसे किंचित् उद्धार मिल जाता है। अर्थात जिसको वासना कहें वह नितांत रोग ही नहीं है, किसी अवस्था में उसे स्वयं इलाज और उपचार भी समझा जा सकता है।

इच्छाओं की दौड़-भाग में जीवन-क्षमता का क्षय

अभी हम इच्छाओं के दमन की बात कर रहे थे, पर इच्छाओं के अन्दर तो महान् शक्ति विद्यमान है, जिसे हम इच्छा-शक्ति (विल पावर) कहते हैं। जिसमें इच्छा-शक्ति जितनी अधिक होती है, वह जीवन क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ जाता है। क्या यह इच्छा-शक्ति इच्छाओं की तृप्ति में से निकलती है या कि उसके दमन में से?

—इच्छा में निश्चय ही शक्ति का स्फुरण है। या तो वह शक्ति बनाएगी, नहीं तो बिगाड़ करेगी। बिना किए या पाए, अगर वह अपने में जलकर बुझ जाती है तो चेतना में अवश्य कुछ क्षति छोड़ जाती है। चैतन्य उत्तरोत्तर समर्थ और मुक्त तब होता है जब प्रवाह खुला रहता है, इच्छाओं के प्रवाह को मलिन अथवा अवरुद्ध नहीं करता। मरी इच्छाएं चैतन्य को कुतरती और खाती रहती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंतु इच्छाएं पूर्णत: किसी की हुई नहीं हैं, हो नहीं सकती हैं। फिर व्यक्तियों की क्षमताओं में तारतम्य क्यों दीखता है ? मैं मानता हूं कि यह तारतम्य इच्छाओं के गुणात्मक परिणाम और उदात्तीकरण के अनुपात में हुआ करती है। मानव-इतिहास के सर्वोच्च कोटि के महापुरुष यद्यपि इच्छा-शून्य तो नहीं थे, पर मानो उनकी इच्छाएं बाहर पदार्थ जगत से बंधी न थीं। अर्थात् उनका अर्पित व्यक्तित्व रहा। यदि उन्होंने चाहा तो उसमें अपने को नहीं चाहा, बल्कि अपने को जैसे कहीं सर्वथा निछावर और अर्पित मात्र कर देना चाहा। इससे उनके व्यक्तित्व में निभृत सारी शक्तियां मानो एकीकृत होती चली गयीं। भीतर कुछ नहीं रह गयी जिसका संघर्ष उनकी आत्म-शक्ति में क्षति या क्षय ला सके। स्व का यंत्र सर्वगत या सत्यानुगत हो रहा। इच्छाओं की बहुलता में एकीभावता और एकाग्रता आ गई और उनका जीवन जलती लौ की तरह प्रकाशमय होकर ऊपर उठता चला गया। हमारी इच्छाएं चहुं ओर दौड़ती हैं और एक दूसरे को काटती हुई हमको भीतर से खोखला कर जाती हैं। जीवन-क्षमता संचित और ऊर्जसित होने के बजाए उनसे क्षत-विक्षत और क्षीण होती जाती है।

इच्छा की सार्थकता और उपलब्धि

इच्छाओं में से आखिर व्यक्ति को मिलता क्या है? अंतिम उपलब्धि यों तो आत्मतोष से भिन्न और कुछ नहीं है। मान लीजिए आपकी करोड़पति बनने की जीवन भर कामना रही और पचास वर्ष की अवस्था आते-आते करोड़पति बन भी गए, तो उस करोड़ में आंके गए धन का क्या हुआ? वह बैंक में पहुंचा या उसने इस-उस संपदा का रूप लिया। पर क्या वह आपके भीतर गया? भीतर जो पहुंचा वह तो तुष्टि और समाधान का ही एक भाव था। तो मूल्य सब बाह्योपलब्धि का आंतरिक ही तो हुआ। पहले अभाव था, करोड़ पा जाने पर भीतर का अभाव वह भरा सा लगा। कहिए कि अभाव की जगह वहां सद्भाव हो आया। तो अंतिम मूल्य क्या यह भीतर का सद्भाव ही नहीं हो गया? पदार्थ की प्रचुरता को लेकर यह सद्भाव पैदा होता देखा जाता है, पर असल में वह पदार्थ-निर्भर है नहीं। सद्भाव की कमी से इच्छाओं का जन्म होता है और इच्छाओं की पूर्ति उस सद्भाव की त्रुटि को कम करती मानी जाती है। अंतिम अभीष्ट इसलिए भीतर सद्भाव की परिपूर्ण व्यापकता को ही माना जाना चाहिये। आस्था उसी आन्तरिक भरपूरता का नाम है। लगन और लवलीनता उसी के लक्षण हैं। अगर भीतर वह उमंग और आनंद है तो सब है। अगर वह नहीं है तो सब होने पर भी भीतर व्यर्थता और रिक्तता अनुभव होती है। सब नीरस और निरर्थक हो आता है और वीरानी का भाव चारों ओर से हमें घेर लेता है। इसके लक्षण आज के अति संपन्न और संभ्रांत समाज में प्रगट होने भी लगे हैं। वस्तु की अतिशयता ही उन्हें काटने को आती है और अंत में सब कुछ छोड़ देने पर ही कुछ चैन का अनुभव होता है। आदमी जब तक स्वयं है, वह अंश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र है। खण्ड है अखिल नहीं है। जब तक वह खुद में कुल नहीं हो जाता तब तक इच्छा और यत्न उसमें शांत कैसे हो सकते हैं? शक्ति की सृष्टि और स्फुरण इस अपूर्णता के बोध और पूर्ण के आकर्षण में से है। पूर्णता की अभीप्सा परिमाणात्मक हो नहीं सकती, गुणात्मक ही हो सकती है। इच्छा का जब यह गुणात्मक परिणमन होता है तब वह धारणात्मक से रचनात्मक हो जाती है। उससे पहले परिमाण एवं पदार्थगत अवस्था में इच्छा जिस श्रम और उद्यम का उद्दीपन करती है, उसका स्वरूप प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा का होता है। इसमें से राजनीति फलित होती और भौतिक सफलताएं मिला करती हैं। इसको राजसिक चेष्टा कह सकते हैं। राजसिक प्रेरणा और प्रयत्न से प्राप्त फल में धन और ऋण दोनों ही पक्ष होते हैं। धनिक को धन में अनुभव होने वाला गर्व उतना ही है कि जितनी उत्कट आसपास उसकी गर्ज है। लखपति अपने को करोड़पतियों के बीच पाकर अपने लाख में दुःख का ही अनुभव कर सकता है। लाख का सुख तभी है जब दीन-दरिद्र की लालसा की टकटकी उस लाख के धन पर लगी हो। इस पदार्थ-प्राप्ति के फल के धन और ऋण आपस में कटकर शून्य बन आते हैं। इसी शून्यता का अनुभव पीछे जाकर बड़ा ही कष्टकर प्रतीत होता है। अर्थात् पूर्ति में इच्छा की इति नहीं है, अभीष्ट इच्छा की गुणात्मक परिणति है। जाने-अनजाने विकास के साथ जीवन में वह परिणमन घटित हो ही रहा है। इच्छाओं का रूप अवस्था के साथ जैसे अनिवार्यतया भौतिक से आत्मिक होता जाता है। यह किसी नैतिक या धार्मिक दृष्टि से नहीं कह रहा हूं, नैसर्गिक प्रक्रिया ही यह है। निसर्ग हमारे साथ यही खेल खेलता है, अर्थात् इच्छा की अपूर्ति हमें त्रास देती है तो अलक्ष्य में साथ-साथ हमारा उपकार भी करती है।

वासना या कामना अहं से उत्तीर्णता देने को है

हमारे धर्मशास्त्रों ने काम को जीवन के लिए बहुत आवश्यक माना है। एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्य, कोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्।

अर्थात् जिसके पास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में से एक भी नहीं है, उसका जन्म उसी प्रकार निरर्थक है जैसे बकरे के गले का स्तन। तो सवाल यह है कि काम क्या वासना से अलग चीज है। अगर नहीं तो क्या वासना भी मोक्ष जैसी चीज में सहायक है?

—काम आवश्यक है, उपादेय भी है। पुरुषार्थों में उसकी गणना भी सही है। लेकिन काम के वासना कहे जाने से घबराने की ज़रूरत नहीं है। वासना से पूरा छुटकारा देह रहते तो है नहीं। उत्तीर्ण शब्द से आशय इसलिए इतना ही लेना चाहिए कि वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठहरना नहीं है, आगे बढ़ना है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ते जाने में क्या कभी अपूर्णता से छुटकारा मिल जाएगा? उसी भांति अंतिम छुटकारा यहां भी नहीं है।

वासना या कामना हमको अन्य के प्रति उन्मुख करती है। यह अपने आप में इस अर्थ में अभीष्ट ही है कि वह हमको अपने अहं के वृत्त से बाहर लाती और संबद्धता में विस्तृत करती है। इसके पीछे परम मंगलमय की ही योजना माननी चाहिए। अहंग्रस्त होकर व्यक्ति निर्जीवता और जड़ता में पड़ता है। उस राह विक्षिप्तता तक हो आती है। अत्यन्त आवश्यक है कि अहं से बाहर आना मिले और संबंध-सूत्रों का विस्तरण हो। सच यह कि संबंधहीन अस्तित्व संभव नहीं है। जन्म के साथ ही माता-पिता आदि के द्वारा शिशु संबद्धता के बीच स्थापित हो आता है। अहं इन संबंधों के अनुभूति-बोध का केन्द्र मात्र है। किन्तु जब उन संबंधों का आशय और समर्थन अपने में मान रखा जाता है तो वहां काम और कामना का उदय होता है। जीवन विकास की प्रक्रिया को क्रम में आप देख पाएंगे कि यह उचित ही है। उस काम-वृत्ति का रचनात्मक उपयोग है। वह विस्तृति और विकास में सहायक होती है। इसीलिए उसकी पुरुषार्थ में गणना की है।

अहं से उत्तीर्णता अर्थात व्यक्ति की मुक्तता

तो मुक्ति क्या है? मुक्ति असल में अहं से मुक्ति है। अहं का नाश नहीं हो सकता। अस्मित्व के निमित्त से तो अस्तित्व का बोध होता है। मुक्ति अस्मित्व का वह विशदीकरण है जहां उसके अस्तित्व से भिन्न अथवा विरुद्ध रहने की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। उदात्तीकरण की राह से व्यष्टि समष्टि में लीन होता जाता है। अहं अपने को चारों ओर फैले इन संबंध सूत्रों में पूरी तरह खुलकर धुल जाने दे तो ऐसे वह मुक्ति की ओर बढ़ता है। अपनी ओर लेने और सिमटने में बंधन का बोध है। 'स्व' में 'पर' में भय संशय रहे तो 'स्व' अपने भीतर संकुचित बनता है, फैलता नहीं है। कामना कहो या वासना कहो, वह अपने से बाहर के प्रति जाने की इच्छा और चेष्टा का नाम है। आत्मग्रस्तता और जड़ता से यह उत्तीर्णता की ही स्थिति है। इसलिए मुक्ति की दिशा में भी पुरुषार्थ के रूप में उसे सहायक कह सकते हैं।

स्वार्पण भाव में ही कामना या वासना सुफल

किन्तु एक जगह जो साधक था, वही काम आगे मुक्ति में बाधक भी हो जाता है। कारण, काम में जब कि अपने को देने की चाह रहती है, तब अपने में उतनी ही लेने की चाहना भी रहती है। यह लेने की चाह अहं के केन्द्र को कस देकर और मजबूत बन जाती है। इस दृष्टि से उसे बाधक मानना पड़ता है। अपने को देने की कामना की मात्रा तक काम में प्रेम का सत्-भाव रहता ही है। प्रेम का अनुपात और वेग सघन और तीव्रतर हो तो अपनी ओर लेने का भाव यहां क्षीण से क्षीणतर होता हुआ समाप्त हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् काम यदि मुक्ति में बाधा है तो वह बाधा काम को ही समाप्त करने की चेष्टा में से दूर नहीं हो सकती, बल्कि काम में अंतर्भूत प्रेम की मात्रा को बढ़ाते जाने से ही उसे दूर किया जा सकता है। काम और अर्थ के पुरुषार्थों से पहले धर्म का निर्देश है। धर्मपूर्वक ही अर्थ और काम मुक्ति के साधक पुरुषार्थ हैं। धर्मपूर्वक का अर्थ यही है कि व्यक्ति अहं-केन्द्रित के बजाए सर्वार्पित भाव से प्रेरित हो। तब स्वभावत: काम में भी अपने को देने की भावना लेने के भाव से उत्तरोत्तर बढ़ती जाएगी और अपने भीतर से ही तब काम निर्दंश और निष्काम होता आएगा। काम और निष्काम दो विरोधी संज्ञाएं प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन सकामता की राह से ही निष्कामता की दिशा में बढ़ना होगा। निष्कामता कामहीनता नहीं है, अनासक्त काम है। मैं मानता हूं कि यद्यपि उन संज्ञाओं में परस्पर निषेध भाव है, लेकिन काम को निष्कामता की ओर उठाया जा सकता है। बल्कि सच कहिए तो उस दिशा में उठते हुए काम को ही पुरुषार्थ की अभिधा दी जा सकती है। मेरा विश्वास है कि काम के भीतर ही वे अन्तस्तत्व मौजूद हैं जो व्यक्ति को उस दिशा में उठाते जाते हैं। आनुषंगिक या दूसरे कुछ कारण हैं कि काम फिसलाता दीखता है, ऊपर उठाता नहीं मालूम होता। पर काम-भोग में रस जो और जितना है, वह प्रेम के निमित्त से है। वह रस स्वयं उत्तीर्णता की ओर ले जाने वाला है। यदि वैसी चेष्टा काम में से आगे-पीछे प्राप्त नहीं होती है, काम लिप्सा ही बढ़ती दीखती है, तो सामाजिक, पारिवारिक अथवा दूसरी परिस्थितियों की छान-बीन होनी चाहिए। अर्थासक्ति से जैसे एक बिन्दु पर अर्थ-विरक्ति फलित होती है, उसी तरह कामासक्ति से एक जगह, स्वभाववश, काम से उपरति उत्पन्न होनी चाहिए। काम को मुक्ति की राह में पुरुषार्थ बताने का अभिप्राय मैं यही मानता हूं।

सचेष्ट नहीं, नैसर्गिक काम-निवृति

तो क्या काम-विरक्ति से आप मुक्ति मानते हैं? फिर तो काम मुक्ति में बाधक था, तभी तो विरक्ति की आवश्यकता महसूस कर रहे हैं।

—हां, काम शब्द स्वयं में अपूर्णता का और द्वंद्व भाव का बोधक है। मुक्ति में द्वैतबोध नहीं है। इसलिए काम एक जगह तक मुक्ति में साधक है, उसके आगे बाधक हो जाता है। काम में प्रेम की मात्रा बढ़ती जाती है तो जिसको काम की लिप्सा और लालसा कहते हैं वह अरुचिकर और हेय प्रतीत होने लगती है। यहीं से विरक्ति के भाव का आरंभ होता है। यह विरक्ति आप देखें कि काम को कुचलने से नहीं आएगी, काम में से ही निसर्ग भाव से फलित होगी। धर्मपूर्वक पुरुषार्थ के भाव में काम को ग्रहण किया जाएगा तो यह परिपाक मुझे अवश्यंभावी दीखता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यौन-संबंधों की स्वतन्त्रता ?

काम अथवा वासना में 'स्व' 'पर' में युक्त बनता है, 'पर' 'स्व' में आ मिलता है। इस प्रकार संबंध का विस्तार होता है। किन्तु जब यह विस्तार एक से आगे बढ़ता है, तो सकाम प्रेम कटुता में बदल जाता है। जहां तक परिवार का प्रश्न है उसमें तो यह विस्फोटक स्थिति पैदा कर देता है। पति-पत्नी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते कि उनमें से कोई एक अपना संबंध वासना तुष्टि के लिए किसी दूसरे से जोड़े। इस स्थिति में क्या यह वासना पारिवारिक जीवन को नष्ट नहीं करती ? तब 'स्व' का 'पर' में विस्तार अनैतिक माना जाना चाहिए।

—हां, इस प्रकार के संकट पैदा होते ही रहते हैं। रोक-थाम के लिए सामाजिक नीति-रीतियां बनी हैं। यत्न होता रहता है कि काम और प्रेम की शक्तियों को मर्यादा में रखा जाय। लेकिन मालूम होता है कि विवाह और परिवार की जिस व्यवस्था तक हम पहुंचे हैं वहां प्रश्न का निबटारा नहीं हो गया है; बल्कि उसमें नए-नए पहलू खुल आए हैं। मैं समझता हूं कि अपनी सामाजिक और पारिवारिक संस्थाओं का हमें फिर से लेखा-जोखा लेना और वहां यथावश्यक संशोधन और संस्करण करना होगा। यह प्रश्न यहां का ही नहीं है, पश्चिम के उन्नत समझे जाने वाले देशों में और भी प्रखर है। वे देश एक 'परमिसिव सोसाइटी' के आदर्श को सामने रखकर समाधान की ओर बढ़ना चाह रहे हैं। दो व्यक्तियों के आपसी संबंध के बीच समाज के किसी वर्जन-तर्जन के अधिकार को ही वे खतम कर देना चाहते हैं। इस उपाय से वे किसी सामाजिक संतुलन या समाधान तक जा पहुंचे हैं, यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन इस प्रश्न के प्रति वे जागृत और सचेष्ट हैं, कहने का इतना ही आशय है।

काम-वासना से संबंधों का विस्तार

हां, कोई संबंध दो तक ही नहीं रहता है, अलक्ष्य तंतुओं से उसका प्रभाव और परिणाम आगे भी पहुंचता है। अर्थात् वैयक्तिक निरा कुछ नहीं होता, सब कुछ साथ ही सामाजिक भी होने को विवश है। व्यक्ति की, या उसके संबंधों की, स्वतंत्रता समाज-नैतिक आयाम से निरपेक्ष नहीं हो सकती। इसलिए संशयास्पद ही है कि काम और प्रेम को उन्मुक्त कर देने की राह से पश्चिम का समाज किसी स्वस्थ समाधान तक पहुंच पाएगा। फिर भी संकीर्ण ईर्ष्या-द्वेष, मद-मत्सर आदि के जो दृश्य भारत के परिवार-केन्द्रित-समाज में दीखने में आते हैं, वे पश्चिम के उन देशों में विरल बनते जा रहे हैं। ईर्ष्या और तज्जनित कलह-क्लेष की धमकी के उपाय से परिवार, विशेषकर पति-पत्नी संबंध की जो चौकसी और सुरक्षा की जाती है, उसका लाभालाभ संदिग्ध ही बना रहता है। मुझे लगता है कि उन उपायों से परिवार की संस्था बहुत काल तक विघटित होने से बच नहीं पाएगी। संयुक्त परिवार तो परिस्थितियों के दबाव से अभी खण्डित बन गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सभ्यता औद्योगिक हो गयी है और जीवन में गति-वेग का दबाव बढ़ रहा है। संयुक्त परिवार के लिए स्थिर परिस्थितियां चाहिए, वह अनुकूलता अब नहीं है। स्थितियां तेजी से चल-विचल हो रही हैं। पहले की समाज-नीति अत: अब चल नहीं सकती। लड़कियां लड़कों से ज्यादे पढ़ रही हैं और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र और समर्थ होने में विश्वास करने लगी हैं। अच्छे भले घरों की पढ़ी लिखी युवतियां हजारों-हजार की संख्या में यहां दिल्ली के दफ्तरों में काम कर रही हैं। चौकसी और पहरेदारी की नीति इन परिस्थितियों में कैसे व्यवहार्य हो सकती है?

काम और प्रेम रचनात्मक संभावनायें

अर्थात् काम और प्रेम की शक्तियों को विधायक और रचनात्मक उपयोग के योग्य बनाए रखने के लिए पारंपरिक रीति-नीति में हमें कुछ फेर-बदल करना पड़ेगा। अविश्वास के सहारे को बीच से हटा देना होगा। कोई आगे चाहरदीवारी में बंद नहीं रखा जा सकेगा। आवागमन, संवाद, संपर्क की सुविधाओं के उपयोग से भी किसी को वंचित नहीं रखा जा सकेगा। परस्पर स्वत्वाधिकार के भाव को संयम में लाना होगा और हर एक के व्यक्तित्व को यथायोग्य अवकाश मिलने देना होगा।

पारिवारिक से आगे सामाजिक न्याय-चेतना

विवाहेतर संबध विवाह की मौजूदगी में नहीं हैं, या कम हैं, यह मानना भ्रम पोसना है। विवाह परिवार की सृष्टि करता है और उस व्यवस्था से संतति-रक्षा और पालन-पोषण का प्रश्न एक हद तक निबट जाता है। लेकिन आज सोशलिज्म की आवाज तेज है और जान पड़ता है कि उस उपलब्धि में कुटुंब-परिवार एक स्थापित स्वार्थ की बाधा उत्पन्न कर देता है। व्यक्ति परिवार के लिए जीता और खपता है और उस पारिवारिक स्वार्थ को अपने लिए इतना अंतिम अभीष्ट ठहरा लेता है कि उस राह में सामाजिक शोषण या अन्याय उसे अनुचित नहीं लगते। वर्तमान में मनुष्य की सामाजिक न्याय की चेतना प्रबल होती जा रही है और परिवार को ही अंतिम वृत्त मानकर जीने की पद्धति उस विवेक से असंगत और ओछी रह जाती है।

मुक्त संबंध के बाद का आधार अर्थ-विपुलता

पश्चिम के देश शारीरिक संबंध की खुली छूट देने में सुविधा देखते हैं और वे इस दिशा में 'उन्नति' कर रहे हैं। संतति-निरोध के सुभीतों के बावजूद यदि संतति होती है तो अवैधता का भाव उस संतति के प्रति नहीं रहता। न किसी प्रकार का तिरस्कार ऐसी संतान को अनुभव होने दिया जाता है। उसके परिपोषण का दायित्व समाज अथवा राज्य सहर्ष अपने ऊपर ले लेता है। वे मानते हैं कि यह व्यवस्था अधिक स्वस्थ और मुक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे मानव संबंधों में मलिनता या संकीर्णता पैदा नहीं हो पाती है। व्यक्ति स्वतंत्र रहता है और उसका अभिक्रम परिवार के किसी जुए के चक्कर में घिर कर नष्ट नहीं होता।

किन्तु यह व्यवस्था यदि वहां चल और फल रही है तो इस कारण कि पैसे की वहां बहुलता और संपन्नता है। यह पैसे का प्रश्न पेचीदा है और बिल्कुल संभव है कि तनिक विश्लेषण से प्रतीत हो आए कि एक देश की संपन्नता दूसरे की विपन्नता के मूल्य पर ही अर्जित की जा सकती है। वह विपन्न देश यदि अपनी जगह स्वावलंबी बन आए, केवल आयात की मंडी बने रहना अस्वीकार कर दे, तो संपन्न देश का क्या होगा? तब क्या वह संपन्नता डगमगा न आएगी और उसके अवलंब पर खड़ी व्यक्ति-स्वातंत्र्य और काम-स्वातंत्र्य की व्यवस्था भी टूट न आएगी? अर्थात् पश्चिम में अपनाया गया 'परमिसिव सोसाइटी' का आदर्श और उसके अधीन भोग-स्वातंत्र्य की अनुमति उस परिस्थिति के दबाव को शायद सह न पाएगी, और समाधान का मार्ग अन्यत्र खोजना होगा।

पति-पत्नी परस्पर सम्पत्ति नहीं व्यक्तित्व हैं

यहां तो दो मत का प्रश्न नहीं है कि संशय और ईर्ष्या से विवाह-संबंध की घेरे-बंदी रखने का इष्ट परिणाम न आयगा। पति-पत्नी का आशय यदि परस्पर भोग की एकाधिकारिता का ही संबंध हो तो इस धारणा को बदलना होगा। एकाधिकार में संशय और दावे की भूमिका है। वह संबंध संपत्तिमूलक है। पति-पत्नी एक दूसरे की जायदाद नहीं हैं। दोनों अपने में व्यक्तित्व है और एक मात्रा तक उन्हें स्वतंत्रता भी अपेक्षित है। संबंध यदि परस्पर विश्वास और सौहार्द का होगा, तभी उसमें रस या स्थायित्व रह सकेगा। इसका आशय यही कि उन दोनों व्यक्तियों के आपसी संबंधों का क्षेत्र केवल उन दो तक ही सीमित रहने के लिए बाध्य न होगा, बल्कि दूसरी दिशाओं में भी वह विस्तार पा सकेगा।

काम सम्बन्ध और परिवार का प्राचीर

संबंधों के उस क्षेत्र-विस्तार में प्रेम और सहानुभूति आदि निरापद भावनाओं के अतिरिक्त यदि काम-वासना का भी संचरण हो निकले तो आप कहते हैं कि पारिवारिक सूत्र विघटित हो जाएगा और समाज बिखर रहेगा। हां, मैं मानता हूं कि काम-वासना के लिए अवकाश उससे अपेक्षाकृत अधिक खुला होगा, किन्तु क्यों जरूरी है कि परिवार वहां टूटे? सांपत्तिक आधार पर खड़ी विवाह की संस्था जीर्ण और अपर्याप्त पड़ती जा रही है। समय की गति का साथ वह आगे नहीं दे सकती। परिवार को इतना सक्षम होना होगा कि वह इन बातों में अधिक विश्वस्त, सहिष्णु और उदार हो। विवाह समाज-व्यवस्था का अंग है। उसकी सृष्टि मानव की संस्कारशीलता ने की है। किन्तु संस्कृति स्वीकृति-पूर्वक ही प्रकृति को संस्कार दे सकती है, उसका इंकार नहीं कर सकती। कामाकर्षण सर्वत्र व्याप्त है। नर-नारी योग पर सृष्टि टिकी है, क्यों न … जाय कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्माण्ड टिका है। कारण, वह आकर्षण चर में नहीं, अचर में भी व्याप्त है। संस्कृति इस महाशक्ति की अभ्यर्थना और आराधना से आरंभ होती और उसको संस्कार देती हुई आगे बढ़ती है। उस आदि-शक्ति से टकराकर संस्कृति और सभ्यता स्वयं में ही ध्वस्त होगी, निसर्ग-नियमों का कुछ बिगाड़ न कर सकेगी। विवाह की व्यवस्था प्रेम को संरक्षित, सफल और उपयुक्त करने के लिए है; उससे अधिक अधिकार उसको देना प्रेम पर उस संस्था को लाद देना जैसा हो जायगा। विवाह का वह अपलाप है। विवाह-संस्था ऐसे अपनी अपमृत्यु बुलाकर अराजकता को जन्म देगी। उसके चिह्न अब भी प्रगट हैं। विवाह से वास्तव में उस केन्द्र की सृष्टि होती है जहां से प्रेम अपने निमित्त आवास और विस्तार पाए। वहां से सामाजिकता का आयाम खुलता है। विवाह में अपने को देकर व्यक्ति फिर समाज-समष्टि के प्रति अर्पित होने की राह पा जाता है। विवाह यदि उस राह को नहीं खोलता, स्वयं में एक चक्करदार जूआ और व्यूह बनकर रह जाता है, तो यह उस संस्था की विडम्बना ही है।

विवाहेतर काम-संबंध की कल्पना से आप घबरा न जाइए। घटनाएं वैसी अब भी कम नहीं हैं। ऊपर चादर पड़ी है, क्या इसी का आपको संतोष है? क्या यह सांत्वना का विषय है कि उन्हें प्रच्छन्न रखा जाता है? मैं कहता हूं कि यह प्रच्छन्नता नीचे और अधिक ही मैल पैदा करती है। वह संस्कारिता नहीं है जो नीचे मिथ्या का आधार लेकर शिष्टाचारिता बनी खड़ी है। संस्कारशीलता सदा सत्य के साथ है और सत्य में हर तथ्य का स्वीकार ही नहीं, आदर भी है।

प्रेम पति-पत्नी में सीमित नहीं

पति-पत्नी को वासना-तृप्ति के लिए उन्मुक्त करने से सबसे भयंकर स्थिति यह होगी कि पति का जो प्यार पत्नी को मिलता था उसमें कमी आ जाएगी; क्योंकि पति का प्यार कहीं और बंटेगा। यह भी हो सकता है कि वह अपनी पत्नी से घृणा करने लगे। यही स्थिति पत्नी के पक्ष में होगी। दूसरी बात, अगर पत्नी उन्मुक्त होकर विहार करती है तो जो उससे सन्तान होगी वह किसकी रहेगी? तो क्या इससे परिवार टूटेगा नहीं और मनुष्य दाम्पत्य-जीवन के सुख से वंचित नहीं होगा?

—प्रेम को हमेशा ही बांटना पड़ता है। मां का पुत्र ही विवाह होने पर पत्नी का पति होता है। माता और पत्नी दोनों उस पर अपने प्रेम का प्रथमाधिकार मानती और सास-बहू बनकर आपस में क्लेश उपजा लेती हैं। क्लेश न भी सही, तो क्या युवक अपने को मां और पत्नी में बांटे बिना रह सकता है? यदि दोनों प्रेम परस्पर ईर्ष्यालु हो जाएं तो क्या अवस्था होगी? सच यह कि स्वत्त्वाधिकार का दावा होते ही प्रेम परस्पर दुर्लभ हो आता है। इसलिए विवाह-संख्या को स्वत्वमूलक और अधिकार-मूलक रूप देना कच्ची नींव पर गृहस्थ को खड़ा करना है। जिस पत्नी ने अपने सतीत्व के दावे पर पति को अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घेरेबन्दी में लेना चाहा, उसे सदा पीछे पछताना पड़ा है। पति की ओर से होने पर भी उस दावेदारी का अनिष्ट ही परिणाम आ सकता है। भोग को सीमित किया जा सकता है, शायद चाहिए भी, पर प्रेम को तो विस्तृत ही करते जाना होगा। प्रेम में साथ-साथ भोग के कण भी यदि अनिवार्यतया जाते हों तो उस खतरे को भी उठा लेना है; पर प्रेम को बांधना हवा को पेड़ से बांधने जैसा ही उपहासास्पद कृत्य है।

शिशु, वैध या अवैध, समाज की थाती

संतति का प्रश्न अलबत्ता संगत और विचारणीय है। पर विवाहानंतर संतति सदा विवाहित पति की ही होती है। विवाह-बाह्य, अथवा विवाह-पूर्व, संतति हो तो क्या आप सलाह देंगे कि उसे समाप्त कर दिया जाए? नहीं, हर शिशु समाज की थाती है, समाज द्वारा वह संरक्षणीय है। उन्नत समाजों में ऐसे शिशुओं के परिपालन की भरपूर व्यवस्था रहती है। भ्रूण के अथवा शिशु के अपघात की घटनाएं लज्जाजनक बन जानी चाहिए। बहुत ही दुःख की बात है कि ऐसी घटनाएं भारत में अब तक होती सुनी जाती हैं।

संतति धारण के इस प्रश्न को यदि कृत्रिम निरोध के उपाय से निःशेष भी किया जा सके, तो क्या कोई खुले भोग-संबंध का समर्थन कर सकता है? बल्कि मैं कहूंगा कि संतति के संबंध में अवैधता का भाव यदि विचारणीय ही न रह जाए, तो शायद है कि उससे कुछ अंशों में व्यभिचार पर रोक थाम ही लगती अनुभव हो।

नैतिक धारणा समाज-भय से मुक्त हो

प्रेम बंदी बन कर रह नहीं सकता है। विवाह द्वारा प्रेम को विस्तार देने के केन्द्र के बजाय हम यदि कारागृह की रचना करेंगे तो यह जीवन-द्रोह का कृत्य होगा और इसके बेहद अनिष्ट परिणाम आएंगे। वैसी हदबन्दी का यत्न आज है और उसके अनिष्ट परिणाम भी आप आंख खोलकर देखें तो चारों ओर देख सकते हैं। समाज में और परिवार में मिथ्या और पाखण्ड का आडम्बर चलता है। नैतिकता के नाम पर अपनाई गयी अनैतिक वृत्ति का ही वह परिणाम है। छल और छद्म को कौशल समझ लिया जाता है और सम्भ्रांतता और शालीनता को झूठ और दम्भ के बल ऊपर उठाए रखा जाता है। सज्जनता औपचारिक स्तर की वस्तु है, नीचे उसके हर कृत्य दब और ढक जाता है। मेरा मानना है कि यह सब मिथ्याचार मुख्यता से इसी कारण बढ़ता फैलता है कि हमने प्रेम का अविश्वास किया है और उसके प्रकृत संचरण के मार्ग में नाना अवरोध उपस्थित करने में अपनी रक्षा और शरण खोजी है। प्रेम की शक्ति अपौरुषेय है। वह अनिवार्य और अनिरोध्य है। हमारे नियम उस शक्ति-प्रवाह को तट की मर्यादा दें, वहीं तक ठीक है। यदि उस निसर्ग प्रवाह पर ही वे आरोपण लाएंगे तो वे नियम टूटे-फूटे बिना न रहेंगे। आवश्यक है कि समाज हमारी नैतिक धारणाएं आध्यात्मिक साहस और श्रद्धा के स्पर्श से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रखर और प्रबल हो, केवल वे समाज-व्यवस्था की चिन्ता से त्रस्त, भीत और दमित न हों। यही नैतिकता है जो रूढ़ और जड़ पड़ कर जीवन-प्रयोगों से हमें डराए रखती और आगे बढ़ने में आड़े आती है।

परिवार की बिखरन का दायित्व अर्थ-व्यवस्था पर

लेकिन इसमें भी एक कठिनाई है। प्रेम के विस्तार करने और अवैध संबंध स्थापित करने का ही तो परिणाम है कि पश्चिमी देशों में तलाक की बाढ़ सी आ गयी है और परिवार बिखर रहे हैं। क्या यह स्थिति समाज की प्रगति में बाधक नहीं बनेगी?

—अवैध संबंधों पर आंख मींच ली जाए, या उस आंख को खुला रखा जाय, यह प्रश्न है। अरुचिकर होने मात्र से उन तथ्यों पर से आंख मीच लेने का समर्थन मैं नहीं कर सकता। निश्चय ही पश्चिम के सभ्य देशों में समाज का बंधारण स्खलित-सा हो रहा है। उसके निदान में जाना और उपचार सोचना आवश्यक हो सकता है। लेकिन जीवन-प्रवाह में, आशयतः प्रेम-संचरण पर, उस कारण जगह-जगह अवरोध डाला जाय तो इसका समर्थन नहीं हो सकता है। समाज को नियमित और व्यवस्थित रखा जाता है अर्थ के व्यवहार से और कानून की सत्ता से। मेरा सुझाव होगा कि व्यवस्था के स्खलन के कारणों का उन भूमिकाओं पर अनुसंधान किया जाए। मानव-संबंध आज हमारे जिस माध्यम पर टिके है, और जिससे वे नियमित होते हैं, वे मनुष्य के भीतर की इस निसर्ग-निधि और शक्ति को विचार और गणना में नहीं लेते हैं। हमारी व्यवस्थाएं जो डगमगाती और ढहती सी दीखती हैं, सो प्रमुखता से इस कारण कि सम्पत्ति और सत्ता में हमने अपना विश्वास डाला है, स्नेह और श्रम को अविश्वास का पात्र बना दिया है। मानव-बुद्धि विज्ञान की सफलताओं से उन्मत्त होकर मानो पड़ोसी को लांघ जाने की चेष्टा में पड़ गयी है। इस प्रकार आदमी और आदमी के बीच के सहयोग सूत्र शिथिल हो आए हैं। और लिप्सा, स्पर्धा, जिघांसा उन संबंधों को विषम और विषाक्त बनाये रखती है। सत्ता और मुद्रा के माध्यम उन वृत्तियों की पूर्ति में सहज साधन बनते और उस सुविधा से स्नेह भावना का अनायास शोषण होने लगता है। धनाधीश और राजनेता के हाथ के नीचे असंख्य जन सिर्फ तन रखते हुए जीविका के फेर में जीते हैं और अपनी अन्तर्भावनाओं के साथ वे तनिक न्याय नहीं कर पाते हैं। पश्चिम के देशों में अगर मानव-संबंधों का स्खलन दिखाई देता है तो उसके कारण अर्थ-नीति और राजनीति में खोजे जाने चाहिए। मेरा इस वर्तमान सभ्यता के प्रति अभियोग है कि अर्थ ने और राज्य ने मनुष्य के हृदय के लिए समुचित अवकाश नहीं छोड़ा है और इसलिए जहां से विशालता और उदात्तता आ सकती थी वहां से क्षुद्रता और हीनता आ रही है। मनुष्य की संभावनाओं के साथ यह सभ्यता न्याय नहीं कर रही है बल्कि बुद्धि-चातुर्य को धार देकर उसके भरोसे मानव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व का अविश्वास और अपमान कर रही है। वह मानती है कि मनुष्य मूलत: सत् और शिव नहीं है, कृमि और पशु है; इसलिए उसकी संभावनाओं को खुला अवसर देना खतरे की पिटारी खोलने जैसा हो सकता है। मैं मानता हूं कि यह धारणा भ्रांत है और प्रेम से भय खाने की आवश्यकता नहीं है।

विवाह परिवार और समाज के निमित्त आवश्यक

अगर विवाह की संस्था टूटती है तो उसके बाद कैसी व्यवस्था आएगी? क्या उस व्यवस्था में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी का वही सम्बन्ध होगा जो आज है या कि इससे भिन्न होगा?

—परिवार की संस्था तो समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक ही मानी जानी चाहिए। मात्र अमूर्त से संबंध रखकर हम जी नहीं सकते। समाज अमूर्त है, मूर्त-व्यक्ति से संबंध अपेक्षित बना रहता है। फिर नर-नारी का द्वैत और उनके बीच का आकर्षण वे तत्व हैं जो परिवार को आधार देते हैं। शरीर के मिलन से शिशु की सृष्टि होती है। किन्तु इस भोग की मर्यादा है। उसमें एक समय के साथ एक का ही संबंध संभवनीय है। यह वस्तुस्थिति मानव परिवार के इकाई को नैसर्गिक ही बना देती है। पारिवारिक के द्वार से जो सामाजिक बना जाता है, वही सामाजिकता यथार्थ और वास्तव है। इज़्म वाली सामाजिकता अंत में निरी शाब्दिक निकलती है।

विवाह की अवधारणा संपत्तिमूलक से यज्ञमूलक बने

परिवार की संभावना के लिए केन्द्र-रूप विवाह का विधान भी एकमात्र सुगम माध्यम प्रतीत होता है। इसलिए विवाह को तोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। जहां संशोधन आवश्यक है वह है विवाह की अवधारणा और उसका स्वरूप। अभी वह धारणा सम्पत्ति मूलक है और आगमिष्यत् के लिए स्पष्टत: अपर्याप्त है। मैं समझता हूं कि उस संस्था को उत्तरोत्तर यज्ञमूलक बनाया जा सकता है और बनाया जाना चाहिए। अर्थात् एक दूसरे पर किसी अधिकार भाव में वे दो युक्त न हों, वरन् वह स्वयं-वरण धर्म-भावाश्रित हो। भावना वहां कर्त्तव्य और अर्पण की हो, अधिकार और उपयोग की नहीं। विवाह और तलाक को केजुअल और एकदम सस्ता बना देने का उपाय भी जहां-तहां सुझाया जाता है। माना जाता है कि ऐसे समाज जकड़ा न रहेगा, मुक्त होगा। बंधन का नहीं, वहां अनुभव प्रसन्नता का होगा, इत्यादि। मुझे वह सब अनुमान अयथार्थ जान पड़ता है। यह उपयोगिता के तल पर बना संबंध चंचल रहेगा और वहाँ से सघनता और एकात्मता फलित न होगी। दोनों ओर स्वत्व भाव के अधीनता होने से वह संबंध चल-विचल रहेगा और समाज में पस्परता के सूत्र को पुष्ट न होने देगा। हर एक के लिए दूसरा मानो विषय होगा, साधन होगा, और चतुराई की बन आएगी। तब सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्थाएं औपचारिक और वैधानिक स्वरूप की होंगी, उनमें हार्दिकता की स्निग्धता और सहजता न होगी। मुझे प्रतीत होती है कि मानव-संबंधों के मूल में प्रयोजन की जगह कर्त्तव्य की प्रतिष्ठा हो तो संबंधों में स्निग्धता और स्थिरता आएगी। अर्थात् हमारी संस्थाएं स्वार्थ की जगह यज्ञ पर स्थित हो और विवाह जो सबसे प्राथमिक और मौलिक संस्कार है, सर्वथा ही यज्ञनिष्ठ हो।

विवाह भारत में धार्मिक अनुष्ठान तो रहा, लेकिन साथ-साथ उसकी धारणा सम्पत्तिमूलक भी रहती चली गयी। यदि सम्पत्तिमूलक भाव को नीचे से समाप्त कर दिया जाए और शुद्ध यज्ञ पर विवाह की प्रतिष्ठा हो तो मुझे लगता हैं कि समाज में इससे प्रवाहशीलता आएगी और गति खुल जाएगी। फिर अस्थिरता और अराजकता का डर न रहेगा। ऐसी मुक्तता आ सकेगी कि मर्यादा का भंग न होगा, न मर्यादा की रक्षा का भार ऊपर किसी नियंत्रक सत्ता को सौंपने की आवश्यकता रहेगी। बल्कि प्रेम के अन्तस्थ नियम ही जीवन में यथावश्यक मर्यादा को अस्खलित और अक्षुण्ण बनाए रखेंगे।

विवाह का आधार : भोगमूलक नहीं, त्यागमूलक

विवाह की संस्था को यज्ञमूलक बनाने से आपका क्या अभिप्राय है?

—अभी विवाह स्त्री-पुरुष के आपसी अधिकार-भाव का नाम है। उससे सर्वथा उल्टे जब भाव सेवा और अर्पण का ही हो जाएगा तो उसे यज्ञ कहेंगे। यज्ञ में भोग का सुख नहीं है, त्याग का ही आनंद है। विवाह के आधार को भोगमूलक से त्याग मूलक बनाना है। मैं मानता हूं कि विवाह का स्वाभाविक विकास उसी ओर है। पति-पत्नी परस्पर भोग्य की जगह सेव्य, या साध्य, बनते हैं तो विवाह ऐसे आध्यात्मिक उत्कर्ष का साधन बन आता है। अभी तो वह मानो सांसारिक प्रपंच विस्तार का केंद्र मात्र है।

विवाह-प्रेम का द्वंद्व असम्भाव्य

इस सांसारिक प्रपंच से मुक्त करने के लिए विवाह की संस्था तथा उसकी मान्यता में क्या कुछ परिवर्तन करने पड़ेंगे।

—अवश्य और इससे बड़ा दूसरा क्या परिवर्तन होगा कि विवाह का आधार भोगमूलक रही न जाएगा। पति-पत्नी परस्पर एक दूसरे के आध्यात्मिक उत्कर्ष में सहधर्मी और सहचारी होंगे, न कि एक दूसरे के भोग-स्वत्वाधिकारी। तब विवाह को किसी बाहरी पाबंदी से घेरने की आवश्यकता न होगी। न विवाह की प्रेम के साथ संघर्ष में आने की संभावना शेष रह जाएगी।

पितृत्व की धारणा शारीरिक से अधिक समाज-धर्माश्रित

यदि विवाह की संस्था ऐसी बनी जिसमें पुरुष का स्त्री पर से भोगाधिकार खतम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया तो दोनों भोग के विषय में स्वतंत्र होंगे। फिर वह किसी से भी भोगसंबंध स्थापित कर सकते हैं। क्या इससे व्यभिचार नहीं बढ़ेगा? और जो उससे संतान होगी उसके पालन-पोषण की जिम्मेदारी किस पर होगी।

—भोगाधिकार जैसा जब कुछ रहेगा ही नहीं तो व्यभिचार का प्रश्न भी नहीं रह जाएगा। अधिकार की रेखा बनाने से उसके अतिक्रमण को व्यभिचार कहना पड़ जाता है। पति-पत्नी का भोगाधिकार किसी कानून से समाप्त हो जाता है, ऐसा नहीं है, विवाह की भूमिका ही भोग से यज्ञ में परिणत हो जाती है। तब वह कानूनी व्यवस्था की सुविधा मात्र का संबंध नहीं है, वरन् अन्त:करण से स्वीकृत हार्दिक संबंध भी है। वहां पर किसी विवशता का प्रश्न नहीं रहता, परस्पर धर्म-बुद्धिपूर्ण कृतार्थता का ही संबंध वह हो जाता है। उस अवस्था में संतति के पालन-पोषण के विषय में भी किसी अव्यवस्था आदि के प्रश्न का भय नहीं होना चाहिए। जननी की संतति का दायित्व, स्वभावत:, उसके विवाहित साथी अर्थात् पति का है। इसमें किसी प्रकार की बेबसी नहीं है, बल्कि शुद्ध त्याग और कर्तव्य भाव है। अभी पितृत्व की धारणा मात्र शारीरिक है। तब वह धार्मिक और आध्यात्मिक हो आएगी। शारीरिक संबद्धता यथावश्यक मात्रा में पिता-पुत्र संबंध को तटस्थ, वैज्ञानिक एवं नीति-शुद्ध नहीं रहने देती। तब मोहासक्ति वाला राग-संबंध विविक्त अनुराग में परिणत होगा और उसमें असामाजिकता के दोष आने की संभावना कम हो आएगी। यह संबंध स्वच्छ, निष्कलुष और नैतिक होता चलेगा।

आपके चित्त में शायद व्यभिचार का शब्द खलबली मचा रहा है। सच में तो वह सब आचार व्यभिचार है जो हार्दिक नहीं है और जिसमें भय-संशय है। ऐसे आचार के लिए तब शायद ही कहीं अवसर या अवकाश रह जाएगा। समाज में उससे स्वच्छता और निर्भीकता आएगी। शारीरिक पितृत्व का खामख्वाह एक हौवा खड़ा कर लिया गया है। पितृत्व की संस्था व्यवस्था का अंग है। उसका नैतिक और सांस्कृतिक स्थान है। मात्र शारीरिकता से जुड़ा मानने से उस संस्था का अवमूल्यन होता है। तब सामाजिक और नैतिक धारणाओं में परस्पर रगड़ होने की संभावना भी हो आती है। पितृत्व शुद्ध धार्मिक भावना पर आश्रित होगा तो किसी रागात्मक अभिनिवेश का मिश्रण अनावश्यक हो आएगा।

विवाह से बचाव और दायित्व से पलायन

लेकिन तब होगा यह कि कुछ लोग विवाह करेंगे ही नहीं। वासना सन्तुष्टि किसी की भी पत्नी से कर लेंगे और उससे अगर संतान भी हुई तो उन्हें कोई चिंता नहीं। क्योंकि उसके पालन-पोषण का भार तो उस स्त्री के पति पर होगा। इससे विवाहितों की आर्थिक स्थिति पर एक अनावश्यक भार पड़ेगा और हो सकता है कि बेचारे विवाहित यह सोचकर पछताएं कि विवाह करके कैसी विपत्ति मोल ले ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—नहीं, तब विवाह का प्रश्न व्यक्तिगत निर्वाचन से उठकर सामाजिक दायित्व का हो आएगा। व्यक्ति की मनमानी उतनी संगत तब नहीं रह जाएगी। विवाह से बचना तब सामाजिक दायित्व से पलायन जैसा कायरता का कृत्य माना जाएगा। आपसी पसंद का रिवाज तो अब चला है। पहले विवाह संबंध का निश्चय अभिभावकों के स्तर पर होता था। आगे भी वैसा हो सकता है। परिपक्व अवस्था होने पर सामाजिक दायित्व से बचने की वृत्ति हीन मानी जानी चाहिए। लोक-दृष्टि और लोक-रुचि का निर्माण ऐसा हो सकता है कि जो दायित्व से बचे वह क्लीव, असमर्थ और रुग्ण माना जाएगा।

समस्त जीवन-व्यापार वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण की सामग्री

व्यभिचार जैसे शब्द के लिए तो तब आधार ही न बच जाएगा। आचार स्वच्छ और हार्दिक होगा और परस्परता में तब कहीं मनोग्रन्थियों का निर्माण बाधा उपस्थित न करेगा। प्रेम निष्कपट होने से दायित्वशील होगा और नाना प्रकार के भय-संशय, जो विकृत काम चेष्टाओं के उपजाते हैं, निर्मूल रह जाएंगे। विवाहान्तर्गत व्यभिचार और अनाचार की बातों को हम लोग विवाह की चादर डालकर विचार के क्षेत्र से बाहर मान लिया करते हैं। विवाह के नीचे कितना कलुष और मालिन्य उपजता और जमा होकर सड़न और रोग उत्पन्न करता है, उसका लेखा-जोखा ही नहीं लेते। जैसे वह क्षेत्र सामाजिक विचार के लिए प्रस्तुत ही न हो। विवाह के वर्तमान रूप ने सारा ध्यान विवाहेतर संबंधों पर इतना केंद्रित कर दिया है कि व्यभिचार कह कर हम उसी की दुहाई देते रह जाते हैं और समाज-शरीर में विवाह की रूढ़ प्रणाली द्वारा प्रविष्ट रोग के गहरे कीटाणुओं की ओर से विमुख बने रहते हैं। समाज-विचार की यह त्रुटि तब दूर होगी और जीवन पर सर्वांगीण दृष्टि डाली जा सकेगी। अभी विवाह की ओट में उस व्यापार को वैयक्तिक और कौटुम्बिक मानकर विचार-बाह्य कर दिया जाता है। तब यह विवशता न रहेगी और समस्त जीवन-व्यापार तटस्थ और वैज्ञानिक निरीक्षण-परीक्षण के लिए खुला होगा।

विवाह समाज-गठन की केंद्रीय संस्था

लेकिन जो लोग विवाह नहीं करेंगे उनका समाज क्या करेगा? उनको हेय समझने मात्र से तो समस्या हल होगी नहीं। वर्तमान समाज में क्या व्यभिचार हेय नहीं है? पर इससे क्या व्यभिचार रुका है? तो क्या यही स्थिति उन अविवाहितों की न होगी?

—अपराधी क्या आज के दिन नहीं है, और क्या आगे नहीं होंगे? किन्तु औसत आदमी को अपराधी मानकर विचार नहीं किया जाता। हेय माने जाने मात्र से वैसी घटना असंभव नहीं हो जाएगी, लेकिन लोकमत का प्रभाव भारी पड़ता ही है और वही है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी सभ्यता के स्तर को थाम पाता और उठाता जाता है।

मेरा भी यही आग्रह है कि प्रकृति के नियमों के विरोध में हमारे बनाए नियम नहीं चल पाएंगे। यदि इस प्रक्रिया में अनुपयुक्त नियम टूटे बिना नहीं रहते हैं तो उचित है कि समय रहते हम पुनर्विचार करें और उन नियमों में फेर-बदल करते रहें। विवाहित आचार की जिस धारणा को हमने प्रतिष्ठित किया है, वह स्वयं मानो व्यभिचार को उत्तेजन देती है। साधारणतया हेय माने जाने पर भी व्यभिचार की बाढ़ रुकती नहीं दीखती है, तो कारण पर गंभीर विचार की आवश्यकता है। मुझे प्रतीत होता है कि यदि हमारे जीवन-व्यापार और समाज-व्यवहार में धर्म-बुद्धि का ह्रास होता गया है तो कारण विवाह में प्रविष्ट यह द्विधा है। विवाह हमारे गठन की केन्द्रीय संस्था है। यदि वह मात्र भोग के एकाधिकार पर आश्रित हो तो उसके बीच में ग्रंथियां पड़े बिना न रहेंगी और जीवन में दुभ्रांत प्रगट होगी। एक नीति ऊपर चलेगी, दूसरी रीति सतह से नीचे चलने के लिए रह जाएगी। रीति-नीति में यह द्विधा उत्पन्न होते ही धर्म ढोंग और दिखावा मात्र रह जाता है। मन की सहजता से उसका संबंध टूट जाता है। धर्मबुद्धि का यह ह्रास आज का सबसे बड़ा संकट है और निराकरण के लिए मैं आवश्यक मानता हूं कि विवाह की अपनी मूल संस्था को धर्म की धुरी पर आश्रित किया जाए। भोग की जगह त्याग को और यज्ञ को उसकी नींव में बिठाया जाए। शायद वह कल्पना थी जब विवाह को धार्मिक अनुष्ठान माना गया था, केवल लौकिक अनुबंध नहीं। पर अब समय आया है कि भोगाधिकार की धारणा से भी विवाह को उन्नत और उत्तीर्ण किया जाए और लोक-नीति में से छल-छद्म की संभावना को नि:शेष और निर्मूल ही कर डाला जाए।

समाज में प्रति अनुत्तरदायी व्यक्ति आगे नहीं निकलेंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के लिए सामाजिक वातावरण यदि विशेष अनुकूल नहीं रहता है, बल्कि हीन भाव रखता है, तो यह रोकथाम काफी मानी जानी जाए।

प्रकृति की अधीनता से मनुष्य ऊंचे उठते जाएगा

लगता है आपके मन में शंका मूलत: यह है कि मानव प्रकृति क्या इतनी उदार होगी कि यह मुक्त भाव सत्य हो जाए और विवाह में भोगाधिकार को न माने? विवाह में मिले अपने साथी को उस संबंध में स्वच्छंद देख पाना क्या मानव प्रकृति को सहनीय होगा? आज जो संतति के प्रति आत्मीय व सगेपन का भाव है, उसके बिना गृहस्थी स्निग्ध और सुचारु भाव से चल सकेगी? क्या तब पुरुष का चित्त संतति के प्रति निरपेक्ष और उदासीन ही न बन आएगा और उससे संतति के समीचीन विकास में बाधा न पड़ेगी? इत्यादि। तो मैं मानता हूं कि इन सब आपत्तियों के मूल में यह कठिनाई है कि हम शारीरिक को आवश्यक से अधिक महत्व देते आए हैं। शारीरिक भोग का बेहद डर हमने माना है। किंतु मैथुन तो सब कहीं है। पशु-पक्षियों को वह प्राप्त है। तो क्या मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भी उसी स्तर पर रुक रहना है? विवाह स्वयं प्रमाण है कि मनुष्य पशुवत् नहीं है, मैथुन को उसने अपनी ओर से सज्जा और संस्कारिता दी है, उसे शुभ और सुन्दर में परिणत कर पारिवारिक और सामाजिक आचार की सृष्टि की है। यह मनुष्य की संस्कृति है। प्रकृति का मात्र वह खिलौना नहीं है बल्कि उसकी अधीनता से बराबर ऊंचे उठते जाने की उसमें सामर्थ्य है। यही मनुष्य की विशेषता है। भोग्य पर अपने एकाधिकार का आग्रह पशु में प्रबल देखा जाता है, क्या इस पशुता का अवशिष्ट मनुष्य में सदा के लिए रहे ही चला जाएगा? नहीं, उसकी सामाजिक संस्थाएं भोग-विचार से ऊंची उठेंगी और यज्ञ के मूल्य को अपनी बुनियाद में स्वीकार करेंगी। विस्मय है कि इस परिवर्तन और परिणमन से आपको स्वेच्छाचारिता के फैलने का भय होता है। पर बात एकदम ठीक उल्टी है। उससे संयम, त्याग और यज्ञ के मूल्य को जीवन में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और स्वछंदता की जगह स्वच्छता का प्रवेश होगा। मनुष्य में उदारता आएगी और ईर्ष्या-द्वेष अनावश्यक हो आएंगे। आपसी विश्वास को प्रतिष्ठा मिलेगी और व्यभिचार भाषा तक से बहिष्कृत हो जाएगा।

विवाह क्या बुर्जुआ संस्था

क्या यज्ञ-मूलक विवाह की संस्था में से बहुपति प्रथा का जन्म नहीं होगा? प्रारंभ में तो संभव है कि एक ही मान्यता प्राप्त पति हो, पर बाद में संतान बहुलता के कारण आर्थिक भार इतना बढ़ जाएगा कि एक पति संभाल ही नहीं सकेगा। फिर दूसरी बात यह कि जब पहला पति इतना धन अर्जन न कर सके कि पूरे परिवार के लिये पर्याप्त हो तो वह उस पति को इसी आधार पर तलाक भी दे सकती है। और आर्थिक दबाव इसलिये अधिक बढ़ेगा कि संतति नियमन उनमें संभव नहीं।

—यह सब आशंकाएं निर्मूल हैं। विवाह के आधार को भोग से यज्ञ में बदलने से पति अनेक कैसे हो जाते हैं? भोग वृत्ति बढ़ कैसे सकती है? संतति एक साथ विपुल क्यों हो आएगी? सच पूछिये तो परिणाम आपकी शंका-आशंकाओं के प्रतिकूल ही आने वाला है। भोगाकांक्षा तब विकल न रहेगी। इसलिये वह स्वयं में एक मर्यादाशीलता का स्रोत बनेगी। सन्तति का भी प्रश्न सामाजिकता से अधिक युक्त होने से परेशानी का कारण न बनेगा। मैं मानता हूं कि सबसे बड़ी बात जो विवाह के आधार-भूत भाव के परिवर्तन से घटित होगी, वह है संग्रह वृत्ति का शमन। अभी तो उसकी हद नहीं है। तब परिवार-हित और समाज-हित में व्यवधान न रहेगा और शोषण-पूर्वक द्रव्य संग्रह करते जाने की तृष्णा का आधार मिट जाएगा। वर्तमान में परिवार भोग-वृत्ति का आधार रखने से अर्थासक्ति और संग्रहाग्रह का गढ़ बनता है। स्वत्व और संपत्ति की भावना विवाह की बुनियाद होती है और परिवार उसको मजबूत करता है। बच्चों को हम सजाते और अर्थार्जन के मान पर ऊंचा चढ़ाते हैं, उन्हें सेवाभावी नागरिक बनाने की ओर उतना ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं देते। यह सब विवाह के भोगाश्रय से हटने और जीवन में यज्ञ-मूल को स्वीकार करने से अनायास दूर होगा और अभीष्ट सम्पन्न होता दीखेगा। तब मानस में गाम्भीर्य आयेगा और पारस्परिक दायित्व की भावना बलवती होगी। आज तो विवाह की औपचारिकता को निबाहने और नीचे उससे बचकर भोग में भाग छूटने की वृत्ति आम बनी जा रही है। वहीं से अर्थमूल्य अनुपात से कहीं अधिक महत्व प्राप्त करते जा रहे हैं। उसने जीवन के वास्तविक मूल्यों को ऊलट-पुलट करके रख दिया है। चरित्र नहीं, पैसा मनुष्य का माप बन गया है। इस नैतिक और चारित्रिक प्रश्न को विवाह की विधि से अलग और दूर हटा हुआ नहीं मान लेना है। विवाह समूचे सामाजिक जीवन की रीढ़ है। उस धुरी पर लोक जीवन आश्रित है। वहां यदि भोग और स्वत्त्व और सम्पत्ति की प्रतिष्ठा और प्रधानता है तो सार्वजनीन जीवन में उससे दूसरा दृश्य कैसे दिखाई दे सकती है? आप मानते होंगे कि विवाह के वर्तमान रूप की रक्षा के नाते जो नैतिक पाबन्दियां हैं, उन पर बल देने से मर्यादाशीलता आएगी और व्यवस्था अधिक सुचारु होगी। पर अनुभव उल्टा परिणाम दिखला रहा है। जी नहीं, नैतिकता ऊपर से नहीं लाई और लादी जा सकती। वह तो परस्पर के विश्वास में से ही फलित होती है। स्वत्वाधिकार और भोगाधिकार पर खड़ा आज का विवाह संशय का सहारा लेता है और सुरक्षा की दुश्चिन्ता उपजाता है। यह धर्म-बुद्धि और नीति-भावना के पल्लवन के अनुकूल स्थिति नहीं है। नीति-भावना के अभ्युदय और विकास के लिए अनुकूल स्थिति वह होगी जहां विवाह की भूमिका में विश्वास होगा, जहां एक दूसरे का साथ रति-भोग और मौज-मजे के लिये न होगा बल्कि वह समाज-सेवा और धर्म-साधना का उपादान होगा। आज तो पत्नी को अगर संभव हो तो हीरे-सोने से लादने की होड़ है। यह सब भोगासक्ति के मूल्य की प्रतिष्ठा के कारण है। स्वस्थ और तटस्थ विवेक की दृष्टि से यह शौक असभ्य और अभद्र दीख आना चाहिए। शब्द चलता है, बुर्जुआ। विवाह को क्या बुर्जुआ संस्था ही रहने देना है, या उसे स्वत्व से अधिक स्वस्थ और समर्थ आधार देना है जिससे व्यापक समाज हित की राह की बाधक संस्था वहँ न रह जाए, बल्कि साधक बन आये। आज तो यह परिग्रह-शीलता और स्वार्थ-साधना का स्थापित दुर्ग है। उसकी सफलता येन-केन-प्रकारेण धन संग्रह में समझी जाती है। सारा समाज और सारी सभ्यता उसके कारण अर्थकेन्द्रित बन आई है। पर जीवन का केन्द्र अब अर्थनीति से धर्म नीति की तरफ मुड़ेगा। आज के हमारे मूल्य अर्थनैतिक हैं। वे स्वत्व और संपत्ति को पवित्र और मूल अधिकार ठहराते हैं। मानो मनुष्य का वह 'फन्डामेंटल राइट' है। 'राइट' वस्तु पर, वैसे ही विवाह द्वारा स्त्री पर। वह 'राइट' समाज द्वारा स्वीकृत और कानून द्वारा बलात् रक्षणीय बन जाता है। स्वत्वाधिकार की यह धारणा विकासमान समाज के लिये अब अधिक काल योग्य आधार का काम नहीं दे सकती। नैतिकता के विचार को ही आज जो हमने अर्थाधिष्ठान दे रखा है, सो ही सारी गड़बड़ है और अंधेर सा मचा है। आपको उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता के ढहने का डर होता दीखता है। पर जरा कुरेदने पर आप देखिएगा कि नैतिकता वह नैतिक है ही नहीं। भीतर उसमें अनीति भरी पड़ी है। नैतिकता के उस दुर्ग के तल में अर्थशोषण की प्रणालियां हैं जो भोगाधिकार को मानो क्रय-विक्रय की वस्तु-पदार्थ बना देती हैं। स्त्री भोग्य है, इसलिए पण्य भी है। स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक संबंध को विवाह की इस भोग-मूलक धारणा ने अर्थाश्रित करके उसे क्रय-विक्रय के बाजार में ला पटका है और व्यभिचरित बना दिया है। वह आचार कहां तो दिव्य हो सकता था, कहां उसे मोरी में पटककर कुत्सित और वीभत्स बना डाला गया है। क्या आप नहीं चाहेंगे कि उस संबंध को अर्थाश्रितता से मुक्त किया जाय और नारी नागरिक-धर्म और गृह-धर्म में अभिषिक्त हो, वेश्या बनने को विवश न हो। आपको अजब नहीं लगना चाहिए अगर मैं कहूं कि भोग्या पत्नी की रक्षा में ही अपभोग्या वेश्या को बनना पड़ जाता है। स्त्री-पुरुष के बीच भोग्यता की जगह दिव्यता को दीपित करना हो तो विवाह को भोगाचार से उठाइए, उसे यज्ञाचार और धर्माचार में प्रतिष्ठित कीजिए। तब समाज के चरित्र-प्रधान बनने की परिस्थिति उत्पन्न होगी और आज के यौनाचार के नाप से मनुष्य को नापने की अनैतिकता समाप्त हो जाएगी।

बहु पत्नी प्रथा

राजा दशरथ की तीन रानियां थीं और याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां। इसी तरह और भी हमारे धार्मिक ग्रंथों में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिससे पता लगता है कि प्राचीन भारत में बहु पत्नी प्रथा का रिवाज रहा होगा। कृष्ण के बारे में तो कहा जाता है कि उनकी सोलह हजार रानियां थीं। इस बहु पत्नी प्रथा के मूल में कौन-सी वृत्ति काम करती है? क्या यह समाज के लिए अहितकर ही नहीं है? मुसलमानों में अब भी कई पत्नी रखने का रिवाज है। उनका धर्म ग्रंथ भी इसके लिए इज़ाजत देता है। तो क्या धर्म भी इसके पक्ष में है कि एक पति कई पत्नी रख सके? और क्या ऐसा करना स्त्रियों के साथ अन्याय ही न होगा?

—स्त्री के हित का सवाल पुरुष अक्सर उठाया करता है। जैसे स्त्री स्वयं अपने हित को जान ही न सकती हो। स्त्री और पुरुष अपने-अपने अधिकार को लेकर स्वयं के लिए बने नहीं रह सकते, बीच में मैथुन की अनिवार्यता जो सृष्ट कर दी गई है। इस मिथुनत्व को फिर सामाजिक व्यवस्था, प्रथा और मर्यादा में बांधना आवश्यक होता गया है। अब धर्म वह नहीं है जो किसी स्थिति से जड़ित हो रहे, धर्म समग्र जीवन-क्रम और जीवन परिणति में व्याप्त रहता है। कहा जा सकता है कि मानव-जाति अपने विकास-क्रम में निसर्ग-प्राप्त अन्तर्वृत्तियों के साथ नाना प्रयोग करती आई है सो धर्म-निर्देश पर ही प्रयोग ये आगे भी चलेंगे। आज जिस एक-पत्नीत्व को समाज-धर्म के तौर पर अधिकतर देशों में स्थान मिला हुआ है, सो कृपया यह न समझ लीजिएगा कि एक यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह का रूप सदैव और सर्वत्र विहित रहने वाला है। पश्चिम की 'परिमिसिव' सोसायटी में विवाह की संस्था को उतनी गहरी नींव दिए रहना आवश्यक नहीं लगता है। अब यहां वह धर्म का नहीं, सुविधा का प्रश्न है। विवाह झट हो सकता और पट टूट सकता है। विवाहित अवस्था में भी विवाहेतर संबंधों को दर-गुजर, देखा-अनदेखा, कर दिया जाता है। विचार चल निकला है कि जो परस्पर भोग के आधिपत्य पर आश्रित हो, वह विवाह सम्पत्तिमूलक है, धर्मनिरपेक्ष है। हर विवाह में अधिकार गर्भित होता है। उस द्वारा जैसे दूसरे की पहरेदारी अपना दायित्व ही हो जाता है। इस विचार का आशय बनता है कि विवाह की व्यवस्था ही कृत्रिम है। अर्थात मातृत्व का दायित्व मां संभाले, पिता माने जाने वाले पुरुष या परिवार पर वह दायित्व क्यों पड़ना चाहिए? परिवार में सिमट आने के कारण अधिकांश बच्चों का लालन-पालन विज्ञानपूर्वक और स्वच्छ रीति पर नहीं हो पाता। यदि वह व्यवस्था पारिवारिक की जगह सार्वजनिक हो तो पारिवारिक प्रतिस्पर्धामूलक अर्थ-रचना और समाज-रचना भी अनावश्यक हो आए और बहुतेरी भौतिक समस्याएं कट जाएं। इस विचार के अनंतर इस दिशा में प्रयोग भी चल निकले हैं और स्त्री-पुरुष के बीच आधिपत्य अथवा वर्जन के भाव की विवाह के नाम पर जो स्थापना हो जाती थी, उसको हटा दिया गया है। हर स्त्री-पुरुष इच्छा के साथ एक दूसरे के हो सकते हैं। यह मिलन कुछ परिशिष्ट नहीं छोड़ता, इसीलिए सर्वथा मुक्त आनन्द का होने के कारण भरपूर रह सकता है। विवाह जो प्रेम में एक विवशता और जड़ता पैदा कर आता है, सो असह्य हो जाना चाहिए।

मिथुन की सुविधा-व्यवस्था का इसे सबसे अग्रगामी और अर्वाचीन प्रयोग माना जा सकता है। क्या इसके सामने कृष्ण की कितनी भी रानियों की कल्पना ओछी नहीं रह जाती। एक पत्नीत्व की प्रथा सुसंस्कृत और मर्यादामूलक मानी जाती रही है। पर विवाह के साथ ही साथ क्या व्यभिचार शब्द का बन आना भी आवश्यक नहीं हो गया? आवश्यक इसलिए हुआ कि व्यवस्था यह सामाजिक है, धर्म में ज्यों की त्यों अन्तर्निहित नहीं है। व्यभिचार शब्द द्योतक है कि वृत्ति एक में तुष्ट या तृप्त नहीं होती। प्रेम किन्हीं दो में बन्द या समाप्त नहीं हो जाता। और यह निसर्गता नाना प्रकार से अभिव्यक्त और संक्रमित होती चली आयी है। विवाह से आगे संयम की कल्पना ब्रह्मचर्य तक भी गई है। यह सब संयम-साधना का क्रम धर्म में उत्कर्ष-क्रम के रूप में स्थान पाता है। किन्तु धर्म निकृष्ट और निम्न को भी अपने विचार से बाहर नहीं कर सकता। अरब में पत्नियों की संख्या पर सीमा नहीं थी। मुहम्मद साहब ने चार की सीमा लगा दी। निश्चय ही धर्म-भावना की दृष्टि से यह प्रबल प्रगति का पग था। एक पत्नीत्व की अपेक्षा में लोगों को अब चाहे तो इसमें अधर्म भी दीख आता है। कई मुस्लिम देशों ने अपने यहां कानून से एक पत्नीत्व लागू कर दिया है। इस्लामी होकर भी इस्लाम में यह इस्लाह उन देशों को गलत नहीं मालूम हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सबका आशय यह कि धर्म के नाम पर हम सहसा किसी का फैसला न कर डालें। निश्चय ही बहु-पत्नीत्व प्रथा पहले यहां थी और अन्यान्य समाजों में भी रही होगी। बहु-पत्नी के साथ बहु-पति-परंपरा भी रही और अब तक है। यह प्रथाएं व्यवस्था की सुविधा की दृष्टि से बनती हैं और उन पर क्षेत्र और जलवायु आदि का प्रभाव पड़ता है। फिर नाना प्रकार की विशिष्टताएं हैं जो विशिष्ट वर्ग को समाज में सुख-सुविधा का अधिकारी बना देती और शेष को उनसे वंचित कर देती हैं। भोग को सच मानें तो स्त्री, धन से अधिक, जय-विजय की चीज हो आती है। धन बटोरने की तरह स्त्रियां बटोरने की स्पर्धा को भी फिर क्यों महिमा का स्थान नहीं मिल सकता?

भोग के विरोध में अध्यात्म के नाम पर साधना खड़ी हुई, जिसने भोग्य में घृण्य का भाव पैदा करने का बीड़ा उठाया। शायद यह वैराग्य-प्रेरणा समाज में व्यवस्था संतुलन लाने की दृष्टि से ही उपजी होगी। हुआ यह कि भोग-लिप्सा और घृणा-साधना एक ही सभ्यता में नहीं प्रत्युत एक ही व्यक्ति में, साथ-साथ पलती चली गईं।

इस विस्तार से आप समझ सकते हैं कि स्त्री-पुरुष के बीच जो आकर्षण अनिवार्य और अमोघ होकर चराचर जगत में व्याप्त है, उसके साथ निरन्तर प्रयोग होते रहे हैं, ताकि इस आकर्षण में से उद्भूत ऊर्जा का उपयोग होता रहे और परस्पर संबंधों में एक प्रकार की व्यवस्था बनी रहे। व्यवस्था का यह प्रश्न मानव के साथ ही आरंभ हुआ। मैथुन तो इससे पूर्व प्राणी-जगत में था ही, पर वह आपसी चीर-फाड़ चाहे पैदा करता हो, समस्या पैदा नहीं करता था। पशु-प्राणी जंगल में रह लेता और अपने सजातियों के साथ लड़ता-भिड़ता गोल और झुंड बनाकर काम चला लेता है। आदमी उससे हीनतर है और उसे समाज की आवश्यकता होती है। इसी में आज बेचारे को एक पति-पत्नी की ताकीद में रहकर पशु-जीवन को ईर्ष्या से ताकना पड़ जाता है। पीढ़ी को तो यम-नियम इतने वृथा लग आए हैं कि वह पशु के साथ होड़ में ही उतर आने को तैयार है। पर होड़ उसे सधेगी नहीं। एक बार आदमी बनने के बाद लाख चेष्टा पर भी वापस फिर जानवर उससे बना नहीं जा सकेगा। वे प्रयत्न उसमें जल्दी ऐसी ऊब पैदा कर देंगे कि मुझे डर है कि यह सदी बीतते-न-बीतते कहीं कठोर एकाकिता और ब्रह्मचारिता की व्यवस्था और उसका आग्रह फिर न आरंभ हो जाए।

❑

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

11. घर-बाहर

- आधुनिक नारी ?
- नारी की महत्वाकांक्षा
- ब्रह्मचर्य और रोमांस
- पूरे मनुष्य की खोज
- महायुद्ध असम्भव
- स्त्री का पुरुषार्थ
- घर छोटा नहीं है
- जन (संख्या)
- बेकारी

दो वृत्त : घर और बाहर

भारत में नारियों की वर्तमान स्थिति से क्या आप असंतुष्ट हैं ?

—संतोष का मैं कायल ही नहीं हूं। वस्तु के संबंध में संतोष रखना उचित हो सकता है, स्थिति कोई ऐसी नहीं हो सकती जिससे संतोष रखा जा सके। तब तो यथास्थिति में गति और प्रगति की संभावना ही नष्ट हो जाएगी।

लेकिन विदेश मैंने काफी देखे हैं। वहां जो स्त्री की स्थिति प्रतीत हुई वह मुझे अधिक चिन्तनीय लगती है।

शहरी और देहाती स्त्री

भारत में भी दो स्पष्ट भाग हैं। शहरी भारत की स्त्री और देहात की स्त्री के रंग-ढंग में बहुत फर्क है। शहर तो पश्चिम से रंगा जा रहा है। देहात रूढ़ परंपरा से अभी जुड़ा है। इन दोनों वर्गों के बारे में एक फैसला नहीं हो सकता।

एक मुख्य मुद्दा है आर्थिक स्वतंत्रता का। नारी के हक में इस स्वतंत्रता के स्व-भाव को भारी त्रुटि माना जाता है। शहर में तो काम करने और कमाने वाली नारियों की संख्या कम नहीं है, काफी अधिक उनमें कुमारियों का प्रतिशत होगा। उससे उनको कुछ सुविधा हो जाती हो, पर सामाजिक समस्या भी बन आती है।

भारत की परंपरा में यह लगभग नहीं है कि स्त्री भी बाहर काम करके कमाए। काम का निषेध नहीं है, वहां वह पति की हर तरह सहायिका हो सकती है। लेकिन उस काम में वहां कमाई की नीयत का भाव नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक स्वतंत्रता की मांग

मैं इस आर्थिक स्वतंत्रता की चाह को, उसकी मांग को, कुल मिलाकर श्रेयस्कर नहीं मानता हूं। इसमें से जो संबंध बनता है उससे एकमेकता और तदनुकूल परस्पर घनिष्टता और निर्भरता का निर्माण नहीं हो पाता। स्त्री-पुरुष के बीच स्नेह भावना की जगह हिसाबी बुद्धि आ जाए तो जीवन-लाभ की दृष्टि से इसे मैं कोई उन्नति नहीं कह सकूंगा।

कुछ दिन हुए चेकोस्लोवाकिया के दो ख्यात लेखक यहां आए थे। मुझे अचरज हुआ जब उन्होंने बताया कि स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता का आग्रह वहां टूट रहा है। स्त्रियां ही अनुभव करती जा रही हैं कि उनके पक्ष में यह बेहद घाटे की बात है। अगर पहले पुरुष की दासता थी तो आर्थिक स्वतंत्रता के प्रयोग से उन्होंने देखा कि वह दासता कटी नहीं है, बल्कि दुहरी हो गई है। घर-परिवार का काम तो रहता ही है। नौकर की समस्या विकट है और वह जीव उत्तरोत्तर दुर्लभ हो गया है। तब कमाई के लिए दिन भर तो बाहर जाकर काम कीजिए और लौटकर फिर घर के काम में खटिए। कमाई के नाम पर यह तो डबल चाकरी हमारे मत्थे पड़ गई है। उन्होंने बताया कि स्त्रियां वहां देख आई हैं कि आर्थिक स्वतंत्रता का विचार एक फरेब था और वे उस फंदे में अब नहीं पड़ेंगी। यह उस देश के नए तौर पर रूस की अधीनता में आने से पहले की बात कह रहा हूं। उन लेखकों ने कहा था कि वहां की स्त्रियां अब तय कर रही हैं कि हम दोहरी चाकरी के फेर से बचकर घर की रानी बनकर रहेंगी।

मुसीबत की जड़

भारत के शहरों में शायद यह आर्थिक अधीनता पराधीनता और मुसीबत की जड़ मानी जाती हो। आज का शिक्षित समझ लेता हो कि ऐसे स्त्री संपत्ति बन जाती है और उसमें व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। व्यक्तित्व का यह सिद्धांत और विज्ञान नया ही नया पनपा है, शायद इसके लिए भारतीय जीवन में उतनी जगह न थी। धर्म के साथ, और धर्म के लिए, जीने का आदेश था। धर्म के अतिरिक्त भी परस्परता और सामाजिकता के क्षेत्र में अपने किसी अलग व्यक्तित्व का प्रश्न उपस्थित नहीं होता था। पति को देवता से आगे ईश्वर तक मान लेने की रूढ़ि थी। अर्थात् व्यक्तित्व को अपने अलग से उभारने की जगह समा और मिटा दिया जाए, इस आधार पर विवाह और परिवार की यहां की रचना थी। बहुत अंश तक वह परंपरा अब तक चली आ रही थी। मैं इस आधार को सर्वथा अनिष्ट नहीं कह सकता हूं।

जीवन की प्रगति के दबाव में परिवर्तन अभीष्ट हैं, और वे परिवर्तन हुए बिना न रहेंगे। पर अलग व्यक्तित्व और अलग स्वतंत्रता की धारणा अपने आप में किसी ऊंचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशय की सूचक नहीं है। पर आधुनिक औद्योगिक-आर्थिक प्रगति ने लगभग उसी प्रकार की पृथक व्यक्तित्व की अस्मिताओं को उत्तेजन दिया है। आदमी आदमी से अलग, पुरुष स्त्री से अलग, और सब आपस में अलग-अलग। और इस अलगपन को थामकर एकत्रता जुटाने वाला निमित्त पैसे का हिसाब और कानूनी दस्तावेज़! परिणाम यह हो आया है कि प्रकृतिगत स्नेह के कारण एक दूसरे की ओर कितना भी खिंचता हो, पर अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की आसक्ति में वह एक दूसरे से अपनी सुरक्षा का ध्यान भी उतना ही रखता है। इसमें परस्परता और एकता का पट झीना बनता और समाज में अस्थिरता और असुरक्षा की भीति बढ़ती है।

पश्चिम की नकल : निराशाजनक परिणति

इस दृष्टि से भारत में नारी की स्थिति को और देशों से मैं हेठी नहीं मानता, बल्कि कुछ अधिक सही और स्वस्थ ही मानता हूं। हां शहर में समस्या बढ़ रही है और वहां स्त्री अधिक खुली और हैरान है। उसे बंधन प्रिय नहीं है, लेकिन साथ ही निरे अपनेपन को लेकर वह भीड़ में भी एक विरानापन अनुभव करती होगी। आसक्ति और आकर्षण को भीतर दुबकाए रखकर वह जीए चली जाती है और अपने को भूले रखने के लिए साधनों का सहारा लेने को विवश होती है। पर कब तक? अंत में उसको लगने लगता है कि जिसको उसने बंधन समझा था, वह शायद हितकारी स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है। अपने व्यक्तित्व के मोह में कमाया गया निपटपन कोई लब्धि-उपलब्धि सिद्ध नहीं हो रहा है, सिर्फ रिक्तता और व्यर्थता को अनुभूति छोड़ गया है। जिस पश्चिम की चमक और नकल में वह इस दिशा में बढ़ती आई है उसकी चरम परिणति वहां गहन हताशा और निराशा के रूप में घटित होती देखी जा सकती है।

ग्रामीण नारी यदि विपन्न तो कारण अर्थव्यवस्था

मानना होगा कि अर्थाभाव को लेकर भारतीय, विशेषकर ग्रामीण परिवार बेहद विपन्न है। पुरुष नशे में अपने लिए त्राण खोज सकता है, लेकिन नारी बिलखते बच्चों को लेकर कहां जाए? किन्तु यह प्रश्न नारी अथवा उसकी स्थिति का नहीं है, कुल की कुल अर्थ-व्यवस्था का ही है। उसका निदान दूसरे स्तर पर खोजना होगा।

अर्थोपार्जन में सहयोग

किंतु नारी भी अर्थोपार्जन में सहायक बने तो पारिवारिक अर्थव्यवस्था तो ठीक रहती ही है, जो दूसरा बड़ा लाभ होता है वह यह कि वह स्वावलम्बी बन जाती है और आपद-विपद के समय उसका यह स्वावलम्बन उसके लिए बड़ा सहारा होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह करने के बाद पुरुष ही क्यों पूरे परिवार का बोझ उठाए। स्त्री क्यों नहीं हाथ बटाए? आखिर है तो वह उसकी सहभागी? फिर अर्थोपार्जन से नारी को विरत क्यों रखा जाए?

—परिवार का ध्यान स्वतंत्रता के विचार से अलग है। पहले में दायित्वशीलता है, दूसरे में दायित्व से छुटकारा है।

सिक्के की बहुलता से चीजों के भाव बहुत ऊंचे चढ़ गए हैं। आज की महंगाई में तो साधारण गृहस्थी का हर बालिग सदस्य कमाई में कुछ योग दे तो भी खर्च मुश्किल से ही निभ पाता है। सामाजिक मान प्रतिष्ठा का प्रश्न स्थिति को और उलझा देता है, इतना कि भ्रष्टाचार मानो आवश्यक ही हो जाता है। पर पत्नी के या बेटी के पारिवारिक आय की बढ़ती में योग देने की बात कुछ दूसरे तल की हो आती है। वहां अलग अपने व्यक्तित्व के निर्माण का प्रश्न नहीं होता, बल्कि पारिवारिक एकजुटता के निर्वाह में अपने योगदान का प्रश्न हो आता है। अर्थात् इन दोनों जगह अर्थोपार्जन की भूमिका भिन्न है। आज की इस विकट अर्थ-रचना और समाज-रचना में घर की महिलाएं भी विवश होकर अगर अर्थोपार्जन में योग दें, तो इसमें बुराई की बात नहीं है। गृहस्थी को चलाने का समान बल्कि अधिक दायित्व स्त्री पर आता है। स्त्रियां सदा से पति या पिता के काम में योग देती आयी हैं। लेकिन यह योग 'स्वतंत्र' नौकरी का न होकर, सीधी सहायता और सहयोग का होता था। अर्थात् लोगों के पास अपना-अपना काम-धंधा हुआ करता था और उसमें परिवार हाथ बंटाता था। ऐसे सहायता के अतिरिक्त उस धंधे में बच्चों का शिक्षण भी अनायास आ जाता था। वह क्रम इसलिए टूट गया है कि अब सहायता-सहयोग की मांग नहीं है, मांग सिक्के की है। यह स्थिति स्वयं अपनी समीक्षा है और मैं मानता हूं कि घर की महिलाओं को घर के काम में योग देने और इस तरह गृहपति पुरुष को यथासंभव सहायता पहुंचाने की परिस्थिति फिर से बननी चाहिए। गृह-पत्नी का दायित्व कम नहीं होता है। उसको बाहर नौकरानी भी बनना पड़े तो इसको सुखद स्थिति नहीं कहा जा सकेगा।

पर वह प्रश्न भिन्न है। जिस पर मेरा बल है वह यह कि व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की धारणा के आधार पर जो गति और प्रगति हो रही है उसमें समाज पट के तंतु क्षीण होते हैं और हार्दिकता का मूल्य घटता है। औद्योगिक, वैज्ञानिक और आर्थिक कर्मण्यता के तले बौद्धिकता पैनी होती जा रही है और हार्दिकता कुन्द और मंद बन रही है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच पैसा ही यदि संबंध का नियमन और निर्माण करता है तो स्त्री का सहयोगिनी और सहचारिणी का रूप गौण पड़ता और क्रीता और भोग्या का रूप उभरने लगता है। आज स्त्री जिन देशों में प्रधान मंत्रित्व के पद पर विद्यमान हैं वे वर्तमान-सभ्यता के उन्नत देश नहीं गिने जाते हैं। भारत, लंका और इजरायल में ही यह संभव हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सका है। इसके कारणों में हम उतरें तो देखेंगे कि वहां नारी के पण्य पदार्थ बनने की परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई है। जिन अति सम्पन्न देशों में स्त्री प्रमुखता से भोगोपकरण बन आयी है, वहां नारी के समाज-व्यवस्था के शीर्ष तक जा पहुंचने की संभावना ही कैसे हो सकती है। खुली आर्थिक प्रतिस्पर्धा में स्त्री को उतरना पड़ता है तो इसमें सदा के लिए उसकी हीनता प्रतिष्ठित हो जाती है। फिर उनका दाम लगता है और मानो वह नीलाम पर चढ़ आती है। स्त्री कुछ उसमें अपने को भूल आए, यह दूसरी बात है। पर इस पद्धति में कोई गहरा आत्म-लाभ उसके लिए असाध्य हो जाता है।

अंतःपुर की सम्राज्ञी

मैं इसको दुर्भाग्य नहीं मानता कि भारत में स्त्री पुरुष की प्रतियोगी और समकक्ष नहीं है, बल्कि सहयोगिनी और सहधर्मिणी है। इसमें यदि तनिक अनुवर्तिनी होना भी समाया हो तो मैं इसमें कोई अनौचित्य नहीं देखता हूं। अंतःपुर की सम्राज्ञी होने के मूल्य में उसको बाहरी और बड़े वृत्त की जोखम और जिम्मेदारी पुरुष के सुपुर्द हो जाती हो तो स्त्री इसमें कुछ खोती नहीं है, बल्कि सही देखें तो वह अतिरिक्त पाती ही है। यह भी वह न सोचे कि इस प्रकार सार्वजनिकता में उसका कोई योग नहीं हो पाता। पुरुष के द्वारा जो उस सार्वजनिकता को प्राप्त होता है, निश्चय ही अर्द्धांगिनी का उसमें आधे से कम नहीं प्रत्युत अधिक ही भाग होता है। महापुरुष शायद ही कोई हो जिसकी महापुरुषता में पत्नी का भी समान योग न देखा जा सकता हो। इसलिए भारतीय सभ्यता में यदि स्त्री का प्रमुख स्थान घर-गृहस्थी है तो इसमें कुछ अनुपयुक्तता नहीं है। किंतु यह स्पष्ट है कि घर-गृहस्थी वाला उसका स्वधर्म ईश्वरार्पण के सामान्य एवं परम धर्म के अंतर्गत ही है। उस पर वह छा नहीं सकता है, न उसको किसी तरह की ओट में ओझल होने दे सकता है। मानना होगा कि रूढ़ होकर घर-परिवार बहुत अंश तक उसके लिए चहारदीवारी भी बन गया था। स्त्री की संभावनाएं उसके भीतर अवरुद्ध और कुण्ठित हो चली थीं। पर वह भारतीय आर्य दृष्टि को अभीष्ट न था और पातिव्रत्य और गार्हस्थ्य बड़े जीवन एवं नागरिक धर्म के उपवृत्त ही थे, वे कोई स्वतंत्र वृत्त न थे।

आज सोशलिज्म शब्द की काफी गूंज है। विस्मय न मानिए कि उसी मात्रा में नीचे 'इडिविज्वलिज्म' और 'पर्सनलिज्म' का चलन है। तब समाजवाद का प्रश्न ही न था। कारण कहीं पृथक व्यक्तित्व का अवलम्बन भी न था। अर्थात् परस्परता के द्वारा सामाजिकता का स्वयमेव और अनायास निर्वाह होता जाता था।

शिक्षा प्राप्त स्त्रियों का उपयोग और शिक्षित वर्ग का भ्रम

तो आप यह मानते हैं कि स्त्रियों को बाहर काम नहीं करना चाहिए। घर का क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही उनके लिए पर्याप्त है और इसी में उनका कल्याण है। लेकिन प्रश्न यह है कि जो स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, क्या उनके लिए चौका-बासन करना, घर में बच्चों की साज-संहाल रखना ही अभीष्ट होगा? यह काम तो एक मामूली नौकरानी का है और उसे अगर थोड़ा प्रशिक्षित कर दिया जाए तो इन कामों को वह बड़े मजे में कर लेती है। तो उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों का उपयोग कहां रहा?

—अर्थात् आप शिक्षा और श्रम के दो खाने बनाए रखना चाहते हैं। क्या आप सचमुच चाहते हैं कि नौकरानी-नौकरानी ही रहे, और एक उच्च श्रेणी हो जो उनके श्रम के ऊपर बैठने को रह जाए। यही तो आज का संकट है और शिक्षित वर्ग के इस दंभ और भ्रम को तोड़ने की जरूरत है कि जो आज किसी तरह धन से और साक्षरता से विहीन रह गया है वह निम्न और तुच्छ है। जरूरी है कि इस माने गए निम्न वर्ग की संभावनाएं जगने और खिलने में आएं। वह दर्प जो उनको हीनता देता और अपमानित करता है गिरे और अंत में कुल मिलाकर समाज में समता और सद्भाव का प्रसार हो सके।

मैं नहीं जानता कि उच्च शिक्षा पाने के बाद स्त्री को घर के काम-धाम के लिए क्यों अपात्र और अक्षम बन जाना चाहिए। क्यों यह स्थिति होनी चाहिए कि मजूरी देकर घर के लिए वह कोई नौकरानी रखे। अगर कोई सचमुच शिक्षित है तो सफाई-धुलाई के काम में भी उस शिक्षा की झलक आ सकती है और घर को अधिक स्वच्छ, सुघड़ और सुख-प्रद बनाया जा सकता है।

फिर शिक्षा के उपयोग का अवसर घर में या आस-पास नहीं है, यह किसने कहा। बच्चे बोलना सीखने से पहले भी संस्कार प्राप्त करने लगते हैं, उनके सीखने का आरंभ जन्म-दिन से ही हो जाता है। नौकरानी के पल्ले डालकर क्या शिशु के साथ अन्याय ही नहीं किया जाता? शिक्षित माता की सेवा से जो उन्हें अनिवार्यतया प्राप्त होगा, क्या मजूरी पर काम करने वाली आया से वह मिल जाएगा?

सार्वजनिकता पुरुषों के हाथ आकर राजनीतिक

यह सच है कि अगर घर है तो बाहर भी कुछ है। ये दो वृत्त हैं और अलग-अलग भी हैं। घर के वृत्त की जिम्मेदारी यदि स्त्री संभालती और बाहर का बोझ पुरुष के कंधों आता है, तो इसमें मैं कोई अयुक्तता नहीं देखता हूं। किंतु उससे क्या अंतर्वृत पर पुरुष के प्रवेश का निषेध लग जाता है? इसी तरह बहिर्वृत्त भी स्त्री के लिए अगम नहीं रहता, न रहना चाहिए। किंतु उसमें कारण धर्म प्रेरणा होनी चाहिए। धर्म-कर्म का निमित्त हो उस पर बंदिश या बाधा नहीं डाली जा सकती। आखिर घर वही तो है जिसमें द्वार होता है। द्वार न हो, या वहां ताला हो, तब तो वह कारागर ही हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानिए। उस द्वार का उपयोग स्त्री के लिए निषिद्ध नहीं है। किंतु बाहर के साथ स्त्री का कमाई का संबंध घर के दायित्व के प्रति पूरी तरह संगत और न्याय-युक्त नहीं रह जाएगा। आर्थिक परिस्थितियों की विवशता ही यदि ऐसी हो तो वह दूसरा प्रश्न है। उस प्रश्न का हल वैयक्तिक या पारिवारिक दायरे में जैसे भी हो कर लेना उचित और समर्थनीय है। कारण, सामान्य प्रश्न बड़े संदर्भ में से उत्पन्न होता है और सही निराकरण उसका उसी व्यापक स्तर से प्राप्त किया जा सकता है। वह समूची सामाजिक और आर्थिक संरचना का प्रश्न है। निश्चय ही परिवार की ओछी आय में सहायक होने के लिए यदि पत्नी, मां या कन्या को कमाई के लिए बाहर आना हो तो उसमें दोष नहीं देखा जा सकता। दोष देखा ही जाए, तो वह समाज व्यवस्था का है। पर सच यह है कि पढ़ने-लिखने के बाद पुरुष से भी अधिक स्त्री की निगाह बस किसी 'जॉब' पर जाकर पड़ती है। आस-पास के लिए अपनी सेवा-परायणता से, या छोटी-मोटी दस्तकारी या हुनर से वह कितनी उपयोगी हो सकती है, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। कई जगह स्त्रियों ने मिल-जुलकर गृहोद्योग आरंभ किए हैं और उनका अच्छा नतीजा आया है। खाने-पीने की चीजें बाहर मिलावट की मिलती हैं, स्त्रियां आपसी सहयोग से इस काम को उठा सकतीं और समाज की मूलगामी सेवा निबाह सकती है। शिक्षा प्राप्त स्त्रियां बिना अर्थलोभ के अगर पास-पड़ोस के छोटे बच्चों को घर के काम से बचा फुर्सत का समय देने की सोचें तो उनकी शिक्षा का भरपूर लाभ उनको और सबको मिल सकता है। इस ओर हमारी शिक्षिता बहिन का शायद ही कभी ध्यान जाता होगा। अधिकांश आर्थिक स्वतंत्रता का विचार उन्हें अपना समय बेचकर नौकरी के जरिए पैसा कमाने की ओर ढकेल देता है। यह व्यक्तित्व की और अर्थ की स्वतंत्रता का विचार बहुत ही फालतू है और इसमें से सामंजस्य नहीं फलित होता अहंता को ही धार मिलती है। अहंता की वह ग्रंथि स्फीत होने पर विवाह का संबंध सहज नहीं हो पाता और इससे सुशिक्षित परिवारों में तनाव, ऊब और अनबन का वातावरण देखा जाता है। बाहर के क्षेत्र में सेवा-धर्म के नाते स्त्री की मांग है और यदि सार्वजनिकता का समीचीन विकास होना हो तो स्त्री का उसमें समान भाग होना जरूरी है। केवल पुरुषों के हाथ में पड़कर सार्वजनिकता आवश्यकता से अधिक राजनीतिक हो जाती है, तब उसमें दंद-फंद का बाहुल्य हो चलता है। सार्वजनिक जीवन में मानवता और स्निग्धता रहे, इसके लिए वहां स्त्री की उपस्थिति ही नहीं बल्कि उसकी कर्मशीलता का योग भी चाहिए। पुरुष बुद्धि-तर्क आदि के बल से हलन-चलन और गति-ताप पैदा करता है, तो स्त्री उसमें कुछ स्थिरता, स्निग्धता और दाक्षिण्य का स्पर्श भी सुलभ कर आ सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज और परिवार : स्त्री का पुरुषार्थ

लेकिन ऐसे किसी बाह्य वृत्त की मैं कल्पना नहीं कर सकता जहां केवल समाज है, समाज का वाद है, पर भीतर उसके परिवार आदि की संगति ही नहीं है। बिना परिवार के घटक के किसी व्यवस्थित समाज को मैं धारणा में नहीं ला पाता हूं। फौजें बैरक में रह सकती हैं किंतु अलग-अलग बैरकों में स्त्री-पुरुष रहें और बीच में आपसी विवाह न होकर पूरा समाजवाद रहे तो वैसी किसी व्यवस्था का चित्र मेरे मन में बन नहीं पाता। स्त्री-पुरुषों के सामूहिक संबंध और रहन-सहन के प्रयोग जहां-तहां हुए और हो रहे सुनता हूं। पर कहीं उनसे उत्तम फल प्राप्त हुआ है, अभी तक यह जानने में नहीं आया। इसलिए घर-परिवार के अंतर्वृत को युक्त और व्यवस्थित रहना है तो इसका दायित्व किसी न किसी पर आएगा। स्त्री यदि उस दायित्व के लिए उपयुक्त ठहरती है तो इसमें उसकी पात्रता और योग्यता का पुरस्कार और पुरुषार्थ ही है, कोई लघुता-हीनता का भाव नहीं।

लोक जीवन में नारी का स्थान नाभि केन्द्रीय

जो स्त्रियां महत्वाकांक्षी हैं, जिनमें प्रतिभा और दृढ़ संकल्प है क्या उन्हें भी आप बाहर काम न करने की सलाह देंगे? वे अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सामाजिक और राजनैतिक कामों में भाग लेना चाहती हैं। इससे यह तो होगा कि घर के काम गौण बन जाएंगे और बाहरी काम प्रमुख। वह भी सम्भव है कि उसकी महत्वाकांक्षा को लेकर घर में कुछ कलह-क्लेश भी हो। तो फिर क्या वे अपनी महत्वाकांक्षाओं को समेट लें और अपनी प्रतिभाओं को कुण्ठित होने दें?

—महत्वाकांक्षा छलना है। वह आदमी को असामाजिक बनने तक ले जा सकती है। महत्वाकांक्षा यदि मूलत: सामाजिक और नैतिक है तो सेवा के क्षेत्र में भी उसके लिए भरपूर अवकाश है। स्त्री को घर में बंद रहना तो नहीं है, लेकिन बाहर की वेदी पर यदि स्त्री घर को स्वाहा होने देती है तो उसे देखना चाहिए कि ऐसे समाज बनता नहीं, छिन्न-भिन्न ही होता है। न बाहर कोई सार्वजनिक प्रगति होती है, बल्कि दुर्गति ही व्यापती है। स्त्री की हर प्रतिभा और क्षमता के लिए उपयोग का अवकाश है। किन्तु व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, हो सकता है, उससे उसके स्त्रीत्व का ही हरण करले और उसमें एक तरह की परुषता और कर्कशता ले आए। स्त्रीत्व को खोकर स्त्री अपनी सही सार्थकता कभी प्राप्त नहीं कर सकेगी। प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति स्वभावत: उसका क्षेत्र नहीं होना चाहिए। रचनात्मकता में अवश्य स्त्री का स्थान है, और प्रमुख स्थान है। वह रचनात्मक प्रवृत्ति स्त्री को ऊंचे और व्यापक क्षेत्र और स्तर तक भी ले जा सकती है और इसमें कोई अनैतिकता नहीं है। पर नगर, प्रदेश, राज्य का कोई भी बड़े से बड़ा दायित्व अगर उसे घर-गृहस्थी के निर्वाह और उत्तरदायित्व से विमुख बनाता है तो कहीं न कहीं भूल है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

और उससे व्यक्तित्व में भीतर एक दरार पड़ जा सकती है। व्यक्तित्व की समग्रता और सार्थकता यदि स्त्री को प्राप्त करनी हो तो घर को केन्द्र मान लेना है, फिर चाहे उसकी परिधि विश्व तक क्यों न बढ़ने दिया जाय। कारण केन्द्र से च्युत होकर निजी महत्वाकांक्षा के वश जो दौड़-धूप की जायगी उसमें अन्त में कोई धन्यता या भराव का अनुभव आएगा इसमें संशय है। अधिकांश संभव है कि अन्त में एक वीरानगी, व्यर्थता और रिक्तता घिर आए। विशेषकर स्त्री के लिए परस्परता के माध्यम से चलना और बढ़ना श्रेयस्कर होगा। पुरुष युद्धोन्मुख होकर रह और चल सकता है। यह भी तब जब कहीं पीछे स्त्री का उसे सहारा हो। पर आधारभूत स्त्री ही यदि अपनी भूमिका को छोड़ दे तो फिर बच क्या जाता है? खेल में यदि मनुष्य को फारवर्ड खेलना है तो उसका दारोमदार पीछे खेलने वाले हाफ बैक और फुल बैक पर होता है। फुल बैक का स्थान किसी भी तरह फारवर्ड से कम नहीं माना जा सकता। असल में देखें तो वही स्थान अधिक महत्व और दायित्व का हुआ करता है। आगे बढ़े दीखने की लालसा फुल बैक में भी होने लगे तो खेल कच्चा पड़ेगा और पराजय का मुंह देखना होगा। यह यदि आप याद रख सकें तो घर में स्त्री की प्रतिभा और क्षमता के अनुपयोग का प्रश्न आपके मन में नहीं रह जाएगा।

नारी किसी हाथ की कठपुतली न हो

आज के लोगों का यह अनुभव है कि अगर पुरुष के साथ स्त्री को भी काम पर रखा जाय तो काम अच्छा होता है और कार्यकर्त्ताओं में काम के प्रति दिलचस्पी बनी रहती है। इसीलिए आज अधिकांश प्रतिष्ठानों में चाहे वह सरकारी हों या गैर सरकारी, स्त्रियों की नियुक्ति जान-बूझकर की जाती है। नियुक्ति में इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि स्त्री आकर्षक और चुस्त हो। क्या यह आधुनिक फैशन नारी के पक्ष में अहितकर होगा?

—कुछ काम निश्चय ही ऐसे हैं जिनके लिए स्त्री को अधिक उपयुक्त माना जा सकता है। नर्स, रिसेप्शनिस्ट, एअरहोस्टेस् आदि। उन कार्यों को स्त्री की उपयोगिता से वंचित करने का कोई कारण नहीं है। लेकिन देखना होगा कि उन कर्त्तव्यों का घर-गृहस्थी के स्वधर्म से योग कैसे बिठाया जा सकता है। मुझे प्रतीत होता है कि इस सभ्यता ने कुछ फालतू की चीजें पैदा कर दी हैं जहां सांस्कृतिक कार्यक्रम के रूप में नृत्य आदि के बहाने स्त्री का प्रदर्शन मात्र होता है। नृत्य-क्रीड़ा का जीवन में स्थान है और निःसंशय स्त्री का उसमें प्रमुख भाग है। पर आज के कैबरे, बैले, आपेरा इत्यादि में बहुत कृत्रिमता है। यदि प्रकृत और अकृत्रिम पार्श्वभूमि पर यह नृत्याभिनय इत्यादि हों तो उनकी शोभा बढ़ेगी, रस वर्धन भी होगा। तब वह जीवन-संदर्भ के साथ संयुक्त और उपयुक्त होगा। अभी जो स्त्री को व्यवसाय का उपकरण बनाकर सामने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाया जा रहा है, उसमें स्त्री के साथ, उसकी भावनाओं और संभावनाओं के साथ भारी अन्याय होता है। उस पद्धति से स्त्री को सामाजिकता और नागरिकता से च्युत करके मानो उपभोग्य और क्र: पदार्थ बना डाला जाता है। मैं समझता हूं कि इसमें स्त्री से समाज को जितना कुछ मूल्यवान प्राप्त हो सकता है उसका शतांश भी नहीं मिलता और कुल मिलाकर मानव जाति बेहद घाटे में रह जाती है। स्त्री को नृत्यांगना और वार-वनिता बनाकर हम अपने को विहीन और वंचित ही करते हैं। जीवित प्राणी को कठपुतली बना डालने में भी क्या कोई लाभ देख सकता है? पर आज की अर्थ-लिप्सु प्रगति ने वही नौबत ला दी है। स्त्री शायद जीवन के सभी कामों में हाथ बंटा सकती है, पर सेवा-सहयोगिनी के रूप में। उसी को दुकान का आकर्षक विज्ञापन बनाकर हम अपने को गहरी प्रतारणा और प्रवंचना में डालते हैं। वह मार्ग स्त्री की सार्थकता, या समाज की समृद्धि और कृतार्थता, का कभी नहीं माना जा सकता।

सिक्का, सभ्यता और नारी का अपना विक्रय मूल्य

तो वर्तमान में स्त्रियों के प्रति यह मोल भाव समाप्त होना चाहिए यही न? लेकिन सवाल तो इस बात का है कि समाज इसी मूल्य को पसन्द करता और इसी को बनाए रखना चाहता है। इसलिए जब तक समाज के वर्तमान मूल्य का अवमूल्यन नहीं होगा तब तक स्त्री पुरुष के लिए भोग्य और पण्य की सामग्री बनी रहेगी। विदेशों में तो स्त्रियों की बहुत बुरी दशा है। लगता है, पूरा समाज स्त्री को नग्न कर डालना चाहता है और इसी में अपनी सभ्यता की सार्थकता मान बैठा है। फिर इस रोग की चिकित्सा कैसे हो? क्या नारी जाति को अपने प्रति हो रहे अन्याय का विरोध नहीं करना चाहिए?

ऐसा क्यों है?

—ऐसा पैसे की महिमा-गरिमा की वजह से है। पैसे बिना इस सभ्यता में सांस लेना मुश्किल हो गया है। पैसा भी अपना-अपना। विवाह हो सकता है, पर पति का पैसा पति का रहेगा, पत्नी का पैसा पत्नी का। इस पैसे ने स्त्री के लिए ही नहीं, विद्वान के लिए, विज्ञानी के लिए, बलवान, कलावान, नीतिवान सबके लिए यह विवशता पैदा कर दी है कि वे बाजार में अपनी विज्ञान-विद्या, बुद्धि, कला को बेचें और जीने का उपाय रचें। जीवन की सबसे बड़ी कला का नाम है, सेलिंग यानी बिक्री। पुरुष में नारी-शरीर के प्रति आकर्षण है, तो नारी के पास शरीर वह पूंजी बन आता है जिससे जीने की सुख-सुविधा के साधन-उपकरण प्राप्त और एकत्र किए जा सकें। इसलिए औरों के साथ वह भी बाजार में प्रस्तुत है कि बोली लगे और वह अपने शरीर और सुन्दरता का मूल्य पाये!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवार-संस्था की स्वार्थमूलकता कामाश्रित

स्त्री की ओर से इसका कोई जोरदार प्रतिवाद नहीं आ रहा है बल्कि अपनी ओर भोग की स्वतंत्रता के नाम पर वह स्वेच्छा से इसमें सहयोगिनी बनी दीखती है। इसको विडंबना कहते भी झिझक होती है। क्योंकि स्त्री इसमें स्वाद पा रही लगती है। स्त्री-पुरुष के बीच के आकर्षण को विधाता की ओर से प्राप्त मानव जाति की मैं सबसे बड़ी संपदा मानता हूं। मानव जाति ही क्यों कहिए, सचराचर जगत में उस आकर्षण-शक्ति की ही महासत्ता है। उस संपदा को हम चाहे तो बखेर सकते हैं, लथेर डाल सकते हैं, और चाहे तो उसी में से भव्य सौंदर्य और सौभाग्य का निर्माण कर सकते हैं। मुझे नहीं लगता कि हम अपने सब ज्ञान-विज्ञान और विद्या-बुद्धि-विवेक के रहते उस संपदा का सदुपयोग कर पा रहे हैं। उसके साथ न्याय नहीं हो रहा है, उसका महा अपव्यय ही हमसे होता है। जिस आर्थिक चक्रव्यूह की हमने अपने चारों ओर रचना कर ली है, वह स्वार्थ की लिप्सा में से उपजा है। लिप्सा में एक दूसरे का उपयोग है, उपभोग है, परस्पर की पूर्ति और धन्यता नहीं है। इस नर-नारी के परस्पर आकर्षण की ही पहली किरण है जिसकी स्पर्शानुभूति हमें श्रद्धा और भक्ति के भावोदय के रूप में होती है। रोमांस का वही पहला और अनिवार्य आस्वाद है। उससे विहीन और विलग करके यथार्थता के आग्रह में हमने पुरुष-स्त्री को मानो निरे नर-मादा के तल तक ला दिया है। जिस पर हम गर्व रखते हैं कि भावुकता से ऊपर उठकर हम यथार्थवादी वैज्ञानिक बन आए हैं। दोनों की शारीरिकता को प्रकृत रूप में स्वीकार और अंगीकार का हमने एक दावा और दंभ ही रच डाला है। ऐसे नग्नवाद तक आने में हम कृतकृत्यता मानते हैं। बुद्धि का यह निरा औंधापन है और चिन्मूल्यता की अपेक्षा में यह नितान्त अवैज्ञानिक है। मैं समझता हूं कि इस आकर्षण का आधार लेकर हमने जो अपनी पारिवारिकता और सामाजिकता का निर्माण किया है सो यह मानवीय सभ्यता के विकास का निदर्शक ही है। उस सभ्यता संस्कृति के विकास की दिशा यही हो सकती है कि परिवार दृढ़ और प्रेम विकसनशील हो। प्रेम की इस निरंतर विकसनशीलता के आधार पर परिवार अपने में न्यस्तस्वार्थ अथवा बंद वृत्त न रह जाएगा, वरन् उसका विस्तार निरंतर विश्व-बंधुत्व की ओर होता जाएगा। मैं मानता हूं कि प्रेम के बजाय काम को मौलिक मान लेने के कारण परिवार की संस्था स्वार्थ-संपत्तिमूलक बनी है और प्रशस्त सामाजिकता के विकास में उसने विघ्न-बाधा का रूप ले लिया है। यदि प्रेम की मौलिकता को हम पहचान सकेंगे तो विवाह और परिवार की रूढ़िबद्धता और घेराबंदी टूट जाएगी और स्त्री-पुरुष के बीच नाना वर्जनाओं के कारण जो उच्छृंखलता फूटती दीखती है, वह भी अनावश्यक हो आएगी। मुझे लगता है कि विकारों और वर्जनाओं का सीधा संबंध हमारी अर्थव्यवस्था की विषमता से है। और फिर उसका संबंध उस राज-संस्था और व्यवस्था से हो आता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसकी छाप लेकर कागजी नोट के अंदर जबर्दस्त परचेजिंग पावर जा बैठती है। शायद प्रश्न के हल के लिए इस समूचे ढांचे को ही, उसकी तमाम कील-चूल के समेत फिर से जांच-पड़ताल करके एकदम नया रूप देना होगा।

आकांक्षात्मक और श्रद्धात्मक आदर्शवाद

अभी आपने कहा कि महत्वाकांक्षा एक झूठी चीज है, एक धोखा है। किन्तु जिसके अन्दर कोई महत्वाकांक्षा नहीं है, वह क्या कुछ कर पाता है, खाने, कमाने और मरने के सिवा क्या दे पाता है? महत्वाकांक्षा ही तो वह प्रेरक बिन्दु है जो आदमी को जगाती और क्रियाशील रखती है। क्या बिना किसी महत्वाकांक्षा के आदमी कोई महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय काम कर पाता है? और जब कुछ करता है तो उस काम की तह में क्या महत्वाकांक्षा काम नहीं कर रही होती है?

—महत्वाकांक्षा आदमी को उठाती है, यह माना जा सकता है। पर किसी को नीचे गिराकर उसके ऊपर चढ़ बैठने से अगर कोई माने कि वह उठ रहा है, तो आपको यह कैसा लगेगा? क्या ऊपर उठना मनुष्य की मनुष्यता का परिचायक होगा? और शायद प्रश्न यहां एक मनुष्य से अधिक समूचे समाज का है। मनुष्य क्या ताकत में पशु से ऊपर उठा है? पशु सिर्फ ताकत के भरोसे रहता है, इसलिए उसके रहने का स्थान जंगल कहलाता है। मनुष्य में एक दूसरे का विचार हो सकता है, इसलिए उसके द्वारा समाज बन पाया है। महत्वाकांक्षा अक्सर वह चीज है जिसमें विचार अपना ही अपना होता है, दूसरे का रहता ही नहीं। दूसरों को अपने उपयोग का साधन और निमित्त बनाने में महत्वाकांक्षी को कोई भी अनौचित्य नहीं मालूम होता। इस प्रकार की उन्नति दूसरी जगह अवनति किये बिना नहीं हो पाती। महत्वाकांक्षा की प्रेरणा से ऊपर उठा आदमी आगे जाकर मानी और अभिमानी हुए बिना नहीं रह पाता। उस कारण मानव संबंधों में तनाव आता है, विकार का बीज वपन होता है और सामाजिक दृष्टि से कुल मिलाकर वह प्राणी वरेण्य नहीं गिना जाता है। आतंक उसका हो सकता है, आदर भी मिल सकता है, तात्कालिक रूप से पद-प्रतिष्ठा भी उसे प्राप्त हो सकती है। पर वह स्थायी रूप से कभी श्रद्धा-भाजन हो सकेगा, इसकी संभावना कम है।

प्रेरक बिन्दु—एक स्वप्न-यात्रा

महत्वाकांक्षा के नीचे कोई चित्र-कल्पना रहती है जिसके उत्कर्ष के साथ आदमी अपने आपे को जोड़ लेता है। असल में यह कल्पना उसको चला और उठा रही होती है। महत्वाकांक्षा का जो प्रेरक भाव है, वह यह स्वप्न है, जो असल में निजी नहीं निजोत्तर होता है। किंतु महत्वाकांक्षा उसको अपनी निजता से रंग और बांध लेती है। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक महत्वाकांक्षी आदर्शवाद का जन्म होता है। व्यक्ति समझता है कि वह अमुक आदर्श की ओर प्रगति कर रहा है, पर असल में आदर्श वह अभाव में से जन्मी उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति का रूपक हुआ करता है। अर्थात् अन्त में यह आदर्श आत्मवंचना और प्रवंचना का निमित्त बनता है। नेपोलियन यूरोप को एक करना और देखना चाहता था। इस स्वप्न ने उसे बैचैन और कर्मशील रखा। उसका विक्रम-पराक्रम उस स्वप्न के भरोसे उद्यत और जाग्रत रहा। पर क्या हुआ? लाखों लाख जाने गयीं, पर क्या फ्रांस उठा, यूरोप मिला? बल्कि मालूम हुआ कि नेपोलियन के बाद यूरोप खण्डित हुआ पड़ा है और कूटनीति का शिकार बन रहा है। स्वयं नेपोलियन क्या किसी सुख-संतोष में समाप्ति पा सका? क्या उसने अपने को अंत में प्रवंचित और संतप्त ही अनुभव नहीं किया? क्या यह पूछा जा सकता है कि यदि महत्वाकांक्षा ने उसे उठाया तो क्या वह भी महत्वाकांक्षा ही न थी जिसने उसे गिराया? हिटलर को लीजिए। कितना अदना आदमी था। पर जर्मनी जैसे अत्यन्त संपन्न और गहन-गम्भीर देश का वह भाग्य-विधाता बन आया। अनेक वर्षों तक दुनिया को उसने चुनौती पर रखा। अति सामान्य वह मनुष्य किस प्रेरणा से उस ऊंचाई तक पहुंच पाया? निश्चय ही उसे महत्वाकांक्षा कहेंगे। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि जर्मन राष्ट्रत्व और आर्यत्व की श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित करने की कल्पना उसको उठाती चली गई, उसका व्यक्तित्व उस स्वप्न पर अर्पित हो रहा। ऐसे स्वप्नगत पुरुष को क्या चेत हो सकता था कि उसकी स्वप्न यात्रा में लाखों यहूदियों की जान पर बीत रही है। वह तो एक आदर्श के पंखों पर बैठ कर मानो आसमान में उड़ा चला जा रहा था। मैं कहना चाहता हूं कि हिटलर के उत्कर्ष में कारण उसका उस स्वप्न के प्रति अर्पण-समर्पण था। पर यदि स्वप्न को टूटना, हिटलर को गिरना और अपने हाथों मरना पड़ा तो इसलिए कि उस स्वप्न में और अर्पण में भी अहं दुबका हुआ था। 'महत्व' था उस चित्रादर्श में लेकिन 'आकांक्षाओं' में अहं था। महत्वादर्श के प्रति अर्पण हो तो आदमी उठे बिना रहेगा। किन्तु उसमें निजाकांक्षा का कीड़ा स्थान पा जाए, तो उसमें बिखर कर गिरना भी पड़ेगा। और तब जान पड़ेगा कि जिसको महत्व माना था वह उसके मन के भीतर के अभाव में से उपजा भ्रम-संभ्रम ही था, मात्र कल्पना की छलना थी।

आदर्श की 'आकांक्षा' की जगह उसकी 'श्रद्धा' भी हो सकती है। श्रद्धापूर्वक किए गए समर्पण में अहंता नहीं होती और उसका परिणाम भी असामाजिक नहीं होता। वह प्रेरणा महत्वाकांक्षा से कुछ भिन्न होती है। वही है जो रचनात्मक होती और इतिहास को एक स्थायी अवदान दे जाती है।

श्रद्धा में महत्वाकांक्षा : हिंसा का प्रश्न-विचार

यह तो कुदरत का नियम है कि जब एक ऊपर उठता है तो कुछ को दबना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। अर्थात् हिंसा के आधार पर ही ऊपर उठना या आगे बढ़ना हो सकता है। इसलिए अगर इस विचार पर ही हम दृढ़ रहें कि महत्वाकांक्षी दूसरे को गिराकर आगे बढ़ता है तो उचित नहीं जान पड़ता। उसके आगे बढ़ने में जो बाधक होता है, उसे पीछे छोड़ना ही पड़ता है। थोड़ी देर के लिए हम महत्वाकांक्षा की जगह श्रद्धा को रखें तो क्या श्रद्धा की प्रेरणा से आगे बढ़ने वाला हिंसा नहीं करता? और क्या उसके अंदर अहंकार नहीं पनपता? मैं समझता हूं एक बिंदु ऐसा आता है जहां श्रद्धा महत्वाकांक्षा में बदल जाती है।

—क्या सचमुच हिटलर का और उसकी राह का आप समर्थन करेंगे? जो आपने कहां उसमें समर्थन का जाता है। लेकिन मुझे शंका है कि वह समर्थन आपको अभीष्ट है। यह तो शायद ठीक मालूम होता है कि हर उन्नति का मूल्य चुकाना पड़ता है। जीवन चल रहा है, इसलिए कि शिशु आ रहा है और वृद्ध जा रहा है। इस प्रक्रिया को मैं हिंसात्मक नहीं कह सकता। वृद्ध उस शिशु को स्वयं लाड़-प्यार देकर हृष्ट-पुष्ट करता है और जानता है कि इस प्रक्रिया में वह स्वयं ढलता जा रहा है। बच्चे के विकास में मां का दूध और खून लगता है, पर उस विधि-विधान में हिंसा की जगह अहिंसा का ही योग है।

श्रद्धागत महत्वाकांक्षा हिंसा नहीं अहिंसामय

यही अंतर आकांक्षा और श्रद्धा में है। पर श्रद्धा जिसको माना उसका भी फल आकांक्षा वाला ही निकलता है तो कहना होगा कि बाना ही श्रद्धा का रहा होगा, भीतर उसके अहं का भी अवशिष्ट शेष रहा था। हिंसा में आप अपने को खपाते नहीं बचाते हैं, दूसरे को ही अपने लिए खपा लेते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं में भेद न देखना, सच से मुंह मोड़ना होगा। राजाओं और बादशाहों के इतिहास में अक्सर मिलता है कि मरने से पहले ही बेटे ने बाप का सिर उतार लिया या उसे कैद में डाल दिया। बाप शायद तैयार ही हो रहा था कि प्यार से पाले गए बेटे के सिर पर कब वह अपना ताज रखे। बेटे की महत्वाकांक्षा बीच में न आ जाती तो होनहार शायद यही होना था। पर क्रूरता और हत्या से उस ताज को छीन लेना एक बात है, प्यार के हाथों बाप के द्वारा उस ताज का अपने बेटे को पहनाया जाना बिल्कुल दूसरी बात है। मैं कहूंगा कि आप इन दोनों के भेद को पहचानिए।

हिंसा जीवन की शर्त, पर साध्य अहिंसा

कौन कहता है कि सृष्टि में हिंसा नहीं है। उसको देखने के लिए पशुओं के जंगल में जाने की जरूरत नहीं है, मनुजों के समाज में उसके उदाहरण भरपूर हैं। आंख खोलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देख सकें तो सबके सब संभ्रान्त लोगों की सफेदपोश जमात के आसनों के नीचे गहरी हिंसा बैठी और जमी दीख सकेगी। उस हिंसा से इंकार मैं नहीं करता। शायद हिंसा जीवन की शर्त है। पर शर्त से आगे सिद्धि भी वही हिंसा है, यह मानना जानबूझकर गड्ढे में पड़ना होगा। सिद्धि वहां हो तो जानवर से आदमी बनने का इतिहास का क्रम व्यर्थ हो जाता है। सृष्टि की प्रक्रिया में से सब अर्थ लुप्त हो जाता और स्वयं समय की ही सार्थकता समाप्त हो रहती है। हम क्यों जी रहे हैं? क्यों पीढ़ी पर पीढ़ी आती-जाती, सीढ़ी दर सीढ़ी ज्ञान-विज्ञान ऊंचे चढ़ते जाते हैं? यदि शुरू पर ही अंत है तो जीना क्या निरर्थक नहीं होगा? इसलिए हम और आप अगर कल तक जीने की तैयारी रखते हैं तो मान लेना होगा कि आज से हमें कल की तरफ बढ़ना है। हिंसा को मान लेने की बात में अर्थ तभी पड़ता है जब हम जानते हैं कि हमें बढ़ना अहिंसा में है। हिंसा पूरी तरह कभी नहीं छूट पाएगी, पर हर क्षण उठना अहिंसा की ओर होगा। अर्थात् हिंसा की अनिवार्यता रह कर भी हिंसा का समर्थन मनुष्य के पास से कभी नहीं आ सकता। यह विरोध, अंतराल है जीवन में और सार्थक भाव से है। मध्यवर्ती व्यवधान ही वह स्थान है जहां से पुरुषार्थ का उदय है। उस द्वंद्व और अंतर्विरोध की सृष्टि इसी पुरुषार्थ के निमित्त से है कि प्रेरणा जगे और विकास संपन्न हो। एक द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत चला था। पर सच पूछिए, तो यह वह द्वंद्व है जिसमें से जीवन का उत्कर्ष सधता है। 'यह है, वह चाहिए', 'यह हूं, वह चाहता हूं', यही द्वैत चिर-स्रोत है प्राण-प्रेरणा का। तमाम उत्थान और उन्नयन इसी में से हो पा रहा है। हर वर्तमानता में, हर स्थिति में, हिंसा गर्भित है। सामान्य भाषा में चाहे तो दोष कह लीजिए, अन्याय कह लीजिए। हर काल में इसी कारण सामाजिक न्याय की मांग उठती रहती है और इसी मांग में अहिंसा की ओर गति की अनिवार्यता पहचान ली जा सकती है। हिंसा से अहिंसा की ओर विकास की दिशा का अभिप्राय इसके सिवा दूसरा नहीं है। भाषा भिन्न हो, सार वही रहने वाला है।

आप हिंसा देखते हैं, उन्नति की प्रक्रिया में हिंसा का उपयोग होता हुआ देखते हैं, और ऊपर से यह अयथार्थ भी नहीं है। पर यहां वैज्ञानिक विश्लेषण की आवश्यकता है और हर घटना के पृथक्करण में हम देखेंगे कि विकास उस बिन्दु और मात्रा तक है जहां तक अहिंसा के तत्व प्रवर्तमान रहे हैं। जहां से हिंसा का आरंभ हो, ह्रास उसी बिन्दु से शुरू हो गया है।

पराक्रम का सार

किसी भी पराक्रम के उदाहरण को ले लीजिए, वहां हिंसा भी आपको दीख जाएगी। पराक्रम के प्रति मनुष्य के मन में प्रशंसा जागे बिना नहीं रह सकती, एक अनिवार्य आकर्षण उसके प्रति अनुभव होता है। इतिहास उस पराक्रम की नींव पर बनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पर बड़ी भूल होगी अगर उस पराक्रम के साथ मिली हिंसा को हम इतिहास के निर्माण का श्रेय दे बैठेंगे। पराक्रम में अपने जीवन को हथेली पर लेकर चलने की तैयारी गर्भित रहती है। यह तैयारी है जो पराक्रम का सारांश है। यह उद्यतता, सचमुच अपनी जान के साथ प्रसन्न भाव से खेल खेल जाने की वह परायणता है जिसमें मनुष्य और इतिहास अपनी सार्थकता देखे बिना नहीं रह सकता। इसी को कहिए यज्ञ, जिसको गीता ने जीवन-मूल्य की भांति प्रतिष्ठित किया है। हर पराक्रम का सार भाग यह बलि भाव, यज्ञ भाव है। किन्तु उसके साथ यदि अपने जीवनार्पणा के अतिरिक्त दूसरे की जान लेने की स्पर्धा भी दीखती है तो अनुसंधान से मालूम किया जा सकता है कि यज्ञ के अतिरिक्त भी वहां कुछ तत्व शेष रह गया था जहां भय था, कामना थी। उस भय और स्वार्थ की मात्रा के हिसाब से हमारी प्रशंसा में कमी आने लगती है। जिसे 'गुण्डा' और 'बुली' कहते हैं, दु:साहसपूर्ण पराक्रम उसमें भी देखा जा सकता है। पर उसके प्रति प्रशंसा का भाव कदाचित् ही हो पाता है। इस मनोवैज्ञानिक पृथक्करण की क्षमता रखने वाले के पास से मैं नहीं समझता कि किसी भी प्रकार हिंसा का समर्थन आ सकता है। हिंसा की विवशता मानी जा सकती है, पर उसको यह औचित्य नहीं दिया जा सकता, न्याय और धर्म नहीं ठहराया जा सकता। जहां मूल्य की, धर्म-बुद्धि एवं कर्म-नीति के निर्णय की बात हो वहां के लिए यह विश्लेषण और पृथक्करण अत्यन्त आवश्यक है। वहां किसी विभ्रम के लिए अवकाश नहीं रहने दिया जा सकता। अर्थात् मनुष्य का तर्क उस महा विराट् में घटित होती दिखती इतिहास-प्रक्रिया की ओट लेकर अपने लिए हिंसा का समर्थन कर आता है तो वह किसी फलासक्ति में अपने विवेक के साथ यत्किंचित् छल ही करता है।

इस दृष्टि से देखने पर कम संभव है कि आप हिंसा में मानवीय उन्नति का कारण मानने का हक रखे रखना चाहेंगे।

प्रेम की चर्या ही ब्रह्म की चर्या

इसका अर्थ यह हुआ कि काम का वर्तन स्त्री-पुरुष विग्रह-वियोग का कारण बनता है और जो संयोग है वह प्रेम में है। काम की इस समस्या से निबटने का रास्ता आप ब्रह्मचर्य को बताते हैं। वह ब्रह्मचर्य क्या है ? क्या वह वही ब्रह्मचर्य नहीं है जो काम के शमन और दमन की शिक्षा देता है ? यह तो काम के दमन का अप्राकृतिक तरीका हुआ ? इसमें से भला प्रेम कैसे परिस्फुटित हो सकेगा ?

—प्रेम की चर्या ही ब्रह्म की चर्या हो सकती है। ब्रह्म वह जो सर्व व्याप्त है। उसके लिए प्रेम भी सर्वव्याप्ति वाला चाहिए। अर्थात् यह प्रेम बेमांग और बेशर्त होगा और कहीं भी वह रुक जाना स्वीकार नहीं करेगा। वह प्रेम रोक इसलिए नहीं चाहेगा कि इसमें हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षण सम्प्राप्ति और संयोग की अनुभूति होगी और किसी को खींचकर पास लेने जैसी प्यास नहीं रह जाएगी। भक्ति के संबंध में ऐसा कुछ वर्णन मिलता है। अर्थात् भक्त भगवान को भी इसलिए नहीं पा लेना चाहता कि उसकी भक्ति सावकाश और अक्षुण्ण बनी रहे।

काम ओछा और अधूरा प्रेम

अब काम क्या है ? काम-भोग की यह मर्यादा है कि वह एक के पार नहीं जाता। एक का एक के साथ सिद्ध और भुक्त हो गए संबंध को ही काम कहेंगे। अर्थात् काम सदा प्रेम के अधूरेपन का द्योतक है।

काम में भी अभिव्यक्ति प्रेम की होती है। किन्तु उस आंशिक प्रेम में आंशिक स्वार्थ का भी हिस्सा रहता है। स्वासक्ति और स्वाहुति ये दोनों अनमिल और विरोधी भाव हैं। इनसे मिलकर जो विस्फोटक मिश्रण तैयार होता है उसे काम कहना चाहिए। अर्थात् काम में एक तनाव का अनुभव होता है निश्चल सहजता का वही भंग होता है। मोह और आवेश वहां आवश्यक हो आए हैं इसलिए काम को मुक्ति की दिशा में बाधा माना जाता है। पर बचपन जैसे युवावस्था के लिए बाधक नहीं है, वैसे ही काम को प्रेम विकास में बाधक मान लेने को मैं उपयुक्त नहीं ठहरा सकता। चढ़ना सीढ़ी दर सीढ़ी होता है, उछलना गिरने के निमंत्रण का नाम है। धर्मपूर्वक अर्थ और काम की वृत्तियों और शक्तियों के उपयोग से समयोग और समुपलब्धि की ओर बढ़ते जाना है। इस अपेक्षा से काम को बाधक की जगह साधक के रूप में भी देखा जा सकता है।

ब्रह्मचर्य में दमन नहीं

वह ब्रह्मचर्य जो उन्नयन के बजाय काम के दमन पर ही बल देता है, व्यक्तित्व के भीतर गहरा द्वित्व छोड़ जा सकता है। अपेक्षित वास्तव में व्यक्तित्व का एकीकरण है। रूढ़ ब्रह्मचर्य उल्टे व्यक्तित्व को विभक्त और खण्डित कर आता है। दमित वासना नि:शेष नहीं होती, बल्कि अवसर की ताक में रहती है। एक बिन्दु पर पहुंच कर वह तपस्या के अहं-मद को अपने स्फोट से ऐसा खण्ड-खण्ड कर डालती है कि तपस्वी फिर टिक नहीं पाता, खील-खील हो जाता है। व्यक्तित्व की समग्रता और पूर्णता अपने किसी अंश के इन्कार में नहीं है, बल्कि उसके प्रत्येक अंश के जीवन-लक्ष्य के प्रति अर्पण और विसर्जन में है। अधिकांश हम द्वैत में बांटकर जीवन को देखते हैं। बुद्धि की प्रक्रिया यही है। वह अन्वय और विश्लेषण की पद्धति से चलती है। इसी में पाप-पुण्य, बुरा-भला और काले-छौलले की सृष्टि हो आती है। पर जीवनोत्कर्ष की दिशा निर्गुणता की ओर है। कारण, परम सत्य निर्गुण है। निर्गुणता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों का आपसी द्वन्द्व नहीं है, बल्कि लय और समन्वय है। गुणों की द्विधा और त्रिधा का बोध बीच में ही झर जाता है और निर्गुणता की सिद्धि के लिए उनके नानात्व में एकत्व स्थापित हो आता है। काम की संगति वहीं तक है, जहां तक यह द्वित्वात्मक प्रक्रिया अद्वैत की अनुभूति से द्रवित नहीं होती, बल्कि स्वतंत्र वृत्ति के रूप में काम करती रहती है। स्व-पर-भाव की भूमिका स्त्री-पुरुष के बीच से सहज निर्मूल हो भी कैसे सकती है। स्त्री-पुरुष का यह द्वैत इतना मौलिक और गहन है कि इनके एकभाव के क्षण में ही सृष्टि के मंत्र को बंद रख दिया गया है। ब्रह्मचर्य उस एकता के सातत्य की साधना है जो काम से संभोग के चरम क्षण में हठात् असहनीय त्रासानंद की अनुभूति दे आती है। परमेश्वर की सृष्टि-रचना की इस गूढ़ रीति को केवल इस कारण कि वह प्रेय भी होती है मैं शंकास्पद और अश्रेयस्कर नहीं मान सकता। निरी बुद्धि के हाथ में धर्म-विचार के पड़ जाने से द्वित्वात्मक चिन्तन शुरू हो आया, उससे तत्ववादीय भेद-प्रभेद उपजते चले गए और नाना पंथों, आम्नायों, और सम्प्रदायों को जन्म मिला। धर्म जो एक ओर अखण्ड था, भाषा और परिभाषा के फेर में पड़कर नाना बाड़ों में बंधा और बिखर गया। बुद्धिजन्य इस भेद-वृत्ति में से उस साधना-क्रम का आरम्भ हुआ जिसने पुरुष और स्त्री के लिए एक दूसरे के स्पर्श से बचे रहने में ही सिद्धि और पवित्रता मान ली। यह अप्राकृतिकता मुक्ति तक कैसे पहुंचा सकती थी, या पहुंचा सकती है। स्त्री-पुरुष दो हैं, इसी कारण तो काम अनिवार्य बना हुआ है। इस दोपन को और भी पक्का और स्थायी करने वाला उपदेश काम को क्या और अदम्य और अनिवार्य ही नहीं बना डालेगा? ऊपर से यदि उस काम की स्वीकृति को डाट लगाकर निषिद्ध बना डालेंगे तो वह व्यभिचार के मार्ग से फूटकर समाज को और भी स्खलित करेगा। वैसी देह-दमन और इन्द्रिय-दमन की ऐकान्तिक साधना समाज के सामने आदर्श को प्रत्यक्ष तो क्या कर सकेगी, उसकी उल्टे लांछित ही बना डालेगी। मुक्ति का मार्ग उससे प्रशस्त नहीं हुआ है, बल्कि विचारशीलों के समक्ष उल्टे अविश्वस्त बन गया है। इस प्रकार का व्याख्यान जीवन के आनन्द, उल्लास और प्रसाद की जगह मानो उस जीवन के ह्रास, नाश और नकार-निषेध का ही परिचायक हो गया है। उसके अधीन नाना वर्जनाओं ने जीवन के प्रवाह को कुण्ठित और अवरुद्ध कर दिया है। परस्पर का विश्वास और आश्वास उससे विलुप्त बना है और बीच में भय-संशय की सृष्टि हुई है। स्त्री और पुरुष के बीच यह भय-संशय प्रेम को मानो असंभव बनाता है और दुनियां को इस ढंग से उजाड़ने और वीरान बनाने में ही सहायक होता है। इस प्रकार की ब्रह्मचर्य की धारण से मैं मानता हूं कि ब्रह्म की सच्ची चर्या कभी उपलब्ध नहीं हो पाएगी। कारण, वह प्रेम की चर्या के सिवा दूसरी कुछ हो नहीं सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम और प्रेम में विरोध देखना मिथ्या

प्रेम, जैसा पहले कहा, वियोग और विरह में भी संयोग की सृष्टि कर लेता है। वह वस्तु और व्यक्ति-निर्भर न होने के कारण समस्या उत्पन्न नहीं करता है। बल्कि नाना आसक्तियों और ईर्ष्याओं के निमित्त से जो दुर्घटनाएं हुआ करती हैं, उन सबका उपचार इस निर्वैयक्तिक प्रेम में से खोजा और पाया जा सकता है। काम का लक्षण इससे उल्ट है। कामना में वस्तु अथवा व्यक्ति को हम हस्तगत करके अपने आधिपत्य में रख लेना चाहते हैं। काम इस प्रकार की संकीर्णता से मुक्त नहीं है, स्वलिप्ति उसमें होती ही है। प्रेम द्वारा उस काम की संकीर्णता में उदात्तता का प्रवेश होता है। काम वहां निषिद्ध नहीं होता है, बल्कि ऊर्ध्वरिता बनता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि काम के स्पर्श से प्रेम सृजनशील हो जाता है। प्रेम निष्क्रिय और निश्चेष्ट हो जाएगा, अगर उसे अव्यक्त सत्य से ही जोड़ेंगे और व्यक्त व्यक्ति से तोड़ लेंगे। मनुष्य को लांघकर जो प्रेम ईश्वर की ओर उछलता है, वह निष्काम होता हो कि न होता हो, अंतत: निस्तेज और निश्चेष्ट अवश्य हो जाता है। प्रेम सार्थक, सचेष्ट और संभव वही होगा जिसमें परस्परता का स्वीकार और सत्कार होगा और उस अर्थ में जो व्यक्ति-परक संदर्भ से टूटने का आग्रह न रखेगा। इस परस्परता और व्यक्तिपरकता में आप काम की विद्यमानता भी देख लें तो मुझे आपत्ति नहीं होगी। मैं मानता हूं कि निष्कामता को भी इस व्यक्तिगत आधार की आवश्यकता होती है। ईश्वरीय और आध्यत्मिक प्रेम जो इतना हवाई और अवास्तव होता देखा गया है, वह इसी कारण कि उसे हठात् व्यक्तिगत और मानवगत होने से उत्तीर्ण रखने में ही उसकी सुरक्षा और साधना मान ली गई है। ऐसे मानो हम सृष्टिकर्त्ता को उसकी अपनी सृष्टि से विलग कर देते हैं। सृष्टि की ओर पीठ करके स्रष्टा की ओर मुंह फेरने की चेष्टा अकारथ है। स्रष्टा यदि पार और अपार है तो भी सृष्टि में वही है जो व्याप्त है। इसलिए प्रेम को भी काम की व्यक्तिमत्ता का आधार आवश्यक होता है और आवश्यक बना रहता है। अत: काम और प्रेम में कोई विरोध देखने में इसी से खतरा है कि वह एक मिथ्यात्व है।

स्त्री-पुरुष के क्षेत्रों में बदाबदी नहीं

स्त्रियों के अधिकार और काम के क्षेत्र के प्रश्न को लेकर महत्वाकांक्षा पर चर्चा चल पड़ी थी। पूर्व प्रश्न को लेकर मेरे मन में एक अंतर्द्वन्द चल रहा है। वह यह कि स्त्रियों का क्षेत्र घर तक ही क्यों सीमित रखा जाए जब कि उनके अंदर हर क्षेत्रों में काम करने की पूरी क्षमता है। क्या केवल इसलिए उन्हें पति की चेरी बना कर रखा जाए कि इससे पति को सुविधा होती है, आराम और सुख मिलता है? इस संदर्भ में आपका यह तर्क कि इससे प्रेम बना रहता है, खण्डित नहीं होने पाता, कुछ एकांगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान पड़ता है। क्या इससे पत्नी की पति से श्रद्धा बनी रहती है? मानना होगा कि भीतर काम के प्रश्न को लेकर प्रेम का टूटना और जुड़ना नहीं होता। इसके मूल में कुछ और भी कारण होते हैं। मैं तो यहां तक ठीक समझता हूं कि परिवार के टूटने की शर्त पर भी स्त्रियों को पुरुषों की भांति बाहरी क्षेत्रों के काम करना चाहिए। हमको क्या अधिकार है कि उनकी क्षमताओं से देश और समाज को वंचित रखें? घर के काम में स्त्रियों के साथ पुरुष भी क्यों न हाथ बटाएं? परम्परा से चली आ रही यह व्यवस्था अब आगे नहीं चल सकती और न इसे चलना चाहिए।

—प्रश्न में तो निर्णय आ गया है। फिर कहने-सुनने को क्या रह जाता है। मैं नहीं मानता हूं कि स्त्री-पुरुष के दो अलग पक्ष हैं। उनमें बदाबदी का भाव या विचार बनता है तो कहीं चूक है। दाएं और बाएं हाथ में क्या बराबरी नहीं है? पर आप अगर दाहिने हाथ में कलम पकड़ कर लिख रहे हैं तो क्या आपके मन में यह विवाद उठता है कि बाएं हाथ को वह हक क्यों नहीं है? जी नहीं, हक का सवाल ही यहां नहीं है। अपवाद के रूप में कुछ ऐसे लोग हैं जो दाएं के बजाए बाएं से लिखते होंगे। इसी तरह स्त्री-पुरुष के बीच हक का विचार उपस्थित करके परस्पर पक्ष और विपक्ष बनाकर देखने की पद्धति को मैं हितकर नहीं मान सकता हूं। स्त्री हीन न ठहरे, यह चिंता यदि पुरुष को लगी रहती है तो उसके भीतर मानना होगा कि अभी ग्रंथि है, सहजता नहीं है। स्त्री हीन तो है ही नहीं। जब-जब उस हीनता के प्रश्न को उभारा जाता है, तभी तब यह हीनता की ग्रंथि छिड़कर मानो अधिक कष्ट देने लगती है।

क्या पुरुष का मातृत्व से वंचित होना अन्याय माना जाए?

स्त्री और पुरुष में यदि प्रकृति की ओर से यह विभाजन है कि मातृत्व से पुरुष वंचित रहे, तो क्या पुरुष को हक आता है कि वह प्रकृति पर पक्षपात का दोष डाले। आपके सोचने की पद्धति से यह तर्क-विरुद्ध न रह जाएगा कि पुरुषों का प्रतिनिधि मण्डल भगवान को सूचित करे कि या तो मातृत्व का अधिकार उनको दिया जाए, नहीं तो पुरुष जाति इसको अपना अपमान मानेगी और इस अपने हक को पाने के लिए सत्याग्रह पूर्वक मर मिटेगी। बात यह हंसी की मालूम होती होगी, लेकिन सूक्ष्मता से देखें तो स्त्री की ओर से आपकी वकालत भी कुछ उतनी ही हंसी की हो जाती है।

घर छोटा नहीं है

आपने मान लिया है कि घर छोटा है, जगत बड़ा है। पर यह देखने का भ्रम भी हो सकता है। हमारी टांगें दौड़कर हमें दूर तक ले जाती हैं, यह ताकत लेकिन न दिल के पास है, न दिमाग के पास। दोनों ये बाहरी दौड़-धूप तनिक भी नहीं कर सकते। वे बाहर दीखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक को नहीं आ सकते। हृदय को तो बहुत गहरे पिंजरे में बंद रखा गया है। पर हम जानते हैं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को जीवंत रखने में उस हृदय का कितना बड़ा आधार और योग रहता है। एक हाथ कट सकता है, या दोनों भी कट सकते हैं, टांगें भी खतम हो सकती हैं, पर आदमी जीता है। लेकिन दिल का काम घड़ी भर के लिए रुक जाए तो जीवन की समाप्ति आ जाती है। घर में रहकर स्त्री का कार्य अल्प और व्यर्थ बन जाता है, यह समझना, सतही समझ में अपने को समाप्त मान लेना है। शरीर की उपमा लें तो हृदय वहां अव्यक्त और अमूर्त होकर भी जीवन के ध्रुव केन्द्र का काम करता है। पुरुष की हैसियत से स्त्री के अवदान को भी मैं उतना ही गरिमामय रखना चाहता हूं।

पुरुष पहले अगर शिकार के लिए बाहर जाता और लौटकर उस खाद्य को परिवार के समक्ष प्रस्तुत कर देता था, तो क्या स्त्री के लिए यह अधिकार स्पर्धा की वस्तु हो सकता था। न पुरुष के लिए इस शिकायत की जगह थी कि स्त्री बाल-बच्चों के बीच अपने आराम से रहती है और शिकार-वगैरह की झंझट-मुसीबत उसे ही उठानी पड़ती है। नहीं, कहीं शिकवे-शिकायत की जगह नहीं थी और दोनों अपने-अपने काम आपस में प्रेम की डोर में बंधे हुए सहज भाव से निभाते जाते थे।

स्त्री-पुरुष पक्ष और विपक्ष नहीं

यह किसने कहा कि वह भी घर हो सकता है जिसमें बाहर की ओर खुलने के लिए दरवाज़ा न हो? इस दरवाजे की राह में ही बाहर भटककर पुरुष भीतर घर में आराम की सांस लेने को आ जाता है। उसी द्वार से स्त्री भी, स्पर्धा में नहीं और न अर्जन भावना में प्रत्युत धर्म की आराधना में, बाहर आएगी और अपने व्यक्तित्व के लिए हर प्रकार की यथेष्ट विस्तीर्णता अपनाएगी। किसी ओर से उसका व्यक्तित्व कुण्ठित रह जाए, इसका समर्थन नहीं है, न उसकी संभावना शेष रहने दी जानी चाहिए। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि अगर स्त्री को पुरुष की स्पर्धा में डाल दिया जाता है तो उसमें कुण्ठा-कृत्रिमता अनिवार्य हो जाएगी। तब स्त्री और पुरुष आपस में पक्ष और विपक्ष बनकर एक दूसरे को पूर्ति नहीं देंगे, केवल क्षति दे पायेंगे। फिर उससे दोनों ओर व्यक्तित्व खण्डित ही होगा। पुरुष अपने में अधूरा है, स्त्री भी अधूरी है। उनका अलग-अलग मोक्ष नहीं है, उनकी सृष्टि ही इसलिए हुई है कि वे परस्पर अहंता की धार को झाड़ें और अपने में एक स्निग्धता और समंजसता सिद्ध करें। जहां यह नहीं है वहां रगड़-झगड़ है और उस कारण फिर सारे समाज में मानो एक तनाव की स्थिति बन आती है।

अधिकार-चेतना की बुनियाद पर स्त्री-पुरुष की स्थिति के या उनके संबंध के प्रश्न पर विचार करना श्रेयस्कर नहीं हो सकेगा। इस चेतना को कर्तव्य की भूमिका पर अधिष्ठित करना होगा। उस रोज जो कहा गया था उसका आशय यही था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम में योग और काम में वियोग

स्त्री-पुरुष के बीच वह कौन सी शक्ति है जो उन्हें जोड़े रहती है और अलग नहीं होने देती। और फिर क्यों दोनों अलग-थलग हो जाते हैं? क्या वह शक्ति प्रेम है? अगर प्रेम है तो क्या प्रेम कभी टूटता-जुड़ता है?

—शक्ति तो मूल प्रेम ही है, पर प्रवाह में सिरों पर व्यक्तियों के स्वत्व के साथ मिलकर प्रेम कुछ काम का रूप भी लेने को विवश होता है। प्रेम से योग बनता है, लेकिन काम के कारण उसमें वियोग भी सम्मिलित होने लगता है। वियोग अर्थात् पार्थक्य। इस पृथकता में अंतर और व्यवधान पड़ता और वहां बराबर द्वंद्व का भान बना रहता है। इसी से संयोग दूर रह जाता है और व्यक्ति को संभोग पर ही आकर बार-बार पछाड़ खाना पड़ता है! परिणाम यह कि काम की उपस्थिति के कारण स्त्री-पुरुष के बीच आसक्ति और विरक्ति की समस्या सनातन बनी रहती है। उसका समाधान स्वयं प्रेम से अन्यत्र कहीं नहीं है। जिसमें निजता न रहे ऐसा काम निष्काम होकर प्रेम बन जाता है और निर्वैरता, द्वेष-मुक्तता और अहिंसकता का रूप ले लेता है। वीतरागता भी वही है।

स्त्री-पुरुष : एक दूसरे से बचने में मुक्ति नहीं

स्त्री-पुरुष के मध्य इस शुद्ध प्रेम के संचरण की साधना अथवा सिद्धि अशक्यप्राय जैसी लगती है। इसलिए उस शुद्ध प्रेम के विश्वासी जनों ने शारीरिक ब्रह्मचर्य की कल्पना को परस्पर अस्पृश्यता की सीमा तक खींच डाला। इसको मैं अपलाव ही मानता हूं। एक दूसरे से बचकर किसी की मुक्ति नहीं है। वह बचना संभव ही नहीं है। वैसी कोशिश इसलिए एक प्रकार की हठवादिता है। पुरुष पौरुष के बल पर कभी अपने अधूरेपन से नहीं मुक्ति पा सकता, न स्त्री अपने स्त्रीत्व में रम-रिस कर पुरुष को अपने निकट अनावश्यक बना सकती है। भगवान तो न पुरुष है न स्त्री, इसलिए रूप देने के आग्रह में उस अर्धनारीश्वर कहना पड़ा है। ब्रह्मचर्य इस अर्धनारीश्वर की स्थिति के अभ्यास को ही कह सकते हैं। यहां देह-स्पर्श कोई दोष होने के बजाए अभ्यास-क्रम के धर्म तक हो सकता है। स्पर्श-धर्मिता की कोटि तक पहुंचा हुआ ब्रह्मचर्य ही कामजन्य हमारी समस्याओं के शमन का उपाय है।

ब्रह्मचर्य और रोमांस

क्या स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं? और क्या ऐसा भी संभव है कि वे संतान भी उत्पन्न करें और ब्रह्मचारी भी रहें? अगर ऐसा है तो क्या ब्रह्मचर्य में शरीर-स्पर्श, संभोग आदि प्रक्रिया को उचित ठहराया जा सकता है? तो फिर ब्रह्मचारी और अब्रह्मचारी के बीच फर्क क्या है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

—स्त्री और पुरुष के बीच का आकर्षण ब्रह्माण्ड में अव्याहत व्याप्त है। ब्रह्माण्ड मैं जानबूझकर कह रहा हूं, नहीं तो उस आकर्षण को उस दुनियां के जीव-जगत में ही व्याप्त कहा जा सकता था। पर पृथ्वी क्यों सूर्य की प्रदक्षिणा के लिए विवश है? और क्यों चन्द्र पृथ्वी की परिक्रमा में नियुक्त है? इसमें भी उसी प्रकार के आकर्षण की विद्यमानता मैं स्वीकार करता हूं। यह परस्पर आकर्षण क्या ब्रह्म के बाहर और कहीं से आ गया? ब्रह्म वही है जो कुल है और अखिल है, अद्वैत है और अविभाज्य है। ब्रह्म की चर्या उस आकर्षण के इंकार से आरंभ नहीं हो सकती। बल्कि यह इंकार का आग्रह ही है जिसको अब्रह्मचर्य कहना होगा। ब्रह्मचर्य उसकी अकुण्ठित और समग्र अंगीकारता का नाम हो भी सकता है। व्यक्तियों के परस्पर आकर्षण द्वारा, और उसके उपलक्ष्य से, हम सब परम और चरम सत्य के प्रति ही बलात् आकृष्ट हो रहे होते हैं। स्त्री-पुरुष-आकर्षण में आरंभ में अद्‌भुत रोमांच (रोमांस) की अनुभूति रहती है। शारीरिकता का या भोग-भाव का आभास भी वहां नहीं होता। अनुभव होता है कि मानो एक दैवी भाव में चेतना उठ आई हो। एक दूसरे में हठात् देवत्व के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रेम की विभूति को इंकार जो करे उसे क्या नास्तिक ही नहीं कहना चाहिए? ब्रह्मचर्य की दृष्टि से मैं उस दिव्यानुभूति को बहुत ही सार्थक मानता हूं।

रोमांस की दिव्यता-भव्यता

बाधा केवल यह है कि हमारा परस्पर का प्रेम मोहमुग्धता में मानो उपलक्ष्य में ही लक्ष्य-बुद्धि टिका लेता है। किन्तु रोमांस की अवस्था में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के लिए प्रतीकवत् होते हैं, वे उस क्षण परस्पर के लिए दिव्य रूप ले उठते हैं। प्रेयसी में अप्सरा दीख आए और प्रेमी देव-पुरुष प्रतीत हो तो यह भाव स्थायी इसलिए नहीं हो पाता कि प्रेम के पीछे ही कामना आ उतरती है। उपलक्ष्य लक्ष्य का प्रतिनिधि और प्रतीक-मात्र है—यह दर्शन हमें स्थाई भाव से प्रत्यक्ष हो सके तो प्रेमी और प्रेयसी के द्वार से ही परमात्म-दर्शन की राह हमारे लिए खुल रहती है। सघन प्रेम का ही नाम आस्था है। इस आस्था की अपूर्णता के कारण परस्पर मोह उत्पन्न होता है; उपलक्ष्य, लक्ष्य को ढककर लुप्त कर देता है और प्रेम भोग में लिप्त हो बैठता है। परिणाम यह कि रोमांस उड़ जाता है, दैवी-देवता आपस में नर-नारी निकल पड़ते हैं और जहां से कभी दिव्य भाव की उपलब्धि हुई थी, वहीं घृणा और जुगुप्सा उग चलती है।

शरीर-स्पर्श में भय क्यों?

उस मोह और भोग से डरकर अगर स्त्री-पुरुष के बीच के आकर्षण में व्याप्त प्रेम-तत्व का ही हम किसी माने हुए ब्रह्मचर्य के हठ में तिरस्कार कर निकलेंगे, तो ब्रह्म की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चर्या से उल्टे शुद्ध अहं की चर्या में जा गिरेंगे। स्थूल सदेह मूर्त व्यक्ति के रूप में जिस दिव्य का दर्शन हमें प्राप्त हुआ है उसको यदि हम पकड़ लेना नहीं चाहेंगे, बल्कि उसके प्रति अपनी अभ्यर्थना-आराधना के भाव को अक्षुण्ण रखेंगे, तो वही दैहिक तल पर उपजा प्रेम हमको दिव्य साक्षात्कार तक ले जाएगा। जो अंतिम है, असीम है, अद्वितीय और परम है वह तो सदा हमें अगम ही रहने वाला है। उसकी झांकी चाहें तो रूपाकारमय इस जगत में ही हम प्राप्त कर सकते हैं। प्रेम प्रभु का वही प्रसाद है जिसकी क्षमता से हमारी इंद्रियां रूपाकारमय होकर फैली हुई इस समस्य सृष्टि में उन अरूप की दिव्यच्छटा का दर्शन कर आती हैं। इस तरह प्रेम मनुष्य के पास ईश्वर प्रदत्त अमूल्य विभूति है। वह प्रेम काया से कैसे डर सकता है जब कि उसे वरदान है कि वह उसमें भी ईश्वर की झलक देख सके।

अप्रेम और अविश्वास अब्रह्मचर्य के लक्षण

मैं मानता हूं कि भय अ-ब्रह्मचर्य का प्रमाण है। वह भय सदा भोगकांक्षा में से उत्पन्न होता है। ईश्वर की कृपा है कि इस भय का उपचार उसने उस आकांक्षा में ही रख दिया है। स्त्री-पुरुष, आकांक्षा की तीव्रता में डरते-डरते एक दूसरे के पास आते हैं। यह विवशता काम-चेष्टा में गर्भित है। भय टूटता तो आघात, या उसके आमंत्रण का रूप लेता है। फिर परिरंभण और भोग में उसकी परिणति होती है। किन्तु भोग द्वारा भय से मुक्ति पाने का उपाय स्थायी नहीं होता। सच्चा उपाय प्रेम है, वह प्रेम कि जिसमें न वर्जन है, न मांग है। किंतु जो उस भय में अ-प्रेम को, अर्थात् एक दूसरे की विमुखता को, अपना बैठते और उस आकर्षण से लड़ने को ही ब्रह्मचर्य की साधना ठान लेते हैं, वे अंत में प्रवंचना में ही पड़ते हैं।

स्त्री और पुरुष के बीच जो प्रेम और विश्वास की जगह अप्रेम और अविश्वास को स्थान देता है,वह कभी ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता। बल्कि अप्रेम और अविश्वास ही अब्रह्मचर्य का लक्षण है। ब्रह्मचर्य परस्पर प्रेम और विश्वास की पूर्णता की ओर उठने का प्रयास ही है और देखा जाएगा कि प्रेम से वह लड़ता नहीं है, बल्कि उसको अपनी दिव्यता में उठाता चला जाता है।

स्त्री-स्त्री की मैत्री

स्त्री पुरुष की ओर और पुरुष स्त्री की ओर आकर्षित होता है, तो क्यों? और क्या पुरुष पुरुष की ओर और स्त्री स्त्री की ओर आकर्षित नहीं होती? यदि इनमें भी परस्पर आकर्षण होता है तो उसे क्या कहिए, क्या उस आकर्षण प्रत्याकर्षण के पीछे शरीर-स्पर्श की आकांक्षा काम कर रही होती है? बच्चों के प्रति एक विशेष प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आकर्षण होता है और उन्हें प्यार करने में अतुलनीय आनंद मिलता है। वहां वासना नहीं, वात्सल्य होता है। युवक-युवती का प्रेम कुछ और ही किस्म का होता है, उसमें वासना गर्भित होती है। क्या कभी यह संभव है कि स्त्री-पुरुष का प्रेम भी बच्चों के प्यार जैसा शुद्ध हो?

—आकर्षण अनिवार्यता से सर्वत्र इसलिए व्याप्त है कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड एक और अखण्ड है। ऐसे कोई दो अस्तित्व नहीं हो सकते जिनमें आकर्षण अथवा विकर्षण का संबंध न हो। परस्पर असंबद्ध यहां कुछ है नहीं। इसलिए पुरुष-पुरुष अथवा स्त्री-स्त्री में क्यों मैत्री नहीं हो सकती? बच्चों के प्रति ललक होना स्वाभाविक है और इस वात्सल्य को स्वच्छ और शुद्ध माना जाता है। किन्तु सभी प्रकार के परस्पर आकर्षणों को प्रेम के अंतर्भूत मान लेना चाहिए।

शुद्धाशुद्ध की धारणा किंतु सापेक्ष्य है। विवाह-पूर्वक दाम्पत्य-संबंध शुद्ध और धार्मिक है। विवाह के अभाव में उसे व्यभिचार माना जाता है। इसमें दोष आकर्षण का नहीं है। वह अंतर समाज-मान्य वेध, वैधावैध की धारणा के कारण आता है।

वासना और वात्सल्य में एक को अशुद्ध और दूसरे को शुद्ध कहने का रिवाज है। ये शब्द समाज व्यवहार के लिए उपयोगी भी होते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधान में किंतु ये विशेषण ऊपर ही छूट रहते हैं।

नर-नारी संबंध

जिसको वासना कहते हैं, दुर्घटनाएं परस्पर उसी को लेकर बना करती हैं। उस आकर्षण में अधिक अमोघता और अदम्यता है, घोरता वहीं से उपजती है। इसलिए शायद उसको अधिक तत्पर विचार और महत्व का तत्व मान लेना उचित ही है। प्रेम की उत्कटता उसी संबंध में से सृष्टि या ध्वंस करती है। इधर जघन्य और उधर धन्य भाव की अनुभूति इसी परस्परता में से संभव है। क्रूरता और हत्या भी निकल सकती है और पराकाष्ठा का दाक्षिण्य और उत्सर्ग भी। प्रेम के अन्य संबंध आंशिक और नैमितिक माने जा सकते हैं। किन्तु वह नरनारी संबंध जिसमें व्यक्ति विवश होकर अपने को खो रहता है, जिसमें वह परस्पर के द्वारा क्षण के लिए मानो अपना अनस्तित्व सिद्ध और लब्ध कर आता है, जिसमें अन्य के द्वारा स्वयं टूटकर व्यक्ति अपने को कृतार्थ और परिपूरित अनुभव कर आता है, उस सर्वगासी प्रेम को अनन्य ही मानना चाहिए। वह भौतिक भाव से परस्पर में पूर्ति देता है और उसमें एक दूसरे से बचाव संभव नहीं है।

स्त्री-पुरुष के बीच का हर प्रेम वासनामूलक और इसलिए अशुद्ध होता है, यह कहना एक अपेक्षा से सर्वथा अवैज्ञानिक नहीं है। किंतु स्त्री-पुरुष अगर एक दूसरे के लिए ऐसे उपलक्ष्य रहते हैं कि जो लक्ष्य के प्रतिरूप और प्रतीक होकर स्वयं से मानो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतीत हो आएं, तो यही प्रेम दिव्यता प्राप्त कर उठता है। भोगानंद क्षणिक होता है। क्षण की सीमा तोड़कर यदि निरंतर और सतत हो आ सके तो वही ब्रह्मानंद है। उस प्रकार योग भोग का इंकार न रह कर उसका उत्कृष्ट उदात्तीकृत स्वरूप हो आता है। पूर्णता और मुक्तता से पहले क्या हर स्थिति सदोष नहीं है? किंतु निर्दोषता एक ऐसा आदर्श है कि जिसकी ओर की यात्रा में सदोषता भी सहायता और उपादेय बन आती है। याद रखना चाहिए कि होना स्वयं में एक बाधा है, दोष है। इस भवता से पार ही निर्दोषता और शुद्धता हो सकती है। इसी संदर्भ में काम और कामना को सदोष और अशुद्ध माना जा सकता है। किन्तु उनके द्वारा जो प्राणोर्जा अपने को प्रगट कर आती है, वह स्वयं में अंतिम शुद्धता के ध्रुव तक जाए बिना रह या रुक नहीं सकती हैं। इस सतत प्रकर्षमान अभीप्सा में अंतर्निहित चित्-तत्व के कारण काम को वर्जनीय नहीं ठहराया जा सकता। बल्कि धर्मपूर्वक उसके स्वीकार, सत्कार और सहकार से मोक्ष की ओर प्रगति होती है, ऐसा कहा गया है। ऐसा कहा उन्होंने है जो जानते थे। आगे जो जानेंगे वे भी ऐसा ही कहने को बाध्य होंगे।

एक हठीली भ्रांति

यह तथ्य सभ्यता ओर संस्कृति की विकास-प्रक्रिया में निर्माण पाई हमारी सामाजिक संस्थाओं और अनुष्ठानों में रचा और समाया देखा जा सकता है। विवाह धार्मिक और मांगलिक संस्कार है। उस आकर्षण को जिसे अन्यथा वासना कहकर निषिद्ध बना दिया जाता है, विवाह के अभिषेक से मानो हम मंत्रपूत, धर्म्य और वरेण्य बना लेते हैं। तब जो भी उसमें ध्वंसात्मक और ज्वलनशील है, वह रचनात्मक और चिन्मय हो आता है।

शुद्धता और पवित्रता की वह धारणा जो स्त्री और पुरुष के बीच अलगाव और दुराव रखने में ही साधना की सार्थकता देखती है, एक हठीली भ्रांति की ही द्योतक है। उस दिशा में वीरानगी है व्यर्थता है; कृतकृत्यता और कृतार्थता की कोई संभावना उस दिशा में नहीं हो सकती है।

प्रेम का स्वभाव और उस पर पहरेदारी

क्या प्रेम का स्वभाव क्षणिक होता है? क्योंकि देखने में यह आता है कि अभी जिन दो जनों में बहुत प्रेम था, कुछ दिनों बाद वह ईर्ष्या का रूप ले बैठा और प्रेम पता नहीं किधर दुबक गया। जो यह परस्पर आकर्षण और प्रेम की बात है वह मनुष्य की वृद्धावस्था में कमजोर पड़ता देखा गया है। क्या आयु के साथ प्रेम घटता-बढ़ता है? या कहीं ऐसा तो नहीं कि वह आकर्षण और प्रेम मनुष्य से उठकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है? पर जो नास्तिक हैं, उनका प्रेम कहां जाता, और किस पर अर्पण होता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

—प्रेम चंचल जो दीखता है सो इस कारण कि हम उसके विषय को स्थिर मानना चाहते हैं। किंतु चिन्मय होकर वह कहीं बंध कैसे सकता है? उसकी इस गतिशीलता और विचरणशीलता से उनको निराशा होती है जो टिकाव और ठहराव का उसमें आरोपण चाहते हैं। प्रेम से जो इस स्थिरता की अपेक्षा रखेगा वह ठगा जाएगा। प्रेम-विवाह अक्सर इस भ्रांति से आरंभ होने के कारण आगे जाकर घोर निराशा की चट्टान से टकराकर टूटते दिखाई देते हैं। वहां पर फिर उदासीनता और सह्यता का भाव तक रखना कठिन होता है, इतना वैषम्य जग उठता है। अक्सर प्रेम विवाह में कुछ ही काल बाद तनाव इतना पैदा होने लगता है कि वह हिंस्र रूप ले लेता है। इसमें दोष प्रेम का नहीं है, दोष विवाह द्वारा उसे बांधकर यह समझ लेने का है कि वह चिरस्थायी रहेगा। प्रेम की प्रकृति के ही अनुकूल यह नहीं है। उस आशा पर रचा गया विवाह अकृतार्थ न हो तो होगा क्या। विवाह की सफलता कर्त्तव्यता और विवेक के रास्ते से ही प्राप्त हो सकती है, प्रेम पर आधिपत्य की दावेदारी और घेरेबंदी से कभी नहीं।

शर्त और दावा प्रेम को उड़ा देगा

अर्थात् प्रेम में प्रतिदान की अपेक्षा नहीं है, वह बेशर्त है। जहां शर्त आयी, अपेक्षा जगी, जरा भी दावा हुआ कि प्रेम उड़ जाता है। प्रेम मुक्त है और हर बंधन उसे अप्रेम में परिणत कर दे सकता है। अपनी इस प्रकृति के कारण, हम लोगों को जो हमेशा परस्पर अपेक्षाओं से ग्रसित रहते हैं प्रेम क्षणिक प्रतीत हो आता है। वास्तव में वही है जो शाश्वत है। हम क्षण-क्षण में रहने के कारण उसको भी क्षणबद्ध रखने की चाह से मुक्त नहीं होते। प्रेम सर्वव्याप्त हुए बिना रुक नहीं सकता है, सो उसी कारण क्षणिकता का दोष हम उस पर डालते हैं। सच में वह दोष हमारी अपनी स्व-रति और स्वार्थता का होता है।

आयु और प्रेम का परिपाक

हां, आयु के साथ प्रेम में अंतर आता दीखता है। अंतर न आए तो आयु की ही सार्थकता समाप्त हो जाती है। बचपन की जिद आयु पाने पर निभ नहीं सकती। आयु बढ़ने के साथ आदमी को यह सीखना ही पड़ता है कि अहंता से नहीं चलता है, और आग्रह वहीं तक निभ पाता है जहां तक उसमें अन्य के समावेश की क्षमता होती है। इसलिए वार्धक्य आने तक व्यक्ति निरपेक्ष और निराग्रही प्रेम का मूल्य समझ जाता है। इंद्रियां भी तदनुसार अनाग्रही या चाहे कहो अशक्त होने लगती हैं। चाह भीतर की अशक्त होती हो सो नहीं; मानो स्थूल पर वह नहीं रुक रहती, सूक्ष्म अव्यक्त की ओर मुड़ना चाहने लगती है। इसलिए उसमें कर्म की शिथिलता और चिंतन की प्रमुखता हो आती है। ईश्वरोन्मुखता भी कहो तो कह सकते हो, क्योंकि अंतिम अव्यक्त वही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें आस्तिक नास्तिक के भेद की बात ही कहां है ? ईश्वर अस्ति-नास्ति दोनों से पार है, या कहो दोनों भाषाओं के सहारे उसकी राह चला जा सकता है। ईश्वर, भगवान, परमेश्वर न कहा, लाइफ-फोर्स, कास्मिक एनर्जी, लेटेंट ट्रुथ आदि कह दिया। अंत में प्रश्न यह शब्दों का ही रह जाता है। अपनी आस्था के मूल या ध्रुव को हम चाहे जिस शब्द से अभिहित करें, अंत में हमारा प्रेम उसी ध्येय की ओर एकाग्र और अभिमुख रहने को है। इससे दूसरा कुछ आदमी के साथ संभव नहीं है। जो भाव के मूर्त अथवा विज्ञान के अमूर्त शब्दों का सहारा पकड़ कर मानव-प्रेम से, अर्थात् नर-नारी प्रेम से, सहसा उत्तीर्ण और असंपृक्त हो रहना चाहते हैं वे भूल में है। लक्ष्य यदि स्रष्टा है, पहुंचना आदि कारण तक है, तो यह प्रत्यक्ष सृष्टि और कृति अनिवार्य रूप से उसी अनादि और अंतिम की मूर्त उपलक्ष्य और प्रतीक है। भेद नहीं, उनमें अभेद है, और प्रेम अपने परिपाक में स्थूल से सूक्ष्म की ओर उठता जाता है। इस उत्कर्षण और उन्नयन में स्थूल का सत्कार समाप्त नहीं होता, बल्कि उसमें ही उत्तरोत्तर सूक्ष्म का आविष्कार होता आता है।

परिवार नियोजन : गणित का जोड़ बाकी

परिवार में दो या तीन ही बच्चे हों, इसके लिए क्या कृत्रिम साधनों का उपयोग नैतिक है ?

—परिवार नियोजन के अकृत्रिम साधन भी तो मौजूद हैं। उनको इन्कार कर कृत्रिम साधनों की शरण लेने से भोगाचार को बढ़ावा मिल सकता है। दायित्व और परिणाम से तब भोग मुक्त हो जाएगा, इंसान भोगवाद को पशुता की हद तक ले जाने से डरेगा नहीं, इससे मनुष्यता जीर्ण होगी और सभ्यता को गहरी क्षति पहुंचेगी। बढ़ती जनसंख्या से जो भय पैदा किया जा रहा है, वह तर्कहीन यद्यपि नहीं है पर प्रश्न के स्वरूप को टेढ़ा-मेढ़ा अवश्य कर देता है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की विषमता के विचार से हटाकर वह जैसे एक शुद्ध मानवीय प्रश्न को सीधे-सीधे गणित के जोड़-बाकी का सवाल बना देता है। जनसंख्या इतनी और खाद्य उत्पादन की क्षमता इतनी, जनसंख्या की बढ़वारी का अनुपात यह, खाद्योत्पादन की वृद्धि की संभावना की सीमा मात्र यह। इसलिए परिवार नियोजन अत्यन्त आवश्यक और उसके कृत्रिम साधनों का उपयोग एकदम अनिवार्य। इत्यादि तर्क से हम परिवार नियोजन की योजना पर करोड़ों-करोड़ रुपया खर्च करने तक आ उतरते हैं और यह सोचने से बच जाते हैं कि इतने करोड़ रुपये का और इतनी प्रभूत जनशक्ति का व्यय यदि बेरोजगारी को और दरिद्रता को मिटाने में लगता तो यही प्रश्न कितनी दूर तक हल्का पड़ सकता था। समाज और राज के व्यवस्थापकों की कुशलता है कि प्रश्न को इस प्रकार हौवा बनाकर रख दिया जाता है कि करोड़ों रुपये का बजट इस मद के नाम पर स्वीकार हो जाता और सरकारी नौकर और लवाज़मे की संख्या में और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ोतरी हो जाती है। क्या इस संदर्भ में यह तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार मुफ्त खाने वालों की तादाद बढ़ जाती और उनके लिए उपजाने वालों की संख्या घटा डाली जाती है। क्या यह झूठ है कि जो खाली, बेरोजगार और अभावग्रस्त रहते हैं उन्हीं परिवारों में सन्तति की अधिकतर अधिकता हुआ करती है। उच्च, मध्य और निम्न श्रेणियों में संतति का अनुधत उल्टा देखा जा सकता है। उच्च वर्ग समृद्ध और संपन्न है, पर बच्चों का निधि-दान समाज के प्रति देते रहने से बचता है। निम्न वर्ग के लिए मानो मैथुन ही एक मनोरंजन और जीवन में से जीने लायक रस पाने का एक साधन रह जाता है। आप उनके पास कृत्रिम साधन लेकर तो पहुंचते हैं और उस पर करोड़ों-करोड़ खर्च करना जायज मानते हैं, पर उनके खाली हाथों के लिए कोई उत्पादक रोजगार लेकर पहुंचाने की नहीं सोच पाते। क्यों उस दिशा में सूझ-बूझ नहीं जाती? क्यों असली प्रश्न का मुकाबला नहीं किया जाता? क्यों युद्ध का रोजगार जारी रखा जा रहा है और करोड़ों की तादाद में लोग सिपाहीगिरी के काम के लिए रोक रखे गए हैं? क्यों करोड़ों इस काम के निमित्त से सिर्फ तैनात और खाली रहते हैं, क्यों एक युद्ध इरादतन ऐसा नहीं छेड़ डाला जाता कि ये जो एक दूसरे को मारने के लिए ही जी रहे हैं, एक बार ही अभीष्ट पा जाएं और एक दूसरे को खतम कर डालें! तब लीजिए जनसंख्या का प्रश्न एक झपाटे में निबट जाता है!

संयम का मार्ग

जी नहीं, गर्भ निरोध के कृत्रिम साधन नहीं हैं वे साधन जिनसे मनुष्य को और मनुष्यता को बचाया और उन्नत बनाया जा सकेगा। संयम वह मार्ग है और यह झूठ है कि संयम अस्वाभाविक है। अस्वाभाविक वह तब हो जाता है जब आदमी का तन और मन खाली रहता है। अगर मन लक्ष्य और उद्देश्य से भर आए और हाथ सर्जनात्मक श्रम में लग जाएं तो देखिए कि परिवार नियोजित आप ही आप बन जाता है कि नहीं। तब हर बच्चा स्वस्थ होगा और स्वागत पाएगा। बच्चों के प्रति भय और तिरस्कार में से कोई संतति की सेवा सधने वाली नहीं है। जीवन के साध्य और स्वास्थ्य से भरपूर होने के लिए जो फिर प्रेम का आदान-प्रदान नर-नारी के बीच रह जाएगा, उससे कम ही नहीं बल्कि आदर्श संतति भी हमको प्राप्त हो सकेगी। उस दिशा में अपनी समाज-व्यवस्था और अर्थ-रचना को कैसे ढालें यह है वह प्रश्न जो सत्वशील विचारकों के सामने उपस्थित होना चाहिए। वह अधकचरा विचार है जो कृत्रिम साधनों को लेकर दौड़ पड़ता और सिर्फ अनागत बच्चों को बचाता है। इस बचाव में क्या मूल्यवान वस्तु मनुष्य के हाथ से खोई जा रही है, इसको किसी हिसाब में वह विचार लेता ही नहीं है। क्यों अनभीष्ट बच्चों की संख्या बढ़ती जाती है और क्यों वे ही बच्चे अभीष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बन पाते हैं? क्यों यह प्रस्तुत प्रश्न समाज विचारक के ध्यान से बच जाता है और जनसंख्या का परोक्ष भूत सिर को फेर देता है? रूस को बच्चे चाहिए, भारत में बच्चे अनचाहे हैं। क्यों हैं कि भारत के बच्चे रूस द्वारा नहीं चाहे जा सकते? हम इन झमेलों को, जो मानव-व्यवस्था और विश्व-व्यवस्था में हमने पैदा कर रखे हैं, देखने और निबट लेने के लिए तैयार क्यों नहीं हैं? वहां तो हम परस्पर सशंक और प्रतिस्पर्धात्मक संबंधों को, समरोचित राष्ट्रनीतियों और अन्तर्राष्ट्रीय सैन्य-संधियों को स्वीकार और बरकरार ही रखे जा रहे हैं। यह विषमता है जो मनुष्य जाति उसकी संभावनाओं को जकड़े हुए है, जो उसको मिलने और खिलने नहीं देती, जिसने विकसित, विकासमान और अविकसित श्रेणियों को मानव परिवार के बीच पैदा कर रखा है! कितनी प्रतिद्वन्द्विताएं हैं जो एक को दूसरे से लड़ा रही हैं, या नहीं तो एक से दूसरे को दूर और तना रख रही हैं। सभ्यता है, पर इस दुराव और तनाव को बड़े मजे से अपनी गोद में वह पोसे जा सकती है। क्यों है कि सभ्य देशों में रंग-भेद और रंग-द्वेष इतना विकट है! गोरे और काले रंग ही तो हैं, क्या दोनों इंसान और भगवान की संतान नहीं हैं? पर नहीं, यह सवाल अपने मध्य जलते रहने दिए जा सकते हैं और हिन्दुस्तान में कृत्रिम निरोध के साधनों का करोड़ों-करोड़ वाला अभियान छेड़े रखा जा सकता है! मुझे तो यह उन चतुर प्रवीणों की बुद्धि का खेल दिखाई देता है जो आग से जलते सवालों से आम आदमी का आमना-सामना नहीं होने देना चाहते और इन पत्तों-पत्तों की बातों पर उन्हें अटकाए रखना चाहते हैं। पर वह चतुर नहीं औंधी बुद्धि साबित हो आने वाली है। गोरा रंग ही भगवान का खास प्यारा नहीं है, यह दूसरे रंग के लोग साबित किए बिना चैन कैसे लेंगे? अफ्रीका बड़ा देश है और वहां कम बसावट हैं। लेकिन अफ्रीका में नये स्वाधीन देश जनमे हैं और एशिया में भी औपनिवेशिक रूप के अनेक देश स्वतंत्रता में जाग उठे हैं। उन्हें इस धरती पर अपने मान के योग्य स्थान पाना है और पुराने दैन्य भाव में बुझे ही नहीं रहना है। ये और ऐसे प्रश्न हैं जिनको किनारे नहीं किया जा सकता, झूठ-मूठ के सवालों से उनको ओझल नहीं बनाया जा सकता।

परिवार का प्रश्न छोटा प्रश्न नहीं है। किन्तु वह प्रश्न सांस्कृतिक है, मात्र गणितीय नहीं है। संतति नियोजन का नहीं है, पारिवारिक विघटन और विभंजन का है। मुझे प्रतीत होता है कि आर्थिक सभ्यता ने यह आंकिक दृष्टि दी है और संतति निरोधन को इतना संभ्रम पहना दिया है। पर सभ्यता वह मानवीय मांगों की बढ़ती हुई चुनौतियों के उत्तर में टिकेगी भी कि नहीं, यही संशय और प्रश्न बाद में आते हैं और आएंगे। और मैं मानता हूं कि जिस संस्कृति में संयम अशक्य और निरोध ही मात्र शक्य बताया जाता है। वह कही मूल में भ्रांत है और उसके निदान की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ-मूल्य और पूरे मनुष्य की खोज

संतति नियमन का प्रश्न आर्थिक बन चुका है और इसी के इर्द-गिर्द हमारी दृष्टि जाती है। पर सवाल यह है कि क्या मानव-मूल्य आर्थिक है, जिसका निदान अर्थ में ही खोजा जा रहा है? आर्थिक असमर्थता के कारण मानव जन्म को विनष्ट करने की चेष्टा को ही क्या विकास कहा जाएगा?

—भाई, यही तो मैं कहता आ रहा हूं कि वह अर्थ-दृष्टि सही नहीं है जिसने यह नौबत ला दी है। उस दृष्टि के नीचे लोलुपता है, सभ्यता नहीं है। वह सभ्यता नहीं है जो मानवीय हो। सभ्यता है तो वह जो मानव-इष्ट को मानव से अलग किसी दूसरी उपलब्धि अथवा आकांक्षा में देख ले गई है! तनिक अनुसंधान से पाया जा सकेगा कि वहीं कुछ चूक हुई है। मानव नितान्त पार्थिव प्राणी नहीं है। उसके मन में आकाश भी है और धन्यता के लिए आंखों में सपने हैं। जब समूचे अभीष्ट को पार्थिव भाषा में ठहरा लिया गया तभी मनुष्य के साथ अलक्ष्य में गहरा अन्याय हो चला। उसकी स्पृहा प्रतारित होने लगी जो जय-विजय की नहीं, प्रेम प्रीति की थी। जिनका आकांक्षा उपार्जन से अधिक विसर्जन में थी और तृप्ति संग्रह से अधिक उत्सर्ग में; जो बटोरना नहीं, लुटाना चाहती थी। यह आकांक्षा और अभीप्सा मनुष्य की प्रकृति में अंतर्व्याप्त थी और विस्तार या जीत की अभिलाषा से कम गहरी न थी। शायद हो कि वही अधिक गहन और अधिक गहरी हो। मानव जाति के सर्वश्रेष्ठ और मूर्धन्य पुरुष वे हुए जो इसी अपार्थिव अभीप्सा के प्रतीक थे। उनके प्रति मानवता का आकर्षण कभी, या अब भी, कम नहीं हुआ है। पर आदमी ने उनको आदर्श के साथ पर टांग दिया है और इस तरह अपने नित्य-नैमित्तिक जीवन-व्यवहार के लिए मानो असंगत बन जाने दिया है। गिरजे, मस्जिद और मंदिर में उन्हें पूजा-अर्चना दी है, पर अपनी रीति-नीतियों से भरसक बाहर रखा है। उन गहन-गम्भीर अभीप्साओं की पूर्ति मान ली है भावभीनी भक्तिमय उपासना में, किन्तु बुद्धि को उस भावना से स्वतंत्र और निरपेक्ष रहने दिया है। और फिर उस बुद्धि-सृष्ट ज्ञान-विज्ञान को ही सर्वस्व मानकर अपने को सर्वथा उन्हें सौंप दिया है। वही है यह सभ्यता जिसने चमत्कार ही चमत्कार उत्पन्न किए हैं, भावना के क्षेत्र को जिसने क्षीण और रसहीन हो जाने दिया है। वैसे भाव-सम्पन्न पुरुष उसके गति-वेग में हीनमूल्य होते चले गए हैं, और मानो समूची मूल्यता की दृष्टि ही अधूरी और एकांगी होकर रह गयी है। वह अर्थ से घिर आयी है और अर्थ स्वार्थ के रंग से रंग गया है। निश्चय ही उस अर्थ और स्वार्थ को व्यापकता मिली, किन्तु राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थ-प्रतियोगिता, प्रतिद्विन्द्वता और संघर्ष की आवश्यकता से वे प्रयोजन छूट न सके और युद्ध की विकरालता बढ़ती चली गयी। आज भी मूल में स्पर्धा आर्थिक और स्वार्थाधारित है जिसकी रक्षा के लिए शस्त्र-सैन्य-बल को समृद्ध रखा जाता है। किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या अणुशक्ति के आविष्कार के साथ उस गली का अन्त नहीं आ गया है? और क्या नितांत मनुष्य के लिए उस दिशा में कुछ भी शेष बचा रह जाता है? लगता है कि नहीं, आर्थिक पर्याप्त नहीं है, स्वार्थिक के साथ मनुष्य के भीतर जो पारमार्थिक भूमिका पड़ी है उसका योग और ध्यान भी आवश्यक है। प्रतिद्वन्दिता के पार एक तट है जिसका दर्शन यह पारमार्थिक दृष्टि दे सकती है। तब यदि प्रतिद्वन्द्विता होगी भी तो वह स्वयं में साध्य नहीं रह जाएगी, उस पारमार्थिक साध्य और आराध्य के मार्ग की यात्रा का एक निमित्त मात्र रह जाएगी। तब हमारी प्रतियोगिताएं साघांतिक होने की आवश्यकता से बच जाएंगी और वे सांस्कृतिक होने लगेंगी। वह अर्थ जिसका हिसाब एक से दूसरे को अलग डालता है परमार्थ के स्पर्श से एक दूसरे के बीच योजक और संयोजक भी हो सकेगा। आर्थिक विकास के क्रम में यह आवश्यकताएं अनिवार्यतया प्रगट भी हो चली हैं। आज भी दीख आया है कि अपने खातिर उन दूसरों को आर्थिक सहायता देना आवश्यक है जो कम हैं, नहीं तो अर्थ की अतिशयता उनकी सम्पन्नता को विपन्नता में बदल डालेगी और वे देश अपने ही अर्थभार के नीचे दब जाएंगे। जाने-अनजाने हम उस पारमार्थिक दर्शन के निकट आ रहे हैं। आवश्यकता इतनी है कि बेबसी से ठेले जाकर नहीं, बल्कि स्वीकार और सत्कार के भाव से हम उस परमार्थ को अपनाएं और योजनापूर्वक समाज और राज की नीतियों में उन्हें उद्धृत एवं व्यवहृत करें।

बुद्धि वैभव को, और उसमें से उत्पन्न पार्थिव ऐश्वर्य को, इस स्वीकृति में फेंक देना नहीं होगा, केवल उसके अभद्र और कदर्य रूप से मुक्ति पा लेनी होगी। तब उस परमार्थ भाव से अनमिल जो भी हो उसको दृढ़ता के साथ इन्कार करने, उसे तज और तोड़ देने की हिम्मत की आवश्यकता होगी। पूर्ण मनुष्य में किसी आधे का दबाव दूसरे आधे पर नहीं आएगा। बल्कि पूर्णता दोनों को भरपूर करेगी और बुद्धि का प्राखर्य और प्राचुर्य आस्था के स्पर्श से केवल स्निग्ध, भव्य और वदान्य ही बनेगा, कोई क्षति उसमें न आएगी।

संयम : सीमा और परिणाम

जो चीज सिद्धांत से सही लगे, और व्यवहार में ठीक न उतरे तो उस सिद्धात को अव्यवहार्य कह कर किनारे कर दिया जाता है। परिवार नियोजन में संयम एक ऐसा ही सिद्धांत है। मानना होगा कि जब संयम आदमी के वश का नहीं रहा तो उसने कृत्रिम साधनों का आविष्कार किया जिससे वह परिवार को नियोजित रख सके। पर इस कृत्रिमता को मैं अनैतिक मानता हूं क्योंकि यह मानव को अप्राकृतिक की ओर ले जाता है और कहिए कि उसे नृशंस बनाता जा रहा है। इस विषय में आपका क्या विचार है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—संयम कोई आदर्श नहीं है। वह जीवन में गर्भित एक अनिवार्यता है। आदर्श बना देने से वह संयम बलात्कार या अत्याचार में भी परिणत हो सकता है। वैसे संयम का परिणाम अधिकांश अनभीष्ट आता है। संयम वह और उतना ही अभीष्ट है जिसमें जीवन को एक रस भी प्राप्त होता हो। जहां वह ऊपर से ताड़न देने लगता है, वहीं से व्यक्ति में विभाजन की तरेड़ और दरार होने की संभावना जग आती है। हमारे जीवन क्रम में लगभग यही हुआ है। संयम में नकार की प्रतिष्ठा हुई है और संयमी आसानी से चिड़चिड़ा और छिद्रान्वेषी बन जाता रहा है। उस संयम का परिणाम इसके सिवा दूसरा आ भी क्या सकता है जो प्रमुखता से वर्जक और ताड़क है। वह ऊपर से शासन करना चाहता है और प्राणों में गर्भित विकास की ऊर्ध्वगामिता को कुंठित कर आता है।

अनावश्यक प्रसाधन

इसलिए प्रश्न किसी आदर्शवादी संयम के अभाव का नहीं है, न वह संयम की दुहाई का है। बल्कि प्रश्न यह है कि क्या हमने मनुष्य के हाथ में पर्याप्त अभिक्रम का कार्य रहने दिया है, मन में पर्याप्त प्रीति रहने दी है? क्या हमारी व्यवस्थाएं और प्रणालियां ऐसी नहीं बन गयी हैं कि आदमी में प्रीति सूखती रहे और हाथ नोंच-खरोंच और छीन-झपट में लग आएं? व्यापार-व्यवसाय के नाम पर चलने वाली प्रवृत्तियों के नीचे कोई कह सकता है कि यही निरपेक्ष शोषण का भाव नहीं है? मेरी जेब जिससे भर आए, वही व्यवसाय बढ़िया क्यों नहीं? मेरा नकद लाभ होता है, इसके अतिरिक्त समर्थन का और क्या प्रमाण चाहिए? इस प्रकार अनावश्यक साधन-प्रसाधन की सामग्रियां तैयार हो रही हैं और उनकी खपत के लिए विज्ञापन का एक बृहद् विज्ञान ही खड़ा हो गया है। विज्ञापन की कला से आज दूसरी बड़ी कला नहीं। यह इसलिए कि मनमानेपन के लिए अवकाश है और सामाजिकता का भाव उस कारण हममें क्षीण से क्षीण होता जा रहा है।

फिर यदि फल यह आता है कि काफी बेरोजगार और भूखे-भूखे रह जाते और मुट्ठी भर मालामाल हो आते हैं, तो इन परिस्थितियों में संयम कैसे स्वाभाविक रह जाएगा? अतिशय जिनके पास है, वे भोग में बढ़े बिना न रहेंगे और जिनके पास नहीं है वे भी पछाड़ खाकर भोग पर ही आकर पड़ेंगे!

श्रम, भूख और भोग

अन्यथा अगर कसकर हम शरीर से काम लेते और पसीना बहाते हैं तो भूख वह कड़कड़ी लगती है कि सामान्य रोटी व्यंजन से बढ़कर हो जाती है। भूख भोग के स्वाद को बढ़ा देती है और श्रम संयम के नाते भूख हमारे लिए स्वस्थ और सहज हो आती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न भूख लाने के लिए वैद्यों की आवश्यकता होती है, न चटखारे के लिए व्यंजनों के इजाद की बात सूझती है। अर्थात् उस प्रकार के जीवन में भोग की क्षमता और स्वादिष्टता भी बढ़ती है और तप-संयम भी अपने स्थान पर सहज भाव में पलता जाता है।

अत: जिसकी मांग है वह कोई संयम का कड़ा आदर्श नहीं है। बल्कि जीवन का स्वस्थ एवं सामाजिक भाव और रूप है। यदि व्यर्थ संतति का प्रश्न है तो वह इस कारण है कि हमने अपने बीच दूसरी अन्य व्यर्थताओं को पैदा कर लिया है जो रस को चूस गयी हैं और जिसके कारण भोग-संभोग में स्वस्थता और बलिष्ठता का लोप हो गया है। ऊब भर गयी है और उसी के उपशम में अनचाही संतान पैदा होती जा रही है।

मैं मानता हूं कि यदि हमारी परस्परता स्वच्छ और स्वस्थ भाव से विकसित होती जा सके तो संयम की यथेष्ट मात्रा अनायास जीवन में व्याप्त हो चलेगी। आखिर पशु से उठकर मनुष्य ने अपने लिए अन्न उगाया, उसको भोजन में परिणत करना आवश्यक किया। छाल, पात, खाल की जगह चर्खे, कर्घे की ईजाद की और वस्त्र का निर्माण किया। जीवन को वह विविध और व्यापक ही बनाता चला गया—तो क्या इसमें उसे अनिवार्य संयम का उपयोग करते जाना न पड़ा होगा? पर इस सब प्रक्रिया में किसी संयम के आदर्श का भूत उस पर सवार न था, बल्कि यह सहज कर्मण्यता की प्रक्रिया थी। इस विकास में संयम पला और भोग की क्षमता भी बढ़ी। भोग उन्नत होता गया तो इसमें महिमा संयम की ही थी। भूख लगते ही उसने जीव को पकड़ कर कच्चा नहीं चबा डाला, बल्कि धैर्यपूर्वक कृषि की धारणा उदित की और श्रम-पूर्वक उसमें जुट गया। भूख और भोग के बीच उसने इस सारे कष्टकर व्यापार की सृष्टि की और इसी में उसकी मनुष्यता की सार्थकता थी।

बाह्य नहीं, आंतरिक संयम

संयम को ऊपर से डालने की कोई जरूरत नहीं है। वैसा संयम प्रतिक्रिया भी उपजा सकता है। संयम तो जीवन के अभियान और अभिक्रम में स्वत: फलित होता है। कारण, प्राणी के प्राणों में प्रेम है और वह अपनी चरितार्थता के लिए सदा ही आकुल-व्याकुल रहता है। उस प्रेम में मैं कहता हूं संयम ही नहीं बल्कि तपश्चर्य भी गर्भित है। उत्सर्ग और बलिदान वहां सहज हो आता है। बस चाहिए यह कि हम उस प्रेम को स्वीकार करें और उसे अवकाश देते चले जाएं।

यहां फिर वही बात दुहराकर कहनी पड़ती है कि अहं-बुद्धि हममें प्रेम के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं छोड़ती। पर को अपना बनाने की जगह उसे अपना आखेट मात्र बना कर वह रह जाती और ऐसे खुद को घाटे में डालती और ठगी जाती है। 'पर' में यदि उपयोग बुद्धि की अपेक्षा, और साथ प्रीतिभाव भी होने लगे तो भोग उसमें टूटता नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल्कि और सघन और सरस हो आता है। काम-तृप्ति यों शायद पैसे द्वारा भी पा ली जाती हो, पर वह क्या तुच्छातितुच्छ नहीं है उसके समक्ष कि जहां प्रेम का पूर्णावेग है और जहां परस्पर कुछ भी बचा नहीं रखा जाता, अशेष दान कर दिया जाता है ? भोग की आतुरता उसी भोग के सत्त्व को क्षीण करती है। संयम ही है जो उसको गांभीर्य और गरिमा दे आता है। और इस संयम को ऊपर से लाना नहीं पड़ता, प्रेम की अंत:प्रकृति में से वह स्वत:स्फूर्त होता है। यहां तक कि प्रेम संयोग से अधिक वियोग की कामना कर उठता और उसी से अधिक तृप्ति का भाव पा लेता है। स्पष्ट है कि यह प्रेम आपाधापी नहीं सिरजेगा बल्कि उसके उपाय और औषधि के रूप में काम आ सकेगा।

मनुष्य के आपसी संबंधों में उसकी रीतियों और प्रणालियों में प्रेम के इस संचार को मुक्त कर देने की बात किसी असंभव संयम के आदर्श को आकाश से खींचकर धरती पर ला देने जैसी नहीं है। वह सहज स्वाभाविक है और मनुष्य के मूल में ही वह निहित है। केवल उसको अविश्वास से वहां कुण्ठित और मूर्छित हो जाने दिया गया है। इस कारण आदमी दिव्यता में उठने के बजाय एक दूसरे की हिंस्र भोगाकांक्षा में टूटने की प्यास से लपलपा आया दीखता है। इस आसक्त लोलुप भोग-वासना के पीछे निश्चय जानिए कि प्रेम की प्रेरणा नहीं है जिसमें से आत्मदान आता है, बल्कि शुद्ध स्वरक्षा की वासना है जो दूसरे को तोड़ने में तृप्ति पाती है। कहने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए कि मनुष्य का यह रंग-रूप उसका आत्मरूप नहीं है। उसकी कृतार्थता का वहां अंश भी नहीं है, बल्कि वह उसका खण्डित और विकृत रूप मात्र है। पूरे मनुष्य को स्वीकारता मिले तो उस विकार का अवकाश भी उतना न रहेगा। और देखिएगा कि संयम और सृजन आप ही नीचे से फूटता आता है और उस संबद्धता से बनी सृष्टि को अनायास खिला आता है।

जनसंख्या, बेकारी और मनुष्य का संस्कारी भविष्य

हमारे देश की जनसंख्या विस्फोटक गति से बढ़ती जा रही है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 1 करोड़ 30 लाख की प्रतिवर्ष वृद्धि हो रही है। यदि इस वृद्धि को रोका नहीं गया तो विनाश अवश्यंभावी है। क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

एक पेट और दो हाथ

—नहीं, एकदम सहमत नहीं हूं। यह नहीं कि चाहता हूं जनसंख्या बढ़ती ही जाए। पर इसलिए कि बढ़ती जनसंख्या के डर के नीचे यह मान लिया जाता है कि आदमी अपने में धन नहीं है, ऋण है। मैं इस स्थापना को एकदम गलत कहता हूं। हर आदमी अगर्चे एक पेट लेकर पैदा होता है, लेकिन साथ ही उसके दो हाथ होते हैं। अगर उन हाथों को भरपूर काम मिले तो उसके एक पेट का प्रश्न उतना बड़ा नहीं रह जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच यह कि हमारी समाज-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था इतनी गड़बड़ है कि आदमी सहारा नहीं बोझ मालूम होता है। जनसंख्या की डर और कृत्रिम साधनों से उसे रोकने के सहज उपाय हमें अपनी समाज-व्यवस्था की विषमता के प्रश्न के विचार से विमुख कर देते हैं। उस राह चल पड़ने पर हम आंकिक विचार के शिकार हो जाते और मानवीय वृत्ति और दृष्टि से झटक जाते हैं। उस गणितीय मानस से सोचने पर आगे यह तक लग सकता है कि वृद्ध, रुग्ण, असमर्थ और विकलांग व्यक्तियों को, जो सिर्फ खाते हैं उपजाते नहीं है, क्यों दयापूर्वक एक साथ समाप्त कर दिया जाए! आप देखिएगा कि केवल अंकाश्रित बुद्धिवाद आगे-पीछे उस परिणाम पर पहुंचे बिना न रहेगा।

इस सबके बाद क्या इस तथ्य पर आपका ध्यान दिलाया जा सकता है कि अपेक्षाकृत धन-साधनहीन वर्ग में जनसंख्या की वृद्धि का अनुपात अधिक है, सम्पन्न वर्ग में वही उत्तरोत्तर कम होता जाता है। जैसे-जैसे जीवन को खुलने का अवसर मिलेगा वैसे ही वैसे स्त्री-पुरुषों की सृजनात्मक शक्ति दूसरी दिशाओं में उपयुक्त होगी और जनसंख्या का विस्फोट अनायास कम होता दीखेगा। संयम सिखाना कठिन जान पड़ता है। किंतु उस संयम को सिखाने की उतनी आवश्यकता ही तब न होगी। जीवन की सार्थकता और परिपूर्णता के अवसर चहुं ओर खुल आएंगे तो उस प्रकार का संयम अपने आप ही सहज और सरस हो आएगा।

मण्डी की होड़ और सिक्कों की प्रतिस्पर्धा

असल में आज तो हमारी समाज-व्यवस्था ही औंधी है। राष्ट्र-राज्य बने हुए हैं जो एक दूसरे से अपनी रक्षा खोजते और शस्त्र-सेना-सन्नद्ध बने रहने में त्राण देखते हैं। इस सैन्य-सज्जा पर अपार घनराशि खर्च हो रही है। फिर मानव जाति का उद्योग-व्यापार प्रतिस्पर्धात्मक भूमिका पर चलाया जा रहा है। मण्डी की होड़ है और सिक्कों में आपस में तनातनी है। इसमें कितनी मानव शक्ति बर्बाद और व्यर्थ जाती है, कहा नहीं जा सकता। मैं समझता हूं कि गंभीर चिंतन को पहले इस दिशा में लगना चाहिए। तब मालूम होगा कि आंकिक से हार्दिक विचार अधिक युक्तियुक्त हैं। फिर उस नैतिक विचार के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि विज्ञान के सहारे स्त्री-पुरुष संभोग को यदि दायित्व और परिमाण से शून्य बना दिया जाता है तो वह संबंध सारी सांस्कृतिक और कलात्मक संभावनाओं से विहीन होकर निरा पाशव और वीभत्स हो जाता है।

मुझे विश्वास है कि मनुष्य का संस्कारी भविष्य उस दिशा में नहीं है।

हर आदमी अगर्चे एक पेट लेकर पैदा होता है लेकिन साथ ही उसके हाथ भी होते हैं। अगर दोनों हाथों को भरपूर काम मिले तो एक पेट का प्रश्न उतना बड़ा नहीं रह जाएगा। लेकिन जनसंख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि इन दोनों हाथों को काम नहीं मिलता और बेकारी बढ़ रही है। आज एक करोड़ 50 लाख बेकार हैं और हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साल बेकारों की संख्या में 40 लाख की अतिरिक्त वृद्धि हो रही है। इस तथ्य को देखते हुए यह मानना होगा कि बेकारों का भी एक बड़ा कारण जनसंख्या वृद्धि है।

मजबूरन और इरादतन बेकार

—बेकार क्यों बेकार हैं?—क्या यह सवाल आपके मन में नहीं उठता है। वह समाज जिसमें आदमी मजबूरन बेकार बन जाता है क्या अपने आप में रुग्ण नहीं है? समाज के उस अंतरंग रोग से आंख मोड़कर ऊपर के लक्षण को ही आप रोग मान लेंगे तो उससे न बेकारी को रोका जा सकेगा, न जनसंख्या को।

फिर कैसे रोका जाएगा?

—जिन बेकारों की आपने बात कही वे दैन्य और अभाव में रहते हैं। लेकिन मैं कहता हूं कि यह समाज ऐसे भी लाखों-लाख बेकारों को शौक से पाल पोस रहा है, उन्हें हर तरह के सुख साधन दे रहा है, जो मजबूरन नहीं इरादतन बेकार हैं। इतनी संख्या में हमारा देश फौजी सैनिकों को पाल रहा है! उनको काम देने के लिए दस-बीस साल बाद एक आध लड़ाई को तो होना ही चाहिए। बीच की बेकारी में भी उनको हर तरह के सुभीते में रखना जरूरी होता है। क्या आपको नहीं मालूम होता कि यह दुश्मनी का शौक मानव जाति को भारी पड़ रहा है। हमारी राजकीय, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अब तक उस जंगल के नियम से, सोचिए, क्यों निस्तार नहीं पा सकी है कि जिसमें ताकत के ही हाथ सब न्याय और अधिकार हुआ करता है?

ठालीपन का धंधा और बेहया बेकार

छोड़िए इस फौजी सरंजाम को। तो भी क्या हर बड़े शहर के रेस्ट्राओं-क्लबों, और दूसरे ऐसे सार्वजनिक स्थानों में उन ठलुओं का जश्न दिखाई नहीं देता कि जो ठालीपन को धंधे के तौर पर अपनाते और खुशहाल से आगे मालामाल तक बन जाते हैं। खोजने चलिए कि वे क्या करते हैं तो मालूम होगा कि करने के नाम पर वे सिर्फ तिकड़म करते हैं। उसी बिरते वे हर किस्म का रौब और शौक फरमाया करते हैं।

मुझे लगता है कि यह वह सभ्य-शालीन बेकार वर्ग है जिसके रोग की पहले चिंता करनी चाहिए। जिनको बेकार मानकर आप परेशान हैं वे तो बेचारे तैयार हैं कि उनके हाथों को काम दिया जाए। वे उस दृष्टि से स्वस्थ और सही हैं। बेहया-बेकार तो वे हैं जो पहले श्रम से जी चुराते हैं और फिर तिकड़म से धन चुरा लेते हैं।

आपकी जनसंख्या नाम की समस्या समाज के इस कोढ़ को देखकर अनदेखा कर देने के कारण उतनी बड़ी बनी हुई है!

मौज-शौक के फैशन कम कीजिए और जीने के अवसर सबको मिलने दीजिए तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखिएगा कि जनसंख्या समस्या नहीं रहती है, वह समृद्धि और सामर्थ्य का द्योतक बन जाती है। पचास करोड़ भारतवासी अगर अपनी जगह स्वस्थ, सार्थक और समर्थ हों तो क्या वे देश की शक्तिमत्ता के प्रमाण ही न होंगे? धिक्कार है हम व्यवस्थापकों की बुद्धि को कि अपने बल को ही हमने अपनी निर्बलता बना लिया है। मनुष्य को हम अपने यहां पददलित होने देते हैं और बाहर की मशीन को ललचाई आंखों देखते और उसे पाने की तदबीर में कर्ज लेते फिरते हैं। भूल जाते हैं कि मानव-यंत्र विज्ञान के हर किसी यंत्र से ज्यादा अद्भूत और ज्यादा मूल्यवान है। उचित यह है कि हम राजनीति की भाषा के फेर से बाहर आकर आत्मनिष्ठा को जगाएं और स्वावलंबन को अपने बीच प्रतिष्ठित करें। तब समस्या का स्वरूप ही बदला हुआ दिखाई देगा। हो सकता है कि जिसकी चमक हमें चकाचौंध कर रही है वह सभ्यता और वह उन्नति हमें बौखलाई हुई दिखाई दे। तब यह भी हो सकता है कि हमारी निगाह में श्रमिक धनिक से मूल्यवान हो आए और प्रजा राजा से ऊपर दीखे।

सैनिक और देश की सुरक्षा

जिन फौजी लोगों को आप बेकार कहते हैं, वे वास्तव में बेकार नहीं हैं। उन्हें तो हमने अपने देश की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया है। अगर हम इन फौजियों पर इतना खर्च न करें तो जब कोई शत्रु देश हमारे ऊपर आक्रमण करेगा तो क्या हम मुंह ताकते रहेंगे? पाकिस्तान और चीन के आक्रमणों ने क्या इनकी सार्थकता सिद्ध नहीं की है?

—आप ठीक कह रहे हैं। लेकिन अभी मणिपुर के एक बंधु आए थे। बहुत वर्ष हुए मणिपुर गया तो देखा था कि बुनने-बनाने से लेकर फिर उन्हें बाजार में क्रय-विक्रय करने तक सब काम स्त्रियां करती हैं। पुरुष खाली गप-शप में लगे रहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि यह क्या बात है और क्या अब भी वही हालत है? उन्होंने कहा कि लगता है पहले चारों तरफ से खतरा रहता था और हमारे पूर्वजों को उस मुठभेड़ के लिए तैयार रहने और इस तरह अपनी जाति का बचाव करने के अतिरिक्त दूसरा काम न था। लेकिन अब तो मर्द लोग भी काम करने लगे हैं।

सैनिक से नागरिक प्रमुख

तो यह दुश्मनी रखने और दुश्मनों से निबटने का काम चाहे कम जरूरी न हो, पर वह सदा के लिए जरूरी नहीं रहने वाला है। रचनात्मक और सृजनात्मक तो वह है ही नहीं। एक देश के संदर्भ में वह काम बेशक बहुत महत्वपूर्ण है, लेकिन अब तो जल्दी ही विश्व का संदर्भ व्यवहार्य हो आने वाला है। तब उस तरह के सर्दारी काम की महिमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या कम होती न लगेगी ? अणु-अस्त्र बनने के बाद रूस देश ने अपने सैनिकों की संख्या में काफी कमी कर दी है। आखिर मानव व्यवस्था हमारी बिगड़ी है, इसीलिए तो यह सब जरूरी होता है। पर अंत में तो सैनिक से नागरिक को ही प्रमुख रहना है। नागरिक की रक्षा के निमित्त ही तो सैनिक की आवश्यकता और नियुक्ति है। तो क्या नागरिक के स्वयं समर्थ और व्यवस्था के समीचीन होते ही वैतनिक सैनिक बहुत अंशों में अनावश्यक न हो आएगा ?

फिर अब युद्ध उत्तरोत्तर दुर्वह होते जा रहे हैं। सिपाही वर्षों वर्ष अपनी सार्थकता के लिए हो सकता है कि प्रतीक्षा में ही रहें और युद्ध की संभावना आगे से आगे टलती चली जाए। अर्थात् सैनिक का सामान्य काम प्रतीक्षा में और तैयारी में रहना भर ही रह जाए।

मैं कहता हूं कि हमारी सभ्यता ने बहुत से फालतू काम आवश्यक और महत्वपूर्ण मान और बना रखे हैं। उनमें मानव शक्ति का अनर्थक व्यय हो रहा है। शरीर में शक्ति-सामर्थ्य रखते हुए भी लाखों-लाख बेरोजगार और भूखे-नंगे उसी कारण बनने के लिए बाध्य होते हैं। हमारी जीवन व्यवस्था के इस अभिशाप की तरफ ध्यान देने की आवश्यकता है। यही तो कह रहा हूं कि सब सुख-सुविधा में रहने वाला वर्ग अधिकांश वह है जो कुछ भी काम का काम नहीं करता है और फैशन बने चलते-पुरज़ेपन का महत्व बन जाने के कारण ही अपने लिए गौरव-गर्व प्राप्त करता रहता है।

तृतीय महायुद्ध : असंभव

अमरीका और वियतनाम, इजरायल और अरब, भारत और चीन तथा पाकिस्तान, चीन और रूस आदि विश्व के देशों में जो युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, उसे देखते हुए क्या आपको यह नहीं लगता कि जल्द ही तृतीय महायुद्ध छिड़ने वाला है।

—युद्ध शीत रूप में तो मौजूद है ही। 'बादल' कहकर हम शायद यही जतलाना चाहते हैं कि खुले घमासान में तो वह नहीं न उतरेगा। युद्ध अपने शीत रूप से आगे भी जाए बिना तो कैसे रहेगा। पर वह महायुद्ध का रूप ले, यह मुझे प्रश्नातीत जान पड़ता है। अण्वस्त्र की परिस्थिति को देखते हुए यह बहुत ही कम संभव है। शक्ति संतुलन में कोई गहरी दरार पड़े इससे पहले ही छुट-पुट युद्धों को निबटना पड़ जाएगा, विश्वयुद्ध की परिणति तक वह छेड़-छाड़ पहुंचने नहीं दी जाएगी।

महायुद्ध की असंभवप्रायता के कारण ही मुझको प्रतीत होता है कि चिंतकों को इस सभ्यता के मूलाधारों पर पुनर्विचार करना होगा। इतिहास अब तक युद्ध के उपाय से प्रश्नों को निबटाता आया है। दूसरी किसी पद्धति से निर्णय न हो सके तो युद्ध वाला निर्णय निश्चित और अंतिम बनता रहा है। लेकिन अब आगे यह संभव नहीं है। इसलिए युद्ध के विकल्प के संबंध में सोचना और उस दिशा में यत्न करना एकदम आवश्यक हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। इस यत्न में इस सभ्यता की मूल मान्यताओं का एकदम रूपांतरीकरण भी हो सकता है। बौद्धिकों में और युवकों में आज गंभीर असंतोष है। वह असंतोष किसी अभाव की परिस्थिति को लेकर नहीं है, बल्कि वह गहन और आभ्यन्तरिक है। पदार्थ की सम्पन्नता से अब एक ऊब हो निकली है। भौतिक समृद्धि अब कुछ देर बाद प्रेरणा के स्रोत का काम न दे पाएगी। तब उद्यम-व्यापार का आज का ढांचा लड़खड़ा आएगा और समाज-जीवन-व्यवस्था के जिस क्रम का इस सभ्यता में निर्माण हुआ है वह गलत दिखने लगेगा। नए मूल्य निर्माण में आएंगे और हो सकता है कि वह मशीन जो मनुष्य पर चढ़ बैठी है अपना सारा आतंक खो रहे, वह अधीन और नीची बन जाए और मानव आत्मा का दर्शन और महत्व नए सिरे से स्थापित हों।

बहरहाल युद्ध का अब वह स्थान नहीं रहेगा। अब तक तो शायद वह शीर्षबिंदु था जिसकी ओर समस्त जीवन एकाग्र बना खिंचता जा रहा था। सारा जीवन क्रम इसमें प्रतिस्पर्धात्मक बन चला था। उन्नति की ही धारणा तन्निष्ठ हो गई थी। यदि युद्ध अपने उस शीर्ष स्थान से च्युत हो जाता है तो समूचे जीवन क्रम पर उसका प्रभाव पड़ेगा और नए जीवन मूल्यों को उदय में आना होगा।

अगर ऐसा नहीं है, महायुद्ध होता ही है तो फिर सोचने की आवश्यकता कहां रहती है? तब तो सब एक साथ स्वाहा ही हो जाता है।

महायुद्ध की आशंका

पर वर्तमान में यह मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि तृतीय महायुद्ध की संभावना टल गयी है। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् 1939 तक निःशस्त्रीकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते रहे और दूसरी तरफ शस्त्रास्त्रों का निर्माण चलता रहा। परिणाम स्वरूप दूसरा महायुद्ध छिड़ा। आज भी ठीक वही नीति और स्थिति बरकरार है। एक तरफ तो निःशस्त्रीकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो रहे हैं और दूसरी तरफ अणवस्त्र बनाने की होड़ मची हुई है। क्या महायुद्धों का निर्माण और संचय तृतीय महायुद्ध की भूमिका नहीं है? यदि नहीं तो इन्हें शांति का प्रतीक भी नहीं कहा जा सकता।

—संभावना और शायद आवश्यकता युद्ध की ऊपर से और भीतर से सचमुच टली नहीं है, मात्र उसकी शक्यता असंभवप्राय हुई जा रही है। शस्त्र परिमाण, शस्त्र-नियंत्रण, निःशस्त्रीकरण आदि के सब प्रयत्न युद्ध की आवश्यकता को टालने के द्योतक हैं। वह उन प्रयत्नों की विफलता दिखलाती है कि आपसी भय, संशय और वैमनस्य गहरा है, इसलिए विस्फोट की आशंका भी भीतर गहरी है।

मैंने कहा कि युद्ध मनुष्य जाति के पास अब तक निर्णय के अंतिम उपाय और सहारे के रूप में पलता रहा है। अब तक मानव की सारी कर्म-परम्परा और प्रगति युद्ध की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता उपजाती और उस युद्ध के सहारे अपनी समस्या का अंतिम निबटारा पाती गयी है। युद्ध का एक तरह मानव की उन्नति में बड़े महत्व का योगदान भी रहा है। उसके दबाव के नीचे ही मुख्यत: विज्ञान का क्रमिक और त्वरित उत्कर्ष हो पाया है। यह पिछला महायुद्ध ही तो था जिसके नीचे अणुशक्ति के आविष्कार की प्रक्रिया में तीव्रता आती गयी। हिटलर के आदेश के अधीन अणु-भंजन का आविष्कार लगभग पूर्णता पर आ ही रहा था। अब भी शीत-युद्ध के तनाव के कारण अनेकानेक क्षेत्रों में वैज्ञानिक आविष्कारों की गति को क्षिप्रता मिल रही है।

वस्तु-विज्ञान और चित्-विज्ञान

किन्तु विज्ञान का विकास अब उस जगह आ पहुंचा है जहां वस्तु-विज्ञान और चित्ति-विज्ञान सर्वथा दो और अलग रहकर आगे नहीं चल सकते। वास्तविक और नैतिक का संगत अनिवार्य ही हो आया है। आत्मिक और जागतिक ये दो विमुख आयाम अब नहीं हैं। अणु और ब्रह्माण्ड दोनों एक रूप हैं। अर्थात् 'साइंस' के लिए अनिवार्य हो आया है कि वह 'ईथिक्स' की सुने, अणु के साथ अहिंसाका योग हो। अंश और अंश, खंड और खंड के बीच अहिंसा नीति की स्थापना नहीं हो सकी तो महानाश समक्ष है। अणुबम इधर है, और वही बम उधर भी है। दोनों एक दूसरे पर टूटते हैं, तो सोचिए क्या होता है। सब एक दम ध्वंस ही हो जाता है न? इसलिए दोनों ओर आवश्यकता है कि वे एक दूसरे पर टूटने की न सोचें, बल्कि एक दूसरे से युक्त बनें। इस अवस्था में अणु शक्ति के परस्पर योग और रचनात्मक उपयोग से यहां क्या काया पलट नहीं की जा सकती? रेगिस्तान उद्यान बन सकते हैं और ग्रह-तारामण्डल का वितान धरती का विस्तृत आंगन और परिवार बन आ सकता है।

अभी हम दो दिशाओं में चलते और बढ़ते आए थे। बाहर मैटर की अपनी बौद्धिक चेष्टा द्वारा हमने पीछा किया तो विज्ञान निष्पन्न हुआ। अंत में उस मैटर की इकाई को हमने ही तोड़ तक डाला। मैटर के ऐटम के मुकाबले दूसरी ओर चेतना के अहं की इकाई में हमने अवगाहन किया। उस दिशा में भी मालूम हुआ कि अपनी निजता में अहं पृथक और अंतिम सत्ता नहीं है, भीतर उसके व्याप्त आत्म-सत्ता निगूढ़ है।

राष्ट्र नहीं विश्व 'सावरेन'

जड़ और चेतन को परस्पर विरोधी मानकर हमारी बौद्धिक और आत्मिक साधनाएं अब तक चलती गयीं। वे विमुखताएं अब परस्पर सम्मुख आकर सत्य के ऐक्य में मिलती सी प्रतीत हो रही हैं।

युद्ध विरोध-वैमुख्य का द्योतक है। वह विमुखता मानव-दर्शन में अब प्रत्यक्षत: असिद्ध हुई जा रही है, अर्थात् युद्ध के नीचे से उसका आधार ही खिसका जा रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब दो बड़े राष्ट्र युद्ध पर जरा उतारू तो हो देखें। मालूम होगा कि दोनों ही एक क्षण में भस्म हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्र स्वयं में सर्वथा सावरेन हैं, इस धारणा में ही परिवर्तन आ रहा है। लगता है कि राष्ट्र नहीं सावरेन यदि है तो विश्व है। बल्कि उससे आगे नक्षत्र मंडल स्वयं इस प्रकार हमारे सामने खुला आ रहा है कि सावरेन अपने में धरती नाम का यह ग्रह भी नहीं रह जाता है। बल्कि ताराखचित इस समूचे ब्रह्मांड के बीच धरती उसके अकिंचित्कर कण के रूप में अपने को अनुभव कर अनोखी धन्यता और सार्थकता उपलब्ध कर सकती है। एक विराट् दर्शन मनुष्य को प्राप्त हो रहा है जिसमें विभुता का भाव अपने से उठकर चरम और परम सत्ता पर पहुंच जाता है!

इसलिए कहता हूं कि चाहे मानवजन्य परिस्थिति में आज कितनी भी नये महायुद्ध की सामग्री और बारूद भरी हो, पर इस महायुद्ध की अशक्यता का भान और भी घनिष्ट भाव से राष्ट्र-चित्त और मानव-चित्त में समाता जा रहा है।

राष्ट्र एक दूसरे के लिए धमकी और भय का कारण बनने में आज भी गर्व-गौरव का भाव अनुभव कर सकते हैं। पर आज के बाद जो कल आने वाला है उसमें यह राष्ट्राभिमान का भाव थोथा और झूठा पड़ जाएगा। मानव जाति के स्वास्थ्य का यह अभाव है जो उसके अवयवों को अपनी अहं चेतना से ग्रस्त बना देता है। कोई कारण नहीं कि हम समझें कि विश्व-मानव में एक-चित्तता का उदय नहीं ही होगा। मैं मानता हूं कि आज भी लक्षण हैं जो जताते हैं कि अपने बावजूद हम उस दिशा में बढ़ रहे हैं।

अमेरिका की ताकत कितनी अमित है। वियतनाम नन्हा सा देश है। अमरीकी ताकत क्यों उसका कुछ नहीं बिगाड़ पा रही है? क्यों वहां से वापिस आना उसे स्वीकार करना पड़ा है? क्यों उसके अमुबम इस विषय में व्यर्थ हुए जा रहे हैं? क्या इस सबसे स्पष्ट नहीं हो जाता कि स्थिति की विषमता स्वयं इस परिज्ञान को प्रत्यक्ष कर रही है कि युद्ध का उपाय, मात्र शक्ति का बलबूता,अब नहीं चलेगा, नहीं चलेगा। आदमी बनाम आदमी, वर्ग बनाम वर्ग, राष्ट्र बनाम राष्ट्र का नीति-दर्शन आगे के लिए अब बेकार हो गया है। आदमी को आदम के, वर्ग को वर्ग के और राष्ट्र को राष्ट्र के साथ अब सहयोग में आजाना होगा। त्राण का दूसरा मार्ग नहीं है।

120519

दर्शन यह अमोघ बनकर मानव चेतना में क्रम-क्रम से उतरता जा रहा है। व्यवहार की त्रुटियां हैं और रहेंगी। वहां रगड़-झगड़ भी चलेगी। तनाव सहसा समाप्त हो जाने वाले नहीं हैं। लेकिन इस अनुभूति से बचने का उपाय अब नहीं रह गया है कि दुनिया इकट्ठी हो आयी है और सब एक दूसरे के निकट और सुलभ हैं। इस अवस्था में हिंसा का अवलम्बन छोड़ना ही होगा। सहयोग की प्रणालियों के निर्माण से आरंभ करके अहिंसात्मक जीवन-दर्शन और जीवन व्यवहार के आलम्बन को निश्चय के साथ थाम लेना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIBRARY

22-3-2001

11.5.2001

11

5-16

15-6-2001

11.5.2001

Checked

11.5.2001

Compiled
2002-2003

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जैनेंद्र का सारा लेखन अभी भी बहुत सम्मोहक
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
है और बहुत सम्मोहक है। उनकी वह शैली जो चिंतन में दिखाई देती है उसका अनुसरण नहीं किया जा सकता। दरअसल जैनेंद्र एक निर्भीक व्यक्ति थे और उन्हें अपने असामान्य और अटपटे चिंतन से भी भय नहीं लगता था। यह आकस्मिक नहीं है कि लगभग आजीवन उन्होंने बोलकर लिखाया। इसके नुकसान है तो फायदे भी हैं। बोलचाल में जो प्रवाह बना रहता है, एक विचार से दूसरी अवधारणा तक जो आवाजाही रहती है वह कमरे में बंद होकर 'लोग क्या कहेंगे' का अहसास लिए हुए लिखने में नहीं है।

जैनेंद्र के चिंतन में जो विचारों और भाषा की जुगलबंदी है वैसा संगीत हिन्दी में उनके बाद शायद निर्मल वर्मा में ही है।

....किसी भी मसले पर जैनेन्द्र पिष्टपेषित शैली में नहीं सोचते। वे 'प्रेडिक्टेबुल' नहीं है। उनकी आस्तिकता का भी एक अलग तेवर है। लेकिन लगता यह है कि आज का हिन्दी लेखक और समीक्षक जिस चीज से सबसे ज्यादा घबराता है वह है निगाह और दिमाग को सामान्य से ज्यादा इस्तेमाल करना। जैनेन्द्र से बीसियों मसलों पर असहमत हुआ जा सकता है लेकिन उन्हें हम नजरअंदाज अपनी जोखिम पर ही कर सकते हैं।

बीसवीं सदी के साहित्य के हिन्दी गद्य में दो पितामह पुरुष हैं—प्रेमचंद और जैनेन्द्र। दोनों का असर आज तक हिन्दी साहित्य में चला आता है। जैनेंद्र प्रतिक्रियावादी या प्रतिगामी नहीं है बल्कि उनमें भारतीय समाज अपनी सारी द्वंद्वात्मकता के साथ उपस्थित है। आज यदि हम हिन्दी गद्य में चिंतन और विश्लेषण की एक ताकत देखते हैं तो उसके पीछे जैनेन्द्र भी है। सच तो यह है कि आज हिन्दी के पास दूसरा जैनेन्द्र या जैनेन्द्र का विकल्प कोई नहीं है।

विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

undation Chennai

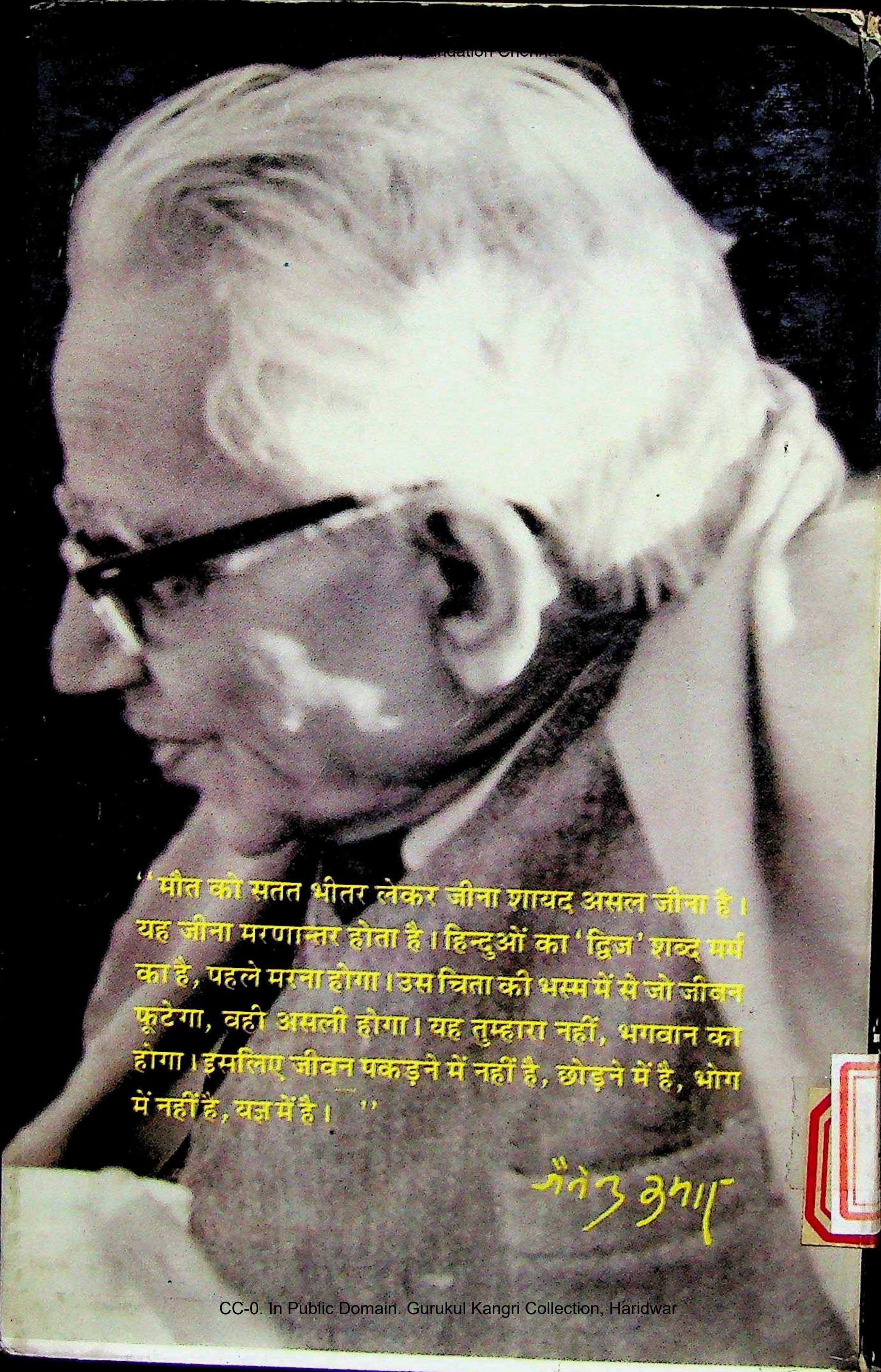

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar